સ્વ. પૂ. ભમાલો સંગ્રહ

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी
समारोह
के
अभिनन्दन में

०

प्रकाशक

मोतीलाल बैंगानी चेरिटेबल ट्रस्ट,

१/४ सी, खगेन्द्र चटर्जी रोड,

काशीपुर, कलकत्ता-२

०

प्रबन्धक

आदर्श साहित्य संघ

चूरू (राजस्थान)

०

जैन दर्शन ग्रन्थमाला

८ वाँ पुष्प

मुद्रक

रैफिल आर्ट प्रेस,

३१, बड़तल्ला स्ट्रीट,

कलकत्ता-७

०

प्रथम संस्करण

१०००

०

मूल्य

दस रुपए

०

प्रबन्ध-संपादक :

छगनलाल शास्त्री

○ पहला भाग ○

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व

(आचार्यश्री तुलसी द्वारा रचित 'जैन सिद्धान्त दीपिका' और 'भिक्षु न्याय कर्णिका' का संयुक्त अध्ययन)

मुनि नथमल

:: समर्पण ::

बीजात्मा और फलात्मा
के रूप में जिनका
ऐक्य सदा अव्यवच्छिन्न
रहा, उन परम पूजनीय
श्री कालूगणी
और
आचार्य श्री तुलसी
को

······मुनि नथमल

अपनी बात

'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' जो है, वह आचार्य श्री तुलसी द्वारा विरचित 'जैन सिद्धान्त दीपिका' और 'भिक्षु न्याय कर्णिका' का समग्र अध्ययन है। दस वर्ष पहले उक्त दोनों ग्रन्थों की टीका लिखने का अव्यक्त सा चिन्तन चल रहा था। कुछ मुनिवरों ने संस्कृत में टीका लिखने का सुझाव दिया और कुछ एक ने हिन्दी में। आखिर पुरानी परम्परा छोड़ी कैसे जा सकती है? जैन लेखक सदा युग की जन-भाषा के साथ रहे हैं। मैंने भाषा की दृष्टि से हिन्दी को ही चुना। शेष प्रश्न रहा शैली का। एक सूत्र और उसकी टीका—यह चिरंतन शैली है। विषय की विभागशः जानकारी के लिए यह बहुत ही उपयुक्त है। मैं इनका अध्ययन समग्र दृष्टि से चाहता था। इसलिए मैंने उस विभक्त शैली का परित्याग कर समग्रता की शैली को स्वीकार किया। दूसरे-दूसरे अनिवार्य कार्य में व्यस्त रहने के कारण मैं इसकी भाषा और प्रवाह का निर्वाह नहीं कर सका हूँ तथा विषय के अनुरूप मैंने भाषा को बदला भी है, इसलिए भाषा की विचित्रता प्रश्न नहीं बनेगी। विषय की लम्बाई के कारण भावों को पकड़ने में कठिनाई न हो, इस दृष्टि से कहीं कहीं पुनरुक्तियाँ भी की हैं, पर मेरा विश्वास है कि वे जिज्ञासु पाठकों को नहीं खलेंगी।

प्रस्तुत पुस्तक के पाँच खण्ड और ३१ अध्याय हैं। इनमें उक्त दोनों ग्रन्थों का सार है और कुछ विषय अतिरिक्त भी हैं। पहला खण्ड जैन तत्त्व-ज्ञान की प्राग्-ऐतिहासिक और ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि जानने के लिए है। अगले खण्डों में क्रमशः ज्ञान, प्रमाण, तत्त्व और आचार की मीमांसा है। अहिंसा जैनधर्म का प्राणभूत तत्त्व है। फिर भी इसमें उसकी विशद चर्चा इसलिए नहीं की है कि मैं 'अहिंसा तत्त्व दर्शन' में उसकी चर्चा विस्तार से कर चुका हूँ। जैन योग पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखने का विचार चल रहा है और जैन-साधना-पद्धति का क्रम 'विजय यात्रा' में आ चुका है, इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ में उक्त विषयों का लम्बा विवरण नहीं मिलेगा। फिर भी जैन दर्शन की

रूपरेखा जानने के लिए पाठक के मन में जो सामान्य जिज्ञासा होती है, उसका थोड़ा सा समाधान हो सकेगा।

आचार्य श्री का मार्ग-दर्शन और प्रेरणा मुझे सहज सुलभ रही है, इसे मैं अपना जन्मसिद्ध सौभाग्य ही मानता हूँ। कृतज्ञता-ज्ञापन में उसकी अनुभूति को व्यक्त कर सकूं—ऐसा मुझे नहीं लगता। इसमें प्रयुक्त ग्रन्थों के उद्धरण आदि लिखने में मुनि श्री शुभकरणजी और मुनि श्री श्रीचन्दजी का भी मुझे सहयोग मिला है। मुनि श्री दुलहराजजी का तो इसमें बहुत बड़ा सहयोग रहा है। मैं केवल रफ कापी का अधिकारी हूँ, शेष सारा कार्य उनका है। इसके लिखने में मेरी सफलता का अर्धांश उन्हीं का दाय है। जिन जिन पुस्तकों, पत्रों व लेखकों का सहयोग मिला है, उन सबका आभार मान लेता हूँ और मैं चाहता हूँ कि प्रस्तुत ग्रन्थ जैन दर्शन के आलोक की पहली किरण बने और शेष सहस्र किरणों की प्रतीक्षा सद्यः पूर्ण हो।

सं० २०१६, मिति वैशाख शुक्ला त्रयोदशी
श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा-भवन, —मुनि नथमल
कलकत्ता-१

प्रज्ञापना

जैन दर्शन जीवन-शुद्धि का दर्शन है। राग-द्वेष आदि बाह्य शत्रु, जो आत्मा को पराभूत करने के लिए दिन-रात कमर कसे अड़े रहते हैं, से जूझने के लिए यह एक अमोघ अस्त्र है। जीवन-शुद्धि के पथ पर आगे बढ़ने की आकांक्षा रखनेवाले पथिकों के लिए यह एक दिव्य पाथेय है। यही कारण है, जैन दर्शन जानने का अर्थ है—आत्म-मार्जन के विधि-क्रम को जानना, आत्म-चर्या की यथार्थ पद्धति को समझना।

जैन जगत् के महान् अधिनेता, ज्ञान और साधना के अप्रतिम धनी, महामहिम आचार्य श्री तुलसी के अन्तेवासी मुनि श्री नथमलजी द्वारा लिखा प्रस्तुत ग्रन्थ जैन दर्शन के मूलभूत तत्त्वों को अत्यन्त प्राञ्जल एवं प्रभावक रूप में सूक्ष्मता के साथ निरूपित करनेवाली एक अद्‌भुत कृति है। यह जनवन्द्य आचार्य श्री तुलसी द्वारा रचित 'जैन सिद्धान्त दीपिका' और 'भिक्षु न्याय कर्णिका' के संयुक्त अनुशीलन पर आधारित है।

मुनि श्री ने इसमें जैन दर्शन के प्रत्येक अंग का तलस्पर्शी विवेचन करते हुए अत्यन्त स्पष्ट एवं बोधगम्य रूप में उसे प्रस्तुत किया है। 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' निःसन्देह दार्शनिक जगत् के लिए मुनि श्री की एक अप्रतिम देन है।

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाशन का दायित्व मोतीलाल बेंगानी चेरिटेबल ट्रस्ट, कलकत्ता ने स्वीकार किया, यह अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है।

जैन धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन, जनवन्द्य आचार्य श्री तुलसी द्वारा सम्प्रवर्तित अणुव्रत आन्दोलन के नैतिक जागृतिमूलक आदर्शों का प्रचार एवं प्रसार ट्रस्ट के उद्देश्यों में से मुख्य हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन द्वारा ट्रस्ट ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति का जो प्रशस्त कदम उठाया है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

लोक-जीवन में सद्ज्ञान के संचार, जन-जन में नैतिक अभ्युदय की प्रेरणा तथा जन-सेवा का उद्देश्य लिये चलने वाले इस ट्रस्ट के संस्थापन द्वारा समाज के उत्साही युवक श्री हनुमानमलजी बेंगानी ने समाज के साधन-सम्पन्न व्यक्तियों के समक्ष एक अनुकरणीय कदम रखा है। इसके लिए उन्हें सादर धन्यवाद है।

आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान के अनुपम स्रोत इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व ग्रहण कर आदर्श साहित्य संघ, जो सत्साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार का ध्येय लिये कार्य करता आ रहा है, अत्यधिक प्रसन्नता अनुभव करता है।

'जैन-दर्शन के मौलिक तत्त्व' का यह पहला भाग है, जिसमें जैन परम्परा के इतिवृत्त, जैन-दर्शन के ज्ञान एवं प्रमाण भाग का यौक्तिक तथा हृदयग्राही विवेचन है।

आशा है, पाठक इससे आत्म-दर्शन की स्फूर्त प्रेरणा एवं सुगम पथ प्राप्त करेंगे।

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

सरदारशहर (राजस्थान)
आषाढ़ कृष्णा ६, २०१७.

मंगलाचरणम्

(१)

स्याद्वादसिन्धोर्नयनीरदाना--
मादेरथानादिगतान्वयानाम्।
श्रीवर्द्धमानस्य जिनस्य शस्यां
वाणीं वरेण्यां वरदां स्मरामि॥

(२)

परीक्षकाणां प्रवरो महात्मा,
भिक्षुर्दिदक्षुर्नयवर्त्म नित्यम्।
औत्पत्तिकीं बुद्धिमुपाददानो,
वैशद्यसिद्ध्यै भवताद् मतेर्मे॥

(३)

सुमहतां कृतिमाप्य वराकृतिं,
भवति नाम जनोऽप्यकृती कृती।
सुकृतिनस्तुलसीगणिनो हि ते,
विदधतामिह मां प्रयतं हिते॥

विषयानुक्रमणिका

पहला खण्ड

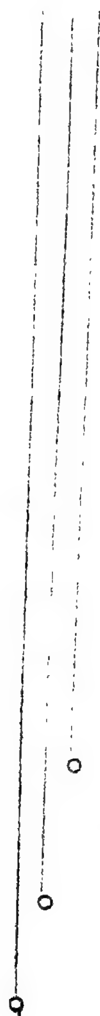
दूसरा खण्ड

तीसरा खण्ड

परिशिष्ट



पहला खण्ड



परम्परा और कालचक्र

एक

जैन संस्कृति का प्राग् ऐतिहासिक काल

सामूहिक परिवर्तन

विश्व के कई भागों में काल की अपेक्षा से जो सामूहिक परिवर्तन होता है, उसे 'क्रम-ह्रासवाद' या 'क्रम-विकासवाद' कहा जाता है। काल के परिवर्तन से कभी उन्नति और कभी अवनति हुआ करती है। उस काल के मुख्यतया दो भाग होते हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी।

अवसर्पिणी में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि पदार्थों की क्रमशः अवनति होती है।

उत्सर्पिणी में उक्त पदार्थों की क्रमशः उन्नति होती है। पर वह अवनति और उन्नति समूहापेक्षा से है, व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं।

अवसर्पिणी की चरम सीमा ही उत्सर्पिणी का प्रारम्भ है और उत्सर्पिणी का अन्त अवसर्पिणी का जन्म है। क्रमशः यह काल-चक्र चलता रहता है।

प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह-छह भाग होते हैं :—

(१) एकान्त-सुषमा
(२) सुषमा
(३) सुषम-दुःषमा
(४) दुःषम-सुषमा
(५) दुःषमा
(६) दुःषम-दुःषमा

ये छह अवसर्पिणी के विभाग हैं। उत्सर्पिणी के छह विभाग इस व्यतिक्रम से होते हैं :—

(१) दुःषम-दुःषमा
(२) दुःषमा
(३) दुःषम-सुषमा
(४) सुषम-दुःषमा
(५) सुषमा
(६) एकान्त-सुषमा

आज हम अवसर्पिणी के पांचवें पर्व—दुःषमा में जी रहे हैं। हमारे युग का जीवन-क्रम एकान्त-सुषमा से शुरू होता है। उस समय भूमि स्निग्ध थी। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अत्यन्त मनोज्ञ थे। मिट्टी का मिठास आज की चीनी से अनन्त-गुणा अधिक था। कर्म-भूमि थी किन्तु अभी कर्म-युग का प्रवर्तन नहीं हुआ था। पदार्थ अति स्निग्ध थे, इसलिए उस जमाने के लोग तीन दिन से थोड़ी-सी वनस्पति खाते और तृप्त हो जाते। खाद्य पदार्थ अप्राकृतिक नहीं थे। विकार बहुत कम थे, इसलिए उनका जीवन-काल बहुत लम्बा होता था। वे तीन पल्य तक जीते थे। अकाल मृत्यु कभी नहीं होती थी। वातावरण की अत्यन्त अनुकूलता थी। उनका शरीर तीन कोस ऊँचा होता था। वे स्वभाव से शान्त और सन्तुष्ट होते थे। यह चार कोड़ सागर का एकान्त सुखमय काल-विभाग बीत गया। तीन कोड़ाकोड़ सागर का दूसरा सुखमय भाग शुरू हुआ। इसमें भोजन दो दिन से होने लगा। जीवन-काल दो पल्य का हो गया और शरीर की ऊँचाई दो कोस की रह गई। इनकी कमी का कारण था भूमि और पदार्थों की स्निग्धता की कमी। काल और आगे बढ़ा। तीसरे सुख-दुखमय काल-विभाग में और कमी आ गई। एक दिन से भोजन होने लगा। जीवन का काल-मान एक पल्य हो गया और शरीर की ऊँचाई एक कोस की हो गई। इस युग की काल-मर्यादा थी एक कोड़ाकोड़ सागर। इसके अन्तिम चरण में पदार्थों की स्निग्धता में बहुत कमी हुई। सहज नियमन टूटने लगे, तब कृत्रिम व्यवस्था आई और इसी दौरान में कुलकर-व्यवस्था को जन्म मिला।

यह कर्म-युग के शैशव-काल की कहानी है। समाज-संगठन अभी हुआ नहीं था। यौगलिक व्यवस्था चल रही थी, एक जोड़ा ही सब कुछ होता था। न कुल था, न वर्ग और न जाति। समाज और राज्य की बात बहुत दूर थी। जन-संख्या कम थी। माता-पिता की मौत से दो या तीन मास पहले एक युगल जन्म लेता, वही दम्पति होता। विवाह-संस्था का उदय नहीं हुआ था। जीवन की आवश्यकताएं बहुत सीमित थीं। न खेती होती थी, न कपड़ा बनता था और न मकान बनते थे, उनके भोजन, वस्त्र और निवास के साधन कल्प-वृक्ष थे, शृंगार और आमोद-प्रमोद, विद्या, कला और विज्ञान का कोई नाम

नहीं जानता था। न कोई वाहन था और न कोई यात्री। गांव बसे नहीं थे। न कोई स्वामी था और न कोई सेवक। शासक और शासित भी नहीं थे। न कोई शोषक था और न कोई शोषित। पति-पत्नी या जन्य-जनक के सिवा सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु ही नहीं थी।

धर्म और उसके प्रचारक भी नहीं थे, उस समय के लोग सहज धर्म के अधिकारी और शान्त-स्वभाव वाले थे। चुगली, निन्दा, आरोप जैसे मनोभाव जन्मे ही नहीं थे। हीनता और उत्कर्ष की भावनाएं भी उत्पन्न नहीं हुई थीं। लड़ने झगड़ने की मानसिक ग्रन्थियाँ भी नहीं बनी थीं। वे शस्त्र और शास्त्र दोनों से अनजान थे।

अब्रह्मचर्य सीमित था, मारकाट और हत्या नहीं होती थी। न संग्रह था, न चोरी और न असत्य। वे सदा सहज आनन्द और शान्ति में लीन रहते थे।

काल-चक्र का पहला भाग (अर) बीता। दूसरा और तीसरा भी लगभग बीत गया।

सहज समृद्धि का क्रमिक ह्रास होने लगा। भूमि का रस चीनी से अनन्त-गुणा मीठा था, वह कम होने लगा। उसके वर्ण, गन्ध और स्पर्श की श्रेष्ठता भी कम हुई।

युगल मनुष्यों के शरीर का परिमाण भी घटता गया। तीन, दो और एक दिन के बाद भोजन करने की परम्परा भी टूटने लगी। कल्प-वृक्षों की शक्ति भी क्षीण हो चली।

यह यौगलिक व्यवस्था के अन्तिम दिनों की कहानी है।

कुलकर-व्यवस्था

असंख्य वर्षों के बाद नए युग का आरम्भ हुआ। यौगलिक व्यवस्था धीरे-धीरे टूटने लगी। दूसरी कोई व्यवस्था अभी जन्म नहीं पाई। संक्रान्ति-काल चल रहा था। एक ओर आवश्यकता-पूर्ति के साधन कम हुए तो दूसरी ओर जन-संख्या और जीवन की आवश्यकताएं कुछ बढ़ीं। इस स्थिति में आपसी संघर्ष और लूट-खसोट होने लगी। परिस्थिति की विवशता ने क्षमा; शान्ति,

सौम्य आदि सहज गुणों में परिवर्तन ला दिया। अपराधी मनोवृत्ति का बीज अंकुरित होने लगा।

अपराध और अव्यवस्था ने उन्हें एक नई व्यवस्था के निर्माण की प्रेरणा दी। उसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकास हुआ। लोग 'कुल' के रूप में संगठित होकर रहने लगे। उन कुलों का एक मुखिया होता, वह कुलकर कहलाता। उसे दण्ड देने का अधिकार होता। वह सब कुलों की व्यवस्था करता, उनकी सुविधाओं का ध्यान रखता और लूट-खसोट पर नियन्त्रण रखता—यह शासन-तन्त्र का ही आदि रूप था। सात या चौदह कुलकर आए। उनके शासन-काल में तीन नीतियों का प्रवर्तन हुआ। सबसे पहले "हाकार" नीति का प्रयोग हुआ। आगे चलकर वह असफल हो गई तब "माकार" नीति का प्रयोग चला। उसके असफल होने पर "धिक्कार" नीति चली।

उस युग के मनुष्य अति-मात्र ऋजु, मर्यादा-प्रिय और स्वयं शासित थे। खेद-प्रदर्शन, निषेध और तिरस्कार—ये मृत्यु-दण्ड से अधिक होते।

मनुष्य प्रकृति से पूरा भला ही नहीं होता और पूरा बुरा ही नहीं होता। उसमें भलाई और बुराई दोनों के बीज होते हैं। परिस्थिति का योग पा वे अंकुरित हो उठते हैं। देश, काल, पुरुषार्थ, कर्म और नियति की सह-स्थिति का नाम है परिस्थिति। वह व्यक्ति की स्वभाव गत वृत्तियों की उत्तेजना का हेतु बनती है। उससे प्रभावित व्यक्ति बुरा या भला बन जाता है।

जीवन की आवश्यकताएं कम थीं, उसके निर्वाह के साधन सुलभ थे। उस समय मनुष्य को संग्रह करने और दूसरों द्वारा अधिकृत वस्तु को हड़पने की बात नहीं सूझी। इनके बीज उसमें थे, पर उन्हें अंकुरित होने का अवसर नहीं मिला।

ज्यों ही जीवन की थोड़ी आवश्यकताएं बढ़ीं, उसके निर्वाह के साधन कुछ दुर्लभ हुए कि लोगों में संग्रह और अपहरण की भावना उभर आई। जब तक लोग स्वयं शासित थे, तब तक बाहर का शासन नहीं था। ज्यों-ज्यों स्वगत-शासन टूटता गया, त्यों-त्यों बाहरी शासन बढ़ता गया—यह कार्य-कारणवाद और एक के चले जाने पर दूसरे के विकसित होने की कहानी है।

विवाह-पद्धति

नाभि अन्तिम कुलकर थे। उनकी पत्नी का नाम था—'मरुदेवा'। उनके पुत्र का जन्म हुआ। उनका नाम रखा गया 'उसभ' या 'ऋषभ'। इनका शैशव बदलते हुए युग का प्रतीक था। युगल के एक साथ जन्म लेने और मरने की सहज-व्यवस्था भी शिथिल हो गई। उन्हीं दिनों एक युगल जन्मा, थोड़े समय बाद पुरुष चल बसा। स्त्री अकेली रह गई। इधर ऋषभ युवा हो गए। उनने परम्परा के अतिरिक्त उस कन्या को स्वयं ब्याहा—यहीं से विवाह-पद्धति का उदय हुआ। इसके बाद लोग अपनी सहोदरी के सिवा भी दूसरी कन्याओं से विवाह करने लगे।

समय ने करवट ली। आवश्यकता-पूर्ति के साधन सुलभ नहीं रहे। यौगलिकों में क्रोध, अभिमान, माया और लोभ बढ़ने लगे। हाकार, माकार और धिक्कार-नीतियों का उल्लंघन होने लगा। समर्थ शासक की मांग हुई।

कुलकर व्यवस्था का अन्त हुआ। ऋषभ पहले राजा बने। उन्होंने अयोध्या को राजधानी बनाया। गाँवों और नगरों का निर्माण हुआ। लोग अरण्य-वास से हट भवन-वासी बन गए। ऋषभ की क्रान्तिकारी और जन्म-जात प्रतिभा से लोग नए युग के निर्माण की ओर चल पड़े।

ऋषभदेव ने उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय—ये चार वर्ग स्थापित किए। आरक्षक वर्ग 'उग्र' कहलाया। मंत्री आदि शासन को चलाने वाले 'भोग', राजा के समस्थिति के लोग 'राजन्य' और शेष 'क्षत्रिय' कहलाए।

खाद्य-समस्या का समाधान

कुलकर युग में लोगों की भोजन-सामग्री थी—कन्द, मूल, पत्र, पुष्प और फल[1]। बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए कन्द आदि पर्याप्त नहीं रहे और वन-वासी लोग गृह-वासी होने लगे। तब अनाज खाना सीखा। वे पकाना नहीं जानते थे और न उनके पास पकाने का कोई साधन था। वे कच्चा अनाज खाते थे। समय बदला। कच्चा अनाज दुष्पाच्य हो गया। लोग ऋषभदेव के पास पहुँचे और अपनी समस्या का उनसे समाधान मांगा। ऋषभदेव ने अनाज को हाथों से घिसकर खाने की सलाह दी। लोगों ने वैसा ही किया। कुछ

समय बाद वह विधि भी असफल होने लगी। ऋषभदेव अग्नि की बात जानते थे। किन्तु वह काल एकान्त स्निग्ध था। वैसे काल में अग्नि उत्पन्न हो नहीं सकती। एकान्त स्निग्ध और एकान्त रूक्ष—दोनों काल अग्नि की उत्पत्ति के योग्य नहीं होते। समय के चरण आगे बढ़े। काल स्निग्ध-रूक्ष बना तब वृक्षों की टक्कर से अग्नि उत्पन्न हुई, वह फैली। बन जलने लगे। लोगों ने उस अपूर्व वस्तु को देखा और उसकी सूचना ऋषभदेव को दी। उनने पात्र-निर्माण और पाक-विद्या सिखाई। खाद्य-समस्या का समाधान हो गया।

अध्ययन और विकास

राजा ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाएं सिखाईं। बाहुबली को प्राणी की लक्षण-विद्या का उपदेश दिया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियों और सुन्दरी को गणित का अध्ययन कराया। धनुर्वेद, अर्थ-शास्त्र, चिकित्सा, क्रीड़ा-विधि आदि आदि का प्रवर्तन कर लोगों को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बना दिया।

अग्नि की उत्पत्ति ने विकास का स्रोत खोल दिया। पात्र, औजार, वस्त्र, चित्र आदि-आदि शिल्प का जन्म हुआ। अन्न-पाक के लिए पात्र-निर्माण आवश्यक हुआ। कृषि, गृह-निर्माण आदि के लिए औजार आवश्यक थे, इसलिए लोहकार-शिल्प का आरम्भ हुआ। वस्त्र-वृक्षों की कमी ने वस्त्र-शिल्प और गृहाकार कल्प-वृक्षों की कमी ने गृह-शिल्प को जन्म दिया।

नख, केश आदि काटने के लिए नापित-शिल्प (क्षौर-कर्म) का प्रवर्तन हुआ। इन पांचों शिल्पों का प्रवर्तन अग्नि की उत्पत्ति के बाद हुआ।

कृषिकार, व्यापारी और रक्षक-वर्ग भी अग्नि की उत्पत्ति के बाद बने। कहा जा सकता है—अग्नि ने कृषि के उपकरण, आयात-निर्यात के साधन और अस्त्र-शस्त्रों को जन्म दे मानव के भाग्य को बदल दिया[२]।

पदार्थ बढ़े, तब परिग्रह में ममता बढ़ी,[३] संग्रह होने लगा। कौटुम्बिक ममत्व भी बढ़ा[४]। लोकैषणा और धनैषणा के भाव जाग उठे।

राज्यतंत्र और दण्डनीति

कुलकर व्यवस्था में तीन दण्ड-नीतियां प्रचलित हुईं। पहले कुलकर

विमलवाहन के समय में 'हाकार' नीति का प्रयोग हुआ। उस समय के मनुष्य स्वयं अनुशासित और लज्जाशील थे। "हा! तूने यह क्या किया," ऐसा कहना गुरुतर दण्ड था।

दूसरे कुलकर चक्षुष्मान् के समय भी यही नीति चली।

तीसरे और चौथे—यशस्वी और अभिचन्द्र कुलकर के समय में छोटे अपराध के लिए 'हाकार' और बड़े अपराध के लिए 'माकार' (मत करो) नीति का प्रयोग किया गया।

पांचवें, छठे और सातवें—प्रश्रेणि, मरुदेव और नाभि कुलकर के समय में 'धिक्कार' नीति और चली। छोटे अपराध के लिए 'हाकार,' मध्यम अपराध के लिए 'माकार' और बड़े अपराध के लिए 'धिक्कार' नीति का प्रयोग किया गया।

अभी नाभि का नेतृत्व चल ही रहा था। युगलों को जो कल्पवृक्षों से प्रकृति-सिद्ध भोजन मिलता था, वह अपर्याप्त हो गया। जो युगल शान्त और प्रसन्न थे, उनमें क्रोध का उदय होने लगा। आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। 'धिक्कार' नीति का उल्लंघन होने लगा। जिन युगलों ने क्रोध, लड़ाई जैसी स्थितियां न कभी देखीं और न कभी सुनीं—वे इन स्थितियों से घबड़ा गए। वे मिले और ऋषभकुमार के पास पहुँचे और मर्यादा के उल्लंघन से उत्पन्न स्थिति का निवेदन किया। ऋषभ ने कहा—"इस स्थिति पर नियन्त्रण पाने के लिए राजा की आवश्यकता है।"

राजा कौन होता है?—युगलों ने पूछा।

ऋषभ ने राजा का कार्य समझाया। शक्ति के केन्द्रीकरण की कल्पना उन्हें दी। युगलों ने कहा—"हम में आप सर्वाधिक समर्थ हैं। आप ही हमारे राजा बनें।"

ऋषभकुमार बोले—"आप मेरे पिता नाभि के पास जाइये, उनसे राजा की याचना कीजिए। वे आपको राजा देंगे।" वे चले, नाभि को सारी स्थिति से परिचित कराया। नाभि ने ऋषभ को उनका राजा घोषित किया। वे प्रसन्न हो लौट गए[१]।

ऋषभ का राज्याभिषेक हुआ। उन्होंने राज्य-संचालन के लिए नगर

बसाया। वह बहुत विशाल था और उसका निर्माण देवों ने किया था। उसका नाम रखा विनीता—अयोध्या। ऋषभ राजा बने। शेष जनता प्रजा बन गई। वे प्रजा का अपनी सन्तान की भाँति पालन करने लगे।

असाधु लोगों पर शासन और साधु लोगों की सुरक्षा के लिए उन्होंने अपना मन्त्रि-मण्डल बनाया।

चोरी, लूट-खसोट न हो, नागरिक जीवन व्यवस्थित रहे—इसके लिए उन्होंने आरक्षक-दल स्थापित किया।

राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए उन्होंने चतुरंग सेना और सेनापतियों की व्यवस्था की[६]।

साम, दाम, भेद और दण्ड-नीति का प्रवर्तन किया[७]।

परिमाण—थोड़े समय के लिए नजरबन्द करना—क्रोधपूर्ण शब्दों में अपराधी को "यहीं बैठ जाओ" का आदेश देना।

मण्डल-बन्ध—नजरबन्द करना—नियमित क्षेत्र से बाहर जाने का आदेश देना।

चारक—कैद में डालना।

छविच्छेद—हाथ-पैर आदि काटना[८]।

ये चार दण्ड भरत के समय में चले। दूसरी मान्यता के अनुसार इनमें से पहले दो ऋषभ के समय में चले और अन्तिम दो भरत के समय[९]।

आवश्यक निर्युक्ति (गाथा २१७, २१८) के अनुसार बन्ध—(बेड़ी का प्रयोग) और घात—(डंडे का प्रयोग) ऋषभ के राज्य में प्रवृत्त हुए तथा मृत्यु-दण्ड भरत के राज्य में चला।

औषध को व्याधि का प्रतिकार माना जाता है—वैसे दण्ड अपराध का प्रतिकार माना जाने लगा[१०]। इन नीतियों में राज्यतन्त्र जमने लगा और अधिकारी चार भागों में बंट गए। आरक्षक-वर्ग के सदस्य 'उग्र', मन्त्रि-परिषद् के सदस्य 'भोग', परामर्शदात्री समिति के सदस्य या प्रान्तीय प्रतिनिधि 'राजन्य' और शेष कर्मचारी 'क्षत्रिय' कहलाए[११]।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी चुना। यह क्रम राज्यतन्त्र का अंग बन गया। यह युगों तक विकसित होता रहा।

धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन

कर्त्तव्य बुद्धि से लोक-व्यवस्था का प्रवर्तन कर ऋषभदेव राज्य करने लगे। बहुत लम्बे समय तक वे राजा रहे। जीवन के अन्तिम भाग में राज्य त्याग कर वे मुनि बने। मोक्ष-धर्म का प्रवर्तन हुआ। यौगलिक काल में क्षमा, सन्तोष आदि सहज धर्म ही था। हजार वर्ष की साधना के बाद भगवान् ऋषभदेव को कैवल्य-लाभ हुआ। साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका—इन चार तीर्थों की स्थापना की। मुनि-धर्म के पांच महाव्रत और गृहस्थ-धर्म के बारह व्रतों का उपदेश दिया। साधु-साध्वियों का संघ बना, श्रावक-श्राविकाएं भी बनीं।

साम्राज्य-लिप्सा और युद्ध का प्रारम्भ

भगवान् ऋषभदेव कर्म-युग के पहले राजा थे। अपने सौ पुत्रों को अलग-अलग राज्यों का भार सौंप वे मुनि बन गए। सबसे बड़ा पुत्र भरत था। वह चक्रवर्ती सम्राट् बनना चाहता था। उसने अपने ९९ भाइयों को अपने अधीन करना चाहा। सबके पास दूत भेजे। ९८ भाई मिले। आपस में परामर्श कर भगवान् ऋषभदेव के पास पहुंचे। सारी स्थिति भगवान् के सामने रखी। द्विविधा की भाषा में पूछा—भगवन् ! क्या करें? बड़े भाई से लड़ना नहीं चाहते और अपनी स्वतन्त्रता को खोना भी नहीं चाहते भाई भरत ललचा गया है। आपके दिये हुए राज्यों को वह वापिस लेना चाहता है। हम उससे लड़ें तो भ्रातृ-युद्ध की गलत परम्परा पड़ जाएगी। बिना लड़े राज्य सौंप दें तो साम्राज्य का रोग बढ़ जाएगा। परम पिता ! इस द्विविधा से उबारिए। भगवान् ने कहा—पुत्रों ! तुमने ठीक सोचा। लड़ना भी बुरा है और क्लीव बनना भी बुरा है। राज्य दो परों वाला पक्षी है। उसका मजबूत पर युद्ध है। उसकी उड़ान में पहले वेग होता है अन्त में थकान। वेग में से चिनगारियाँ उछलती हैं। उड़ाने वाले लोग उनसे जल जाते हैं। उड़ने वाला चलता-चलता थक जाता है। शेष रहती है निराशा और अनुताप। पुत्रों ! तुम्हारी समझ सही है। युद्ध बुरा है—विजेता के लिए भी और पराजित के लिए भी। पराजित अपनी सत्ता को गंवा कर पछताता है और विजेता कुछ नहीं पा कर पछताता है। प्रतिशोध की चिता जलाने वाला उसमें

स्वयं न जले—यह कभी नही होता। राज्य रूपी पक्षी का दूसरा पर दुर्बल है। वह है कायरता। मैं तुम्हें कायर बनने की सलाह भी कैसे दे सकता हूँ? पुत्रों! मैं तुम्हें ऐसा राज्य देना चाहता हूँ, जिसके साथ लड़ाई और कायरता की कड़ियाँ जुड़ी हुई नहीं हैं।

भगवान् की आश्वासन भरी वाणी सुन वे सारे के सारे खुशी से झूम उठे। आशा-भरी दृष्टि से एक टक भगवान् की ओर देखने लगे। भगवान् की भावना को वे नहीं पकड़ सके। भौतिक जगत् की सत्ता और अधिकारों से परे कोई राज्य हो सकता है—यह उनकी कल्पना में नहीं समाया। उनकी किसी विचित्र भू-खण्ड को पाने की लालसा तीव्र हो उठी। भगवान् इसीलिए तो भगवान् थे कि उनके पास कुछ भी नहीं था। उत्सर्ग की चरम रेखा पर पहुँचने वाले ही भगवान् बनते हैं। संग्रह के चरम बिन्दु पर पहुंच कोई भगवान् बना हो—ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

भगवान् ने कहा—संयम का क्षेत्र निर्बाध राज्य है। इसे लो। न तुम्हें कोई अधीन करने आयेगा और न वहाँ युद्ध और कायरता का प्रसंग है।

पुत्रों ने देखा पिता उन्हें राज्य त्यागने की सलाह दे रहे हैं। पूर्व कल्पना पर पटाक्षेप हो गया। अकल्पित चित्र सामने आया। आखिर वे भी भगवान् के बेटे थे। भगवान् के मार्ग-दर्शन का सम्मान किया। राज्य को त्याग स्वराज्य की ओर चल पड़े। इस राज्य की अपनी विशेषताएं हैं। इसे पाने वाला सब कुछ पा जाता है। राज्य की मोहकता तब तक रहती है, जब तक व्यक्ति स्व-राज्य की सीमा में नहीं चला आता। एक संयम के बिना व्यक्ति सब कुछ पाना चाहता है। संयम के आने पर कुछ भी पाए बिना सब कुछ पाने की कामना नष्ट हो जाती है।

त्याग शक्तिशाली अस्त्र है। इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। भरत का आक्रामक दिल पसीज गया। वह दौड़ा-दौड़ा आया। अपनी भूल पर पछतावा हुआ। भाइयों से क्षमा मांगी। स्वतन्त्रता पूर्वक अपना-अपना राज्य सम्हालने को कहा। किन्तु वे अब राज्य-लोभी सम्राट् भरत के भाई नहीं रहे थे। वे अकिञ्चन, जगत् के भाई बन चुके थे। भरत का भ्रातृ-प्रेम अब उन्हें नहीं ललचा सका। वे उसकी लालची आँखों को देख चुके थे। इसलिए उसकी

गीली आँखों का उन पर कोई असर नहीं हुआ। भरत हाथ मलते हुए घर लौट गया।

साम्राज्यवाद एक मानसिक प्यास है। वह उभरने के बाद सहसा नहीं बुझती। भरत ने एक-एक कर सारे राज्यों को अपने अधीन कर लिया। बाहुबलि को उसने नहीं छुआ। अट्ठानवें भाइयों के राज्य-त्याग को वह अब भी नहीं भूला था। अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। एकछत्र राज्य का सपना पूरा नहीं हुआ। असंयम का जगत् ही ऐसा है, जहाँ सब कुछ पाने पर भी व्यक्ति को अकिञ्चनता की अनुभूति होने लगती है।

क्षमा

दूत के मुंह से भरत का सन्देश सुन बाहुबलि की भृकुटि तन गई। दबा हुआ रोष उभर आया। कांपते ओठों से कहा—दूत ! भरत अब भी भूखा है ? अपने अट्ठानवें सगे भाइयों का राज्य हडप कर भी तृप्त नहीं बना। हाय ! यह कैसी हीन मनोदशा है। साम्राज्यवादी के लिए निषेध जैसा कुछ होता ही नहीं। मेरा बाहु-बल किससे कम है ? क्या मैं दूसरे राज्यों को नहीं हड़प सकता ? किन्तु यह मानवता का अपमान व शक्ति का दुरुपयोग और व्यवस्था का भंग है। मैं ऐसा कार्य नहीं कर सकता। व्यवस्था के प्रवर्तक हमारे पिता हैं। उनके पुत्रों को उसे तोड़ने में लज्जा का अनुभव होना चाहिए। शक्ति का प्राधान्य पशु-जगत् का चिह्न है। मानव-जगत् में विवेक का प्राधान्य होना चाहिए। शक्ति का सिद्धान्त पनपा तो बच्चों और बूढ़ों का क्या बनेगा ? युवक उन्हें चट कर जाएंगे। रोगी, दुर्बल और अपंग के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं रहेगा। फिर तो यह सारा विश्व रौद्र बन जाएगा। क्रूरता के साथी हैं, ज्वाला-स्फुलिंग, ताप और सर्वनाश। क्या मेरा भाई अभी-अभी समूचे जगत् को सर्वनाश की ओर ढकेलना चाहता है ? आक्रमण एक उन्माद है। आक्रान्ता उससे बेभान हो दूसरों पर टूट पड़ता है।

भरत ने ऐसा ही किया। मैं उसे चुप्पी साधे देखता रहा। अब उस उन्माद के रोगी का शिकार मैं हूँ। हिंसा से हिंसा की आग नहीं बुझती—यह मैं जानता हूँ। आक्रमण को मैं अभिशाप मानता हूँ। किन्तु आक्रमणकारी को सहूँ—यह मेरी तितिक्षा से परे है। तितिक्षा मनुष्य के उदात्त चरित्र

की विशेषता है। किन्तु उसकी भी एक सीमा है। मैंने उसे निभाया है। तोडने वाला समझता ही नहीं तो आखिर जोडने वाला कब तक जोड़े?

भरत की विशाल सेना 'बहली' की सीमा पर पहुँच गई। इधर बाहुबलि अपनी छोटी-सी सेना सजा आक्रमण को विफल करने आगया। भाई-भाई के बीच युद्ध छिड़ गया। स्वाभिमान और स्वदेश-रक्षा की भावना से भरी हुई बाहुबलि की छोटी-सी सेना ने सम्राट् की विशाल सेना को भागने के लिए विवश कर दिया। सम्राट् के सेनानी ने फिर पूरी तैयारी के साथ आक्रमण किया। दुबारा भी मुंह की खानी पड़ी। लम्बे समय तक आक्रमण और बचाव की लड़ाइयां होती रहीं। आखिर दोनों भाई सामने आ खड़े हुए। तादात्म्य आँखों पर छा गया। संकोच के घेरे में दोनो ने अपने आपको छिपाना चाहा, किन्तु दोनों विवश थे। एक के सामने साम्राज्य के सम्मान का प्रश्न था, दूसरे के सामने स्वाभिमान का। विनय और वात्सल्य की मर्यादा को जानते हुए भी रण-भूमि में उतर आये। दृष्टि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि पांच प्रकार के युद्ध निर्णीत हुए। उन सब में सम्राट् पराजित हुआ। विजयी हुआ बाहुबलि। भरत को छोटे भाई से पराजित होना बहुत चुभा। वह आवेग को रोक न सका। मर्यादा को तोड़ बाहुबलि पर चक्र का प्रयोग कर डाला। इस अप्रत्याशित घटना से बाहुबलि का खून उबल गया। प्रेम का स्रोत एक साथ ही सूख गया। बचाव की भावना से विहीन हाथ उठा तो सारे सन्न रह गए। भूमि और आकाश बाहुबलि की विरुदावलियों से गूंज उठे। भरत अपने अविचारित प्रयोग से लज्जित हो सिर झुकाए खड़ा रहा। सारे लोग भरत की भूल को भुला देने की प्रार्थना में लग गए।

एक साथ लाखों कण्ठों से एक ही स्वर गूंजा—"महान् पिता के पुत्र भी महान् होते हैं। सम्राट् ने अनुचित किया पर छोटे भाई के हाथ से बड़े भाई की हत्या और अधिक अनुचित कार्य होगा? महान् ही क्षमा कर सकता है। क्षमा करने वाला कभी छोटा नहीं होता। महान् पिता के महान् पुत्र! हमें क्षमा कीजिए, हमारे सम्राट् को क्षमा कीजिए।" इन लाखों कण्ठों की विनम्र स्वर-लहरियों ने बाहुबलि के शौर्य को मार्गान्तरित कर दिया। बाहुबलि ने अपने आपको सम्हाला। महान् पिता की स्मृति ने वेग का

शमन किया। उठा हुआ हाथ विफल नहीं लौटता। उसका प्रहार भरत पर नहीं हुआ। वह अपने सिर पर लगा। सिर के बाल उखाड़ फैंके और अपने पिता के पथ की ओर चल पड़ा।

विनय

बाहुबलि के पैर आगे नहीं बढ़े। वे पिता की शरण में चले गए पर उनके पास नहीं गए। अहंकार अब भी बच रहा था। पूर्व दीक्षित छोटे भाइयों को नमस्कार करने की बात याद आते ही उनके पैर रुक गए। वे एक वर्ष तक ध्यान-मुद्रा में खड़े रहे। विजय और पराजय की रेखाएं अनगिनत होती हैं। असंतोष पर विजय पाने वाले बाहुबलि अहं से पराजित हो गए। उनका त्याग और क्षमा उन्हें आत्म-दर्शन की ओर ले गए। उनके अहं ने उन्हें पीछे ढकेल दिया। बहुत लम्बी ध्यान-मुद्रा के उपरांत भी वे आगे नहीं बढ़ सके।

"ये पैर स्तब्ध क्यों हो रहे हैं? सरिता का प्रवाह रुक क्यों रहा है? इन चट्टानों को पार किए बिना साध्य पूरा होगा?" ये शब्द बाहुबलि के कानों को बींध हृदय को पार कर गए। बाहुबलि ने आँखें खोलीं। देखा, ब्राह्मी और सुन्दरी सामने खड़ी हैं। बहिनों की विनम्र-मुद्रा को देख उनकी आँखें झुक गईं। अवस्था से छोटे-बड़े की मान्यता एक व्यवहार है। वह सार्वभौम सत्य नहीं है। ये मेरे पैर गणित के छोटे से प्रश्न में उलझ गए। छोटे भाइयों को मैं नमस्कार कैसे करूं—इस तुच्छ चिन्तन में मेरा महान् साध्य विलीन हो गया। अवस्था लौकिक मानदण्ड है। लोकोत्तर जगत् में छुटपन और बड़प्पन के मानदण्ड बदल जाते हैं। वे भाई मुझसे छोटे नहीं हैं। उनका चारित्र विशाल है। मेरे अहं ने मुझे और छोटा बना दिया। अब मुझे अविलम्ब भगवान् के पास चलना चाहिए।

पैर उठे कि बन्धन टूट पड़े। नम्रता के उत्कर्ष में समता का प्रवाह बह चला। वे केवली बन गए। सत्य का साक्षात् ही नहीं हुआ, वे स्वयं सत्य बन गए। शिव अब उनका साध्य नहीं रहा, वे स्वयं शिव बन गए। आनन्द अब उनके लिए प्राप्य नहीं रहा, वे स्वयं आनन्द बन गए।

अनासक्त योग

भरत अब असहाय जैसा हो गया। भाई जैसा शब्द उसके लिए अर्थ-वान् नहीं रहा। वह सम्राट् बना रहा किन्तु उसका हृदय अब साम्राज्य-वादी नहीं रहा। पदार्थ मिलते रहे पर आसक्ति नहीं रही। वह उदासीन भाव से राज्य-संचालन करने लगा।

भगवान् अयोध्या आये। प्रवचन हुआ। एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—"भरत मोक्ष-गामी है।" एक सदस्य भगवान् पर बिगड़ गया और उन पर पुत्र के पक्षपात का आरोप लगाया। भरत ने उसे फांसी की सजा दे दी। वह घबड़ा गया। भरत के पैरों में गिर पड़ा और अपराध के लिए क्षमा मांगी। भरत ने कहा—तैल भरा कटोरा लिए सारे नगर में घूम आओ। तैल की एक बूंद नीचे न डालो तो तुम छूट सकते हो। दूसरा कोई विकल्प नहीं है।

अभियुक्त ने वैसा ही किया। बड़ी सावधानी से नगर में घूम आया और सम्राट् के सामने प्रस्तुत हुआ।

सम्राट् ने पूछा—नगर में घूम आए? जी, हाँ। अभियुक्त ने सफलता के भाव से कहा।

सम्राट्—नगर में कुछ देखा तुमने?

अभियुक्त—नहीं, सम्राट्! कुछ भी नहीं देखा।

सम्राट्—कई नाटक देखे होंगे?

अभियुक्त—जी, नहीं। मौत के सिवाय कुछ भी नहीं देखा।

सम्राट्—कुछ गीत तो सुने होंगे?

अभियुक्त—सम्राट् की साक्षी से कहता हूँ, मौत की गुनगुनाहट के सिवा कुछ भी नहीं सुना।

सम्राट्—मौत का इतना डर?

अभियुक्त—सम्राट् इसे क्या जाने? यह मृत्यु-दण्ड पाने वाला ही समझ सकता है।

सम्राट्—क्या सम्राट् अमर रहेगा? कभी नहीं। मौत के मुंह से कोई नहीं बच सकता, तुम एक जीवन की मौत से डर गए। न तुमने नाटक देखे और

न गीत सुने। मैं मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हूँ। यह साम्राज्य मुझे नहीं लुभा सकता।

सम्राट् की करुणापूर्ण आँखों ने अभियुक्त को अभय बना दिया। मृत्यु-दंड उसके लिए केवल शिक्षा-प्रद था। सम्राट् की अमरत्व-निष्ठा ने उसे मौत से सदा के लिए उबार लिया।

श्रामण्य की ओर

सम्राट् भरत नहाने को थे। स्नान-घर में गए, अंगूठी खोली। अंगुली की शोभा घट गई। फिर उसे पहना, शोभा बढ़ गई। पर पदार्थ से शोभा बढ़ती है, यह सौन्दर्य कृत्रिम है—इस चिन्तन में लगे और लगे सहज सौन्दर्य को ढूँढ़ने। भावना का प्रवाह आगे बढ़ा। कर्म-मल को धो डाला। क्षणों में ही मुनि बने, वीतराग बने और केवली बने। भावना की शुद्धि ने व्यवहार की सीमा तोड़ दी। न वेष बदला, न राज-प्रासाद से बाहर निकले, किन्तु इनका आन्तरिक संयम इनसे बाहर निकल गया और वे पिता के पथ पर चल पड़े।

ऋषभदेव के पश्चात्

काल का चौथा 'दुःख-सुखमय' चरण आया। बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ सागर तक रहा। इस अवधि में कर्म-क्षेत्र का पूर्ण विकास हुआ और धर्म-सम्प्रदाय भी बहुत फले-फूले। जैन धर्म के बीस तीर्थङ्कर और हुए, यह सारा दर्शन प्राग्-ऐतिहासिक युग का है। इतिहास अनन्त—अतीत की चरण-धूलि को भी नहीं छू सका है। वह पांच हजार वर्ष को भी कल्पना की आँख से देख पाता है।

सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना

बौद्ध साहित्य का जन्म-काल महात्मा बुद्ध के पहले का नहीं है। जैन साहित्य का विशाल भाग भगवान् महावीर के पूर्व का नहीं है। पर थोड़ा भाग भगवान् पार्श्व की परम्परा का भी उसीमें मिश्रित है, यह बहुत संभव है। भगवान् अरिष्टनेमि की परम्परा का साहित्य उपलब्ध नहीं है।

वेदों का अस्तित्व ५ हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। उपलब्ध-साहित्य श्रीकृष्ण के युग का उत्तरवर्ती है। इस साहित्यिक उपलब्धि द्वारा कृष्ण-युग तक का एक रेखा-चित्र खींचा जा सकता है। उससे पूर्व की स्थिति सुदूर अतीत में चली जाती है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर आंगिरस ऋषि थे[१२]।

जैन आगमों के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे[१३]। घोर आंगिरस ने श्रीकृष्ण को जो धारणा का उपदेश दिया है, वह विचार जैन-परम्परा से भिन्न नहीं है। तू अक्षित-अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और प्राण-संशित—अतिसूक्ष्मप्राण है। इस त्रयी को सुन कर श्रीकृष्ण अन्य विद्याओं के प्रति तृष्णा-हीन हो गए[१४]। वेदों में आत्मा की स्थिर मान्यता का प्रतिपादन नहीं है। जैन दर्शन आत्मवाद की भित्ति पर ही अवस्थित है[१५]। संभव है अरिष्टनेमि ही वैदिक साहित्य में आंगिरस के रूप में उल्लिखित हुए हों अथवा वे अरिष्टनेमि के ही विचारों से प्रभावित कोई दूसरे व्यक्ति हों।

कृष्ण और अरिष्टनेमि का पारिवारिक सम्बन्ध भी था। अरिष्टनेमि समुद्र-विजय और कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। समुद्रविजय और वसुदेव सगे भाई थे। कृष्ण ने अरिष्टनेमि के विवाह के लिए प्रयत्न किया[१६]। अरिष्टनेमि की दीक्षा के समय वे उपस्थित थे[१७]। राजिमती को भी दीक्षा के समय में उन्होंने भावुक शब्दों में आशीर्वाद दिया[१८]।

कृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमार ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली[१९]।

कृष्ण की ८ पत्नियां अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुईं[२०]। कृष्ण के पुत्र और अनेक पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने[२१]। अरिष्टनेमि के और कृष्ण के वार्तालापों, प्रश्नोत्तरों और विविध चर्चाओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं[२२]।

वेदों में कृष्ण के देव-रूप की चर्चा नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी कृष्ण के यथार्थ रूप का वर्णन है[२३]। पौराणिक काल में कृष्ण का रूप-परिवर्तन होता है। वे सर्व-शक्तिमान् देव बन जाते हैं। कृष्ण के यथार्थ-रूप का

वर्णन जैन आगमों में मिलता है[२४]। अरिष्टनेमि और उनकी वाणी से वे प्रभावित थे, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उस समय सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना का आलोक समूचे भारत को आलोकित कर रहा था।

दो

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष हैं। उनका तीर्थ-प्रवर्तन भगवान् महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ। भगवान् महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। भगवान् महावीर ने समय की मांग को पहचान पंच महाव्रत का उपदेश दिया। भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य भगवान् महावीर व उनके शिष्यों से मिले, चर्चाएं कीं और अन्ततः पंचयाम स्वीकार कर भगवान् महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हो गए।

धर्मानन्द कौसम्बी ने भगवान् पार्श्व के बारे में कुछ मान्यताएं प्रस्तुत की हैं[1] :—

"ज्यादातर पाश्चात्य पण्डितों का यह मत है कि जैनों के २३ वें तीर्थंकर पार्श्व ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उनके चरित्र में भी काल्पनिक बातें हैं। पर वे पहले तीर्थंकरों के चरित्र में जो बातें हैं, उनसे बहुत कम हैं। पार्श्व का शरीर ६ हाथ लम्बा था। उनकी आयु १०० वर्ष की थी। सोलह हजार साधु-शिष्य, अड़तीस हजार साध्वी-शिष्या, एक लाख चौंसठ हजार श्रावक तथा तीन लाख उनतालीस हजार श्राविकाएं इनके पास थीं। इन सब बातों में जो मुख्य ऐतिहासिक बात है, वह यह है कि चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान के जन्म के एक सौ अठहत्तर साल पहले पार्श्व तीर्थंकर का परिनिर्वाण हुआ।

वर्धमान या महावीर तीर्थंकर बुद्ध के समकालीन थे, इस बात को सब लोग जानते हैं। बुद्ध का जन्म वर्धमान के जन्म के कम से कम १५ साल बाद हुआ होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्ध का जन्म तथा पार्श्व तीर्थंकर का परिनिर्वाण इन दोनों में १९३ साल का अन्तर था। मरने के पूर्व लगभग ५० साल तो पार्श्व तीर्थंकर उपदेश देते रहे होंगे। इस प्रकार बुद्ध-जन्म के करीब दो सौ तैंतालीस वर्ष पूर्व पार्श्व मुनि ने उपदेश देने का काम शुरू किया। निर्ग्रन्थ श्रमणों का संघ भी पहले पहल उन्होंने स्थापन किया होगा।

ऊपर दिखाया जा चुका है कि परीक्षित का राज्य-काल बुद्ध से तीन शताब्दियों के पूर्व नहीं जा सकता[२]। परीक्षित के बाद जनमेजय गद्दी पर आया और उसने कुरु-देश में महायज्ञ कर वैदिक धर्म का झण्डा फहराया। इसी समय काशी-देश में पार्श्व एक नई संस्कृति की नींव डाल रहे थे। पार्श्व का जन्म वाराणसी नगर में अश्वसेन नामक राजा की वामा नामक रानी से हुआ। ऐसी कथा जैन ग्रन्थों में आई है[3]। उस समय राजा ही अधिकारी, जमींदार हुआ करता था। इसलिए ऐसे राजा के यह लड़का होना कोई असम्भव बात नहीं है। पार्श्व की नई संस्कृति काशी राज्य में अच्छी तरह टिकी रही होगी क्योंकि बुद्ध को भी अपने पहले शिष्यों को खोजने के लिए वाराणसी ही जाना पड़ा था।

पार्श्व का धर्म बिल्कुल सीधा साधा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह—इन चार बातों के त्याग करने का वे उपदेश देते थे[४]। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है।

सिनाई पर्वत पर मोजेस को ईश्वर ने जो दश आज्ञाएं (Ten Commandments) सुनाईं, उनमें हत्या मत करो, इसका भी समावेश था। पर उन आज्ञाओं को सुन कर मोजेस और उनके अनुयायी पेलेस्टाइन में घुसे और वहां खून की नदियां बहाईं। न जाने कितने लोगों को कत्ल किया और न जाने कितनी युवती स्त्रियों को पकड़ कर आपस में बांट लिया। इन बातों को अहिंसा कहना हो तो फिर हिंसा किसे कहा जाय? तात्पर्य यह है कि पार्श्व के पहले पृथ्वी पर सच्ची अहिंसा से भरा हुआ धर्म या तत्त्व-ज्ञान था ही नहीं।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होंने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इन तीनों नियमों के साथ जकड़ दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियों के आचरण तक ही थी और जनता के व्यवहार में जिसका कोई स्थान न था, वह अब इन नियमों के सम्बन्ध से सामाजिक एवं व्यावहारिक हो गई।

पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने संघ बनाए। बौद्ध साहित्य से इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के

समय जो संघ विद्यमान थे, उन सबों में जैन साधु और साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था।

पार्श्व के पहले ब्राह्मणों के बड़े-बड़े समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-याग का प्रचार करने के लिए ही थे। यज्ञ-याग का तिरस्कार कर उसका त्याग करके जंगलों में तपस्या करने वालों के संघ भी थे। तपस्या का एक अंग समझ कर ही वे अहिंसा धर्म का पालन करते थे पर समाज में उसका उपदेश नहीं देते थे। वे लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते थे।

बुद्ध के समय जो श्रमण थे, उनका वर्णन आगे किया जाएगा। यहाँ पर इतना ही दिखाना है कि बुद्ध के पहले यज्ञ-याग को धर्म मानने वाले ब्राह्मण थे और उसके बाद यज्ञ-याग से ऊब कर जंगलों में जाने वाले तपस्वी थे। बुद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे—ऐसी बात नहीं है। पर इन दो प्रकार के दोषों को देखने वाले तीसरे प्रकार के भी संन्यासी थे और उन लोगों में पार्श्व मुनि के शिष्यों को पहला स्थान देना चाहिए।"

जैन परम्परा के अनुसार चातुर्याम धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान् अजित-नाथ और अन्तिम प्रवर्तक भगवान् पार्श्वनाथ हैं। दूसरे तीर्थंकर से लेकर तेईसवें तीर्थंकर तक चातुर्याम धर्म का उपदेश चला। केवल भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया। निर्ग्रन्थ श्रमणों के संघ भगवान् ऋषभदेव से ही रहे हैं, किन्तु वे वर्तमान इतिहास की परिधि से परे हैं। इतिहास की दृष्टि से कौसम्बीजी की संघ-बद्धता सम्बन्धी धारणा सच भी है।

भगवान् महावीर

संसार जुआ है। उसे खींचने वाले दो बैल हैं—जन्म और मौत। संसार का दूसरा पार्श्व है—मुक्ति। वहाँ जन्म और मौत दोनों नहीं। वह अमृत है। वह अमरत्व की साधना का साध्य है। मनुष्य किसी साध्य की पूर्ति के लिए जन्म नहीं लेता। जन्म लेना संसार की अनिवार्यता है। जन्म लेने वाले में योग्यता होती है, संस्कारों का संचय होता है। इसलिए वह अपनी योग्यता के अनुकूल अपना साध्य चुन लेता है। जिसके जैसा विवेक, उसके

वैसा ही साध्य और वैसी ही साधना—यह एक तथ्य है। इसका अपवाद कोई नहीं होता। भगवान् महावीर भी इसके अपवाद नहीं थे।

जन्म और परिवार

दुषमा-सुषमा (चतुर्थअर) पूरा होने में ७४ वर्ष ११ महीने ७॥ दिन बाकी थे। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्र का महीना था। शुक्ला त्रयोदशी की मध्य-रात्रि की वेला थी। उस समय भगवान् महावीर का जन्म हुआ। यह ई० पूर्व ५९९ की बात है। भगवान् की माता त्रिशला क्षत्रियाणी और पिता सिद्धार्थ थे। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमणोपासक थे। भगवान् की जन्म-भूमि क्षत्रिय कुण्डग्राम नगर था। वैशाली, वाणिज्यग्राम, ब्राह्मण-कुण्डनगर क्षत्रिय-कुण्डग्राम—जन्मभूमि के बारे में तीन मान्यताएं हैं[५]।

१—श्वेताम्बर-मान्यता

"प्राचीन मान्यतानुसार लखीसराय स्टेशन से नैऋत्य दक्षिण में १८ मील सिकंदरा से दक्षिण में २ मील, नवादा से पूर्व में ३८ मील और जमुई से पश्चिम में १४ मील दूर नदी के किनारे लछवाड़ गाँव है, जो लिच्छवियों की भूमि थी। यहाँ जैन पाठशाला है और भगवान् महावीर स्वामी का मन्दिर भी। लछवाड़ से दक्षिण में ३ मील पर नदी किनारे कुंडेघाट है। वहाँ भगवान् महावीर के दीक्षा-स्थान पर दो जैन मन्दिर हैं और माथा तलहटी भी है। वहाँ से एक देवडा की, दो किंदुआ की, एक सकसकिया की और तीन चिकना की—ऐसी कुल सात पहाड़ी घाटियाँ हैं, जिन्हें पार करने पर ३ मील दूर 'जन्म-स्थान' नामक भूमि है। वहाँ भगवान् महावीर स्वामी का मन्दिर है। चिकना के चढ़ाव से पूर्व में ६ मील जाने पर लोधापानी नामक स्थान आता है। वहाँ शीतल जल का झरना है, पुराना पक्का कुआँ है, पुराने खंडहर हैं और टीला भी, जिसमें से पुरानी गजिया ईंटें मिलती हैं। वास्तव में यही भगवान् महावीर का 'जन्म-स्थान' है, जिसका दूसरा नाम 'क्षत्रियकुंड' है। किसी भी कारणवश क्यों न हो पर आज वहाँ पर कोई मन्दिर नहीं है बल्कि जहाँ मन्दिर है, वहाँ २५० वर्ष पहले भी वह था और उसके पूर्व में ३ कोस पर क्षत्रियकुंड-स्थान माना जाता था—यह उस समय की तीर्थ-भूमियों के उल्लेख

से बराबर जान सकते हैं। अर्थात् लोधापानी का स्थान ही असली क्षत्रिय-कुंड की भूमि है।"

२—दिगम्बर-मान्यता

कई बातों में दिगम्बर-संघ, श्वेताम्बर-संघ से बिलकुल अलग मत रखता है। वैसे ही कई एक तीर्थ-भूमियों के बारे में भी अपना अलग विचार रखता है। दिगम्बर सम्प्रदाय भगवान् महावीर का जन्म-स्थान कुँडपुर में मानता है पर उसका अर्थ 'कुँडलपुर' ही करते हैं। राजगृही व नालन्दा के पास आया कुँडलपुर ही उनकी वास्तविक जन्म-भूमि है।

श्वेताम्बर संघ इस कुँडलपुर को 'बडगाँव' के नाम से पहचानता है, जिसके दूसरे नाम गुब्बरगाँव (गुब्बर ग्राम) तथा कुँडलपुर हैं। संवत् १६६४ में यहाँ पर कुल १६ जिनालय थे, किन्तु आज केवल एक श्वेताम्बर जिनालय, धर्मशाला और उसके बीच का श्री गौतम स्वामी का पादुका-मन्दिर है।

दिगम्बर मान्यतानुसार नालन्दा स्टेशन से पश्चिम में २ मील पर आया कुँडलपुर ही भगवान् महावीर का जन्मस्थान—क्षत्रियकुण्ड है।

३—पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता

"पाश्चात्य संशोधक विद्वद्-वर्ग क्षत्रियकुण्ड के विषय में तीसरा ही मत रखता है। उनका कहना है कि वैशाली नगरी, जिसका वर्तमान में वेसाउपट्टी नाम है अथवा उसका उपनगर ही वास्तविक क्षत्रियकुण्ड है।

सर्व प्रथम उपरोक्त मान्यता को डा० हर्मन जैकोबी तथा डा० ए० एफ० आर० हॉर्नले आदि ने करार दिया तथा पुरातत्त्ववेत्ता पंडित श्री कल्याणविजयजी महाराज एवं इतिहास-तत्त्व-महोदधि आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरिजी ने एक स्वर से अनुमोदन किया। फलतः यह मत संशोधित रूप में अधिक विश्वसनीय बनता जा रहा है।"



कोल्लाग-सन्निवेश—ये उसके पार्श्ववर्ती नगर और गांव थे।

त्रिशला वैशाली गणराज्य के प्रमुख चेटक की बहन थी। सिद्धार्थ क्षत्रिय-कुण्ड ग्राम के अधिपति थे।

भगवान् के बड़े भाई का नाम नन्दिवर्धन था। उनका विवाह चेटक की

पुत्री ज्येष्ठा के साथ हुआ था[६]। भगवान् के काका का नाम सुपार्श्व और बड़ी बहन का नाम सुदर्शना था[७]।

नाम और गोत्र

भगवान् जब त्रिशला के गर्भ में आए, तब से सम्पदाएँ बढ़ीं, इसलिए माता-पिता ने उनका नाम वर्धमान रखा[८]। वर्धमान ज्ञात नामक क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए, इसलिए कुल के आधार पर उनका नाम ज्ञात-पुत्र हुआ[९]।

साधना के दीर्घकाल में उन्होंने अनेक कष्टों का वीर-वृत्ति से सामना किया। अपने लक्ष्य से कभी भी विचलित नहीं हुए। इसलिए उनका नाम महावीर हुआ[१०]। यही नाम सबसे अधिक प्रचलित है।

सिद्धार्थ कश्यप-गोत्रीयक्षत्रिय थे[११]। पिता का गोत्र ही पुत्र का गोत्र होता है। इसलिए महावीर कश्यप-गोत्रीय कहलाए।

यौवन और विवाह

बाल-क्रीड़ा के बाद अध्ययन का समय आता है। तीर्थंकर गर्भ-काल से ही अवधि-ज्ञानी होते हैं। महावीर भी अवधि-ज्ञानी थे[१२]। वे पढ़ने के लिए गए। अध्यापक जो पढ़ाना चाहता था, वह उन्हें ज्ञात था। आखिर अध्यापक ने कहा—आप स्वयं सिद्ध हैं। आपको पढ़ने की आवश्यकता नहीं।

यौवन आया। महवीर का विवाह हुआ। वे सहज विरक्त थे। विवाह करने की उनकी इच्छा नहीं थी। पर माता-पिता के आग्रह से उन्होंने विवाह किया[१३]।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे। श्वेताम्बर-साहित्य के अनुसार उनका विवाह क्षत्रिय-कन्या यशोदा के सात हुआ[१४] उनके प्रियदर्शना नाम की एक कन्या हुई[१५]। उसका विवाह सुदर्शना के पुत्र (अपने भानजे) जमालि के साथ किया[१६]।

उनके एक शेषवती (दूसरा नाम यशस्वती) नाम की दौहित्री—धेवती हुई[१७]। वे गृहस्थी में रहे पर उनकी वृत्तियाँ अनासक्त थीं।

महाभिनिष्क्रमण

वे जब २८ वर्ष के हुए तब उनके माता-पिता का स्वर्गवास होगया[१८]। उन्होंने तत्काल श्रमण बनना चाहा पर नन्दिवर्धन के आग्रह से वैसा हो न सका। उनने महावीर से घर में रहने का आग्रह किया। वे उसे टाल न सके। दो वर्ष तक फिर घर में रहे। यह जीवन उनका एकान्त-विरक्तिमय बीता। इस समय उन्होंने कच्चा जल पीना छोड़ दिया, रात्रि-भोजन नहीं किया और ब्रह्मचारी रहे[१९]।

३० वर्ष की अवस्था में उनका अभिनिष्क्रमण हुआ। वे अमरत्व की साधना के लिए निकल गए। आज से सब पाप-कर्म अकरणीय हैं—इस प्रतिज्ञा के साथ वे श्रमण बने[२०]।

शान्ति उनके जीवन का साध्य था। क्रान्ति था उसका सहचर परिणाम। उन्होंने बारह वर्ष तक शान्त, मौन और दीर्घ तपस्वी जीवन बिताया।

साधना और सिद्धि

जहाँ हित है, अहित है ही नहीं—ऐसा धर्म किसने कहा? जहाँ यथार्थवाद है, अर्थवाद है ही नहीं—ऐसा धर्म किसने कहा?

यह पूछा—श्रमणों ने, ब्राह्मणों ने, गृहस्थों ने और अन्यान्य दार्शनिकों ने जम्बू से और जम्बू ने पूछा—सुधर्मा से। यह प्रश्न अहित से तपे और अर्थवाद से ऊबे हुए लोगों का था।

जम्बू बोले—गुरुदेव! मेरी जिज्ञासाएं उभरती आ रही हैं। लोग भगवान् महावीर के धर्म को गहरी श्रद्धा से सुन रहे हैं। उनके जीवन के बारे में बड़े कुतूहल भरे प्रश्न पूछ रहे हैं। उनने मुझमें भी कुतूहल भर दिया है। मैं उनके जीवन का दर्शन चाहता हूँ। आपने उनको निकटता से देखा है, सुना है, निश्चय किया है, इसलिए मैं आपसे उनके ज्ञान, श्रद्धा और शील के बारे में कुछ सुनना चाहता हूँ।

सुधर्मा बोले—जम्बू! जिस धर्म से दूसरे लोगों को और मुझे महावीर के जीवन-दर्शन की प्रेरणा मिली है, उसका महावीर के पौद्गलिक जीवन से लगाव नहीं है।

आध्यात्मिक जगत् में ज्ञान, दर्शन, और शील की संगति ही जीवन है। भगवान् महावीर अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनी और खेदज्ञ थे—यह है उनके यशस्वी जीवन का दर्शन। जो दूसरों के खेद को नहीं जानता, वह अपने खेद को भी नहीं जानता। जो दूसरों की आत्मा में विश्वास नहीं करता, वह अपने आपमें भी विश्वास नहीं करता।

भगवान् महावीर ने आत्मा को आत्मा से तोला। वे आत्म-तुला के मूर्त्त-दर्शन थे। उनने खेद सहा, किन्तु किसी को खेद दिया नहीं। इसलिए वे खेदज्ञ थे। उनकी खेदज्ञता से धर्म का अजस्र प्रवाह बहा।

भगवान् महावीर का जीवन घटना-बहुल नहीं, तपस्या-बहुल है। वे दीर्घ तपस्वी थे। उनका जीवन दर्शन धर्म का दर्शन है। धर्म उनकी वाणी का प्रवाह नहीं है। वह उनकी साधना से फूटा है।

उनने देखा—ऊपर, नीचे और बीच में सब जगह जीव हैं। वे चल भी हैं और अचल भी। वे नित्य भी हैं और अनित्य भी। आत्मा कभी अनात्मा नहीं होती, इसलिए वह नित्य है। पर्याय का विवर्त्त चलता रहता है, इसलिए वह अनित्य है। जन्म और मौत उसीके दो पहलू हैं। दोनों दुःख हैं, दुःख का हेतु विषमता है। विषमता का बीज है—राग और द्वेष। भगवान् ने समता धर्म का निरूपण किया। उसका मूल है—वीतराग-भाव।

भगवान् ने सबके लिए एक धर्म कहा। बड़ों के लिए भी और छोटों के लिए भी।

भगवान् ने क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद आदि सभी वादों को जाना और फिर अपना मार्ग चुना[११]। वे स्वयं-सम्बुद्ध थे। भगवान् निर्ग्रन्थ बनते ही अपनी जन्म-भूमि से चल पड़े। हेमन्त ऋतु था। भगवान् के पास केवल एक देव-दूष्य वस्त्र था। भगवान् ने नहीं सोचा कि सर्दी में मैं यह वस्त्र पहनूँगा। वे कष्ट-सहिष्णु थे। तेरह महीनों तक वह वस्त्र भगवान् के पास रहा। फिर उसे छोड़ भगवान् पूर्ण अचेल हो गए। वे पूर्ण असंग्रही थे।

काटने वाले कीड़े भगवान् को चार महीने तक काटते रहे। लहू पीते और मांस खाते रहे। भगवान् अडोल रहे। वे क्षमा-शूर थे।

भगवान् प्रहर-प्रहर तक किसी लक्ष्य पर आंखे टिका ध्यान करते। उस समय गांव के बाल-बच्चे उधर से आ निकलते और भगवान् को देखते ही हल्ला मचाते, चिल्लाते। फिर भी वे स्थिर रहते। वे ध्यान-लीन थे।

भगवान् को प्रतिकूल कष्टों की भांति अनुकूल कष्ट भी सहने पड़ते। भगवान् जब कभी जनाकीर्ण बस्ती में ठहरते, उनके सौन्दर्य से ललचा अनेक ललनायें उनका प्रेम चाहतीं। भगवान् उन्हें साधना की बाधा मान उनसे परहेज करते। वे स्व-प्रवेशी (आत्म-लीन) थे।

साधना के लिए एकान्तवास और मौन—ये आवश्यक हैं। जो पहले अपने को न साधे, वह दूसरों का हित नहीं साध सकता। स्वयं अपूर्ण पूर्णता का मार्ग नहीं दिखा सकता।

भगवान् गृहस्थों से मिलना-जुलना छोड़ ध्यान करते, पूछने पर भी नहीं बोलते। लोग घेरा डालते तो वे दूसरी जगह चले जाते।

कई आदमी भगवान् का अभिवादन करते। फिर भी वे उनसे नहीं बोलते। कई आदमी भगवान् को मारते-पीटते, किन्तु उन्हें भी वे कुछ नहीं कहते। भगवान् वैसी कठोरचर्या—जो सबके लिए सुलभ नहीं है, में रम रहे थे।

भगवान् असह्य कष्टों को सहते। कठोरतम कष्टों की वे परवाह नहीं करते। व्यवहार-दृष्टि से उनका जीवन नीरस था। वे नृत्य और गीतों में जरा भी नहीं ललचाते। दण्ड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि लड़ाइयाँ देखने को उत्सुक भी नहीं होते।

सहज आनन्द और आत्मिक चैतन्य जागृत नहीं होता, तब तक बाहरी उपकरणों के द्वारा आमोद पाने की चेष्टा होती है। जिनके चैतन्य का पर्दा खुल जाता है, सहज सुख का स्रोत फूट पड़ता है—वे नीरस होते ही नहीं। वे सदा समरस रहते हैं। बाहरी साधनों के द्वारा अन्तर के नीरस भाव को सरस बनाने का यत्न करनेवाले भले ही उसका मूल्य न आंक सकें।

भगवान् स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा और राज-कथा में भाग नहीं लेते। उन्हें मध्यस्थ भाव से टाल देते। ये सारे कष्ट अनुकूल और प्रतिकूल, जो साधना के पूर्ण विराम हैं, भगवान् को लक्ष्य-च्युत नहीं कर सके।

भगवान् ने विजातीय तत्त्वों (पुद्गल-आसक्ति) को न शरण दी और न उनकी शरण ली। वे निरपेक्ष भाव से जीते रहे।

निरपेक्षता का आधार वैराग्य-भावना है। रक्त-द्विष्ट आत्मा के साथ अपेक्षाएं जुड़ी रहती हैं। अपेक्षा का अर्थ है—दुर्बलता। व्यक्ति का सबल और दुर्बल होने का मापदण्ड अपेक्षाओं की न्यूनाधिकता है।

भगवान् श्रमण बनने से दो वर्ष पहले ही अपेक्षाओं को ठुकराने लगे। सजीव पानी पीना छोड़ दिया, अपना अकेलापन देखने लग गए, क्रोध, मान, माया और लोभ की ज्वाला को शान्त कर डाला। सम्यग्-दर्शन का रूप निखर उठा। पौद्गलिक आस्थाएं हिल गईं।

भगवान् ने मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और चर जीवों का अस्तित्व जाना। उन्हें सजीव मान उनकी हिंसा से विलग हो गए।

अचर जीव दूसरे जन्म में चर और चर जीव दूसरे जन्म में अचर हो सकते हैं। राग-द्वेष से बंधे हुए सब जीव सब प्रकार की योनियों में जन्म लेते रहते हैं।

यह संसार रंग-भूमि है। इसमें जन्म-मौत का अभिनय होता रहता है। भगवान् ने इस विचित्रता का चिन्तन किया और वे वैराग्य की दृढ़ भूमिका पर पहुँच गए।

भगवान् ने संसार के उपादान को ढूंढ निकाला। उसके अनुसार उपाधि-परिग्रह से बंधे हुए जीव ही कर्म-बद्ध होते हैं। कर्म ही संसार-भ्रमण का हेतु है। वे कर्मों के स्वरूप को जान उनसे अलग हो गए। भगवान् ने स्वयं अहिंसा को जीवन में उतारा। दूसरों को उसका मार्ग-दर्शन दिया। वासना को सर्व कर्म-प्रवाह का मूल मान भगवान् ने स्त्री-संग छोड़ा।

अहिंसा और ब्रह्मचर्य—ये दोनों साधना के आधारभूत तत्त्व हैं। अहिंसा अवैर साधना है। ब्रह्मचर्य जीवन की पवित्रता है। अवैर भाव के बिना आत्म-साम्य की अनुभूति और पवित्रता के बिना विकास का मार्ग-दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए भगवान् ने उन पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से मनन किया।

भगवान् ने देखा—बन्ध कर्म से होता है। उनने पाप को ही नहीं, उसके मूल को ही उखाड़ फेंका।

भगवान् अपने लिए बनाया हुआ भोजन नहीं लेते। वे शुद्ध भिक्षा के द्वारा अपना जीवन चलाते। आहार का विवेक करना अहिंसा और ब्रह्मचर्य —इन दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जीव-हिंसा का हेतुभूत आहार जैसे सदोष होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य में बाधा डालने वाला आहार भी सदोष है। आहार की मीमांसा में अहिंसा-विशुद्धि के बाद ब्रह्मचर्य की विशुद्धि की ओर ध्यान देना सहज प्राप्त होता है। भगवान् आहार-पानी की मात्रा के जानकार थे। रस-गृद्धि से वे किनारा कसते रहे। वे जीमनवार में नहीं जाते और दुर्भिक्ष-भोजन भी नहीं लेते। उनने सरस भोजन का संकल्प तक नहीं किया। वे सदा अनासक्त और यात्रा-निर्वाह के लिए भोजन करते रहे। भगवान् ने अनासक्ति के लिए शरीर की परिचर्या को भी त्याग रखा था। वे खाज नहीं खनते। आंख को भी साफ नहीं करते। भगवान् संग-त्याग की दृष्टि से गृहस्थ के पात्र में खाना नहीं खाते और न उनके वस्त्र ही पहनते।

भगवान् का दृष्टि-संयम अनुत्तर था। वे चलते समय इधर-उधर नहीं देखते, पीछे नहीं देखते, बुलाने पर भी नहीं बोलते, सिर्फ मार्ग को देखते हुए चलते।

भगवान् प्रकृति-विजेता थे। वे सर्दी में नंगे बदन घूमते। सर्दी से डरे बिना हाथों को फैला कर चलते। भगवान् अप्रतिबन्धविहारी थे, परिव्राजक थे। बीच-बीच में शिल्प-शाला, सूना घर, झोंपड़ी, प्रपा, दुकान, लोहकार-शाला, विश्राम-गृह, आराम-गृह, श्मशान, वृक्ष-मूल आदि स्थानों में ठहरते। इस प्रकार भगवान् बारह वर्ष और साढ़े छह मास तक कठोर चर्या का पालन करते हुए आत्म-समाधि में लीन रहे। भगवान् साधना-काल में समाहित हो गए। अपने आप में समा गए। भगवान् दिन रात यतमान रहते। उनका अन्तःकरण सतत क्रियाशील या आत्मान्वेषी हो गया।

भगवान् अप्रमत्त बन गए। वे भय और दोषकारक प्रवृत्तियों से हट सतत जागरूक बन गए।

ध्यान करने के लिए समाधि (आत्म-लीनता या चित्त-स्वास्थ्य), यतना और जागरूकता—ये सहज अपेक्षित हैं। भगवान् ने आत्मिक वातावरण को ध्यान के अनुकूल बना लिया। बाहरी वातावरण पर विजय पाना व्यक्ति के

सामर्थ्य की बात है, उसे बदलना उसके सामर्थ्य से परे भी हो सकता है। आत्मिक वातावरण बदला जा सकता है। भगवान् ने इस सामर्थ्य का पूरा उपयोग किया। भगवान् ने नींद पर भी विजय पाली। वे दिन-रात का अधिक भाग खड़े रह कर ध्यान में बिताते। विश्राम के लिए थोड़े समय लेटते, तब भी नींद नहीं लेते। जब कभी नींद सताने लगती तो भगवान् फिर खड़े होकर ध्यान में लग जाते। कभी-कभी तो सर्दी की रातों में घड़ियों तक बाहर रह कर नींद टालने के लिए ध्यान-मग्न हो जाते।

भगवान् ने पूरे साधना-काल में सिर्फ एक मुहूर्त तक नींद ली। शेष सारा समय ध्यान और आत्म-जागरण में बीता।

भगवान् तितिक्षा की परीक्षा-भूमि थे। चंड-कौशिक सांप ने उन्हें काट खाया। और भी सांप, नेवले आदि सरीसृप जाति के जन्तु उन्हें सताते। पक्षियो ने उन्हें नोचा।

भगवान् को मौन और शून्य गृह-वास के कारण अनेक कष्ट झेलने पड़े। ग्राम-रक्षक, राजपुरुष और दुष्कर्मा व्यक्तियों का कोप-भाजन बनना पड़ा। उनने कुछ प्रसंगों पर भगवान् को सताया, यातना देने का प्रयत्न किया।

भगवान् अबहुवादी थे। वे प्रायः मौन रहते। आवश्यकता होने पर भी विशेष नहीं बोलते। एकान्तस्थान में उन्हें खड़ा देख लोग पूछते—तुम कौन हो? तब भगवान् कभी-कभी बोलते। भगवान् के मौन से चिढ़ कर वे उन्हें सताते। भगवान् क्षमा-धर्म को स्व-धर्म मानते हुए सब कुछ सह लेते। वे अपनी समाधि (मानसिक सन्तुलन या स्वास्थ्य) को भी नहीं खोते।

कभी-कभी भगवान् प्रश्नकर्ता को संक्षिप्त-सा उत्तर भी देते। मैं भिक्षु हूँ, यह कह कर फिर अपने ध्यान में लीन हो जाते।

देवों ने भी भगवान् को अछूता नहीं छोड़ा। उनने भी भगवान् को घोर उपसर्ग दिए। भगवान् ने गन्ध, शब्द और स्पर्श सम्बन्धी अनेक कष्ट सहे।

सामान्य बात यह है कि कष्ट किसी के लिए भी इष्ट नहीं होता। स्थिति यह है कि जीवन में कष्ट आते हैं। फिर वे प्रिय लगें या न लगें। कुछ व्यक्ति कष्टों को विशुद्धि के लिए वरदान मान उन्हें हंस-हंस झेल लेते हैं। कुछ व्यक्ति

अधीर हो जाते हैं। अधीर को कष्ट सहन करना पड़ता है, धीर कष्ट को सहते हैं।

साधना का मार्ग इससे भी और आगे है। वहाँ कष्ट निमंत्रित किये जाते हैं। साधनाशील उन्हें अपने भवन का दृढ़ स्तम्भ मानते हैं। कष्ट आने पर साधना का भवन गिर न पड़े, इस दृष्टि से वह पहले ही उसे कष्टों के खंभों पर खड़ा करता है। जो जान-बूझ कर कष्टों को न्यौता दे, उसे उनके आने पर अरति और न आने पर रति नहीं हो सकती। अरति और रति—ये दोनें साधना की बाधाएं हैं। भगवान् महावीर इन दोनों को पचा लेते थे। वे मध्यस्थ थे।

मध्यस्थ वही होता है, जो अरति और रति की ओर न झुके।

भगवान् तृण-स्पर्श को सहते। तिनकों के आसन पर नंगे बदन बैठते और लेटते और नंगे पैर चलते तब वे चुभते। भगवान् उनकी चुभन से घबरा कर वस्त्र-धारी नहीं बने।

भगवान् ने शीत-स्पर्श सहा। शिशिर में जब ठण्डी हवाएं फुंकारें मारतीं लोग उनके स्पर्शमात्र से कांप उठते; दूसरे साधु पवन-शून्य (निर्वात) स्थान की खोज में लग जाते; और कपड़ा पहनने की बात सोचने लग पाते; कुछ तापस धूनी तप सर्दी से बचते; कुछ लोग ठिठुरते हुए किवाड़ को बन्द कर विश्राम करते; वैसी कड़ी और असह्य सर्दी में भी भगवान् शरीर-निरपेक्ष होकर खुले बरामदों और कभी-कभी खुले द्वार वाले स्थानों में बैठ उसे सहते।

भगवान् ने आतापनाएं लीं। सूर्य के सम्मुख होकर ताप सहा। वस्त्र न पहनने के कारण मच्छर व क्षुद्र जन्तु काटते। वे उसे समभाव से सह लेते।

भगवान् ने साधना की कसौटी चाहीं। वे वैसे जनपदों में गए, जहाँ के लोग जैन साधुओं से परिचित नहीं थे[२२]। वहां भगवान् ने स्थान और आसन सम्बन्धी कष्टों को हंसते-हंसते सहा। वहाँ के लोग रूक्ष भोजी थे, इसलिए उनमें क्रोध की मात्रा अधिक थी। उसका फल भगवान् को भी सहना पड़ा। भगवान् वहाँ के लिए पूर्णतया अपरिचित थे, इसलिए कुत्ते भी उन्हें एक ओर से दूसरी ओर सुविधापूर्वक नहीं जाने देते। बहुत सारे कुत्ते भगवान् को घेर लेते। तब कुछ एक व्यक्ति ऐसे थे, जो उनको हटाते। बहुत से लोग ऐसे थे

जो कुत्तों को भगवान् को काटने के लिए प्रेरित करते। वहाँ जो दूसरे श्रमण थे, वे लाठी रखते, फिर भी कुत्तों के उपद्रव से मुक्त नहीं थे। भगवान् के पास अपने बचाव का कोई साधन नहीं था, फिर भी वे शान्तभाव से वहाँ घूमते रहे।

भगवान् का संयम अनुत्तर था। वे स्वस्थ दशा में भी अवमौदर्य करते (कम खाते), रोग होने पर भी वे चिकित्सा नहीं करते, औषध नहीं लेते। वे विरेचन, वमन, तैल-मर्दन, स्नान, दतौन आदि नहीं करते। उनका पथ इन्द्रिय के कांटों से अबाध था। कम खाना और औषध न लेना स्वास्थ्य के लिए हितकर है। भगवान् ने वह स्वास्थ्य के लिए नहीं किया। वे वही करते जो आत्मा के पक्ष में होता। उनकी सारी कठोरचर्या आत्म-लक्षी थी। अन्न-जल के बिना दो दिन, पक्ष, मास, छह मास बिताए। उत्कटुक, गोदोहिका आदि आसन किए, ध्यान किया, कषाय को जीता, आसक्ति को जीता, यह सब निरपेक्ष-भाव से किया। भगवान् ने मोह को जीता, इसलिए वे 'जिन' कहलाए। भगवान् की अप्रमत्त साधना सफल हुई।

ग्रीष्म ऋतु का वैशाख महीना था। शुक्ल दशमी का दिन था। छाया पूर्व की ओर ढल चुकी थी। पिछले पहर का समय, विजय मुहूर्त्त और उत्तराफाल्गुनी का योग था। उस वेला में भगवान् महावीर जंभियग्राम नगर के बाहर ऋजुबालिका नदी के उत्तर किनारे श्यामक गाथापति की कृषि-भूमि में व्यावृत नामक चैत्य के निकट, शाल-वृक्ष के नीचे 'गोदोहिका' आसन में बैठे हुए ईशानकोण की ओर मुंह कर सूर्य का आताप ले रहे थे।

दो दिन का निर्जल उपवास था। भगवान् शुक्ल ध्यान में लीन थे। ध्यान का उत्कर्ष बढ़ा। क्षपक श्रेणी ली। भगवान् उत्क्रान्त बन गए। उत्क्रान्ति के कुछ ही क्षणों में वे आत्म-विकास की आठ, नौ और दशवीं भूमिका को पार कर गए। बारहवीं भूमिका में पहुंचते ही उनके मोह का बन्धन पूर्णांशतः टूट गया। वे वीतराग बन गए। तेरहवीं भूमिका का प्रवेश-द्वार खुला। वहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के बन्धन भी पूर्णांशतः टूट पड़े।

भगवान् अब अनन्त-ज्ञानी, अनन्त-दर्शनी और अनन्त-वीर्य बन गए।

अब वे सर्व लोक के, सर्व जीवों के, सर्वभाव जानने-देखने लगे। उनका साधना-काल समाप्त हो चुका। अब वे सिद्धि-काल की मर्यादा में पहुँच गए[२३]। तेरहवें वर्ष के सातवें महीने में केवली बन गए।

तीर्थ-प्रवर्त्तन

भगवान् ने पहला प्रवचन देव-परिषद् में किया। देव अति विलासी होते हैं। वे व्रत और संयम स्वीकार नहीं करते। भगवान् का पहला प्रवचन निष्फल हुआ[२४]।

भगवान् जंभियग्राम नगर से विहार कर मध्यम पावापुरी पधारे। वहाँ सोमिल नामक ब्राह्मण ने एक विराट् यज्ञ का आयोजन कर रखा था। उस अनुष्ठान की पूर्ति के लिए वहाँ इन्द्रभूति प्रमुख ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे[२५]।

भगवान् की जानकारी पा उनमें पाण्डित्य का भाव जागा। इन्द्रभूति उठे। भगवान् को पराजित करने के लिए वे अपनी शिष्य-सम्पदा के साथ भगवान् के समवसरण में आये।

उन्हें कई जीव के बारे में सन्देह था। भगवान् ने उनके गूढ़ प्रश्न को स्वयं सामने ला रखा। इन्द्रभूति सहम गए। उन्हें सर्वथा प्रच्छन्न अपने विचार के प्रकाशन पर अचरज हुआ। उनकी अन्तर-आत्मा भगवान् के चरणों में झुक गई।

भगवान् ने उनका सन्देह-निवर्तन किया। वे उठे, नमस्कार किया और श्रद्धापूर्वक भगवान् के शिष्य बने। भगवान् ने उन्हें छह जीव-निकाय, पांच महाव्रत और पचीस भावनाओं का उपदेश दिया[२६]।

इन्द्रभूति गौतम गोत्री थे। जैन-साहित्य में इनका सुविश्रुत नाम गौतम है। भगवान् के साथ इनके सम्वाद और प्रश्नोत्तर इसी नाम से उपलब्ध होते हैं। वे भगवान् के पहले गणधर और ज्येष्ठ शिष्य बने। भगवान् ने उन्हें श्रद्धा का सम्बल और तर्क का बल दोनों दिए। जिज्ञासा की जागृति के लिए भगवान् ने कहा—"जो संशय को जानता है, वह संसार को जानता है, जो संशय को नहीं जानता, वह संसार को नहीं जानता[२७]।"

इसी प्रेरणा के फलस्वरूप उन्हें जब-जब संशय हुआ, कुतूहल हुआ, श्रद्धा

हुई, वे झट भगवान् के पास पहुंचे और उनका समाधान लिया[२८]।

तर्क के साथ श्रद्धा को सन्तुलित करते हुए भगवान् ने कहा—गौतम ! कई व्यक्ति प्रयाण की वेला में श्रद्धाशील होते हैं और अन्त तक श्रद्धाशील ही बने रहते हैं।

कई प्रयाण की वेला में श्रद्धाशील होते हैं किन्तु पीछे अश्रद्धाशील बन जाते हैं।

कई प्रयाण की वेला में सन्देहशील होते हैं किन्तु पीछे श्रद्धाशील बन जाते हैं।

जिसकी श्रद्धा असम्यक् होती है, उसमें अच्छे या बुरे सभी तत्त्व असम्यक् परिणत होते हैं।

जिसकी श्रद्धा सम्यक् होती है, उसमें सम्यक् या असम्यक् सभी तत्त्व सम्यक् परिणत होते हैं[२९]। इसलिए गौतम ! तू श्रद्धाशील बन। जो श्रद्धाशील है, वही मेधावी है।

इन्द्रभूति की घटना सुन दूसरे पंडितों का क्रम बंध गया। एक-एक कर वे सब आये और भगवान् के शिष्य बन गए। उन सबके एक-एक सन्देह था[३०]। भगवान् उनके प्रच्छन्न सन्देह को प्रकाश में लाते गए। और वे उसका समाधान पा अपने को समर्पित करते गए। इस प्रकार पहले प्रवचन में ही भगवान् की शिष्य-सम्पदा समृद्ध हो गई।

भगवान् ने इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान् शिष्यों को गणधर पद पर नियुक्त किया और अब भगवान् का तीर्थ विस्तार पाने लगा। स्त्रियों ने प्रव्रज्या ली। साध्वी-संघ का नेतृत्व चन्दनबाला को सौंपा। आगे चलकर १४ हजार साधु और ३६ हजार साध्वियाँ हुईं।

स्त्रियों को साध्वी होने का अधिकार देना भगवान् महावीर का विशिष्ट मनोबल था। इस समय दूसरे धर्म के आचार्य ऐसा करने में हिचकते थे। आचार्य बिनोवा भावे ने इस प्रसंग का बड़े मार्मिक ढंग से स्पर्श किया है—उनके शब्दों में—"महावीर के सम्प्रदाय में—स्त्री-पुरुषों का किसी प्रकार कोई भेद नहीं किया गया है। पुरुषों को जितने अधिकार दिये गए हैं, वे सब अधिकार बहनों को दिये गए थे। मैं इन मामूली अधिकारों की बात नहीं कहता हूँ, जो इन

दिनों चलता है और जिनकी चर्चा आजकल बहुत चलती है। उस समय ऐसे अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता भी महसूस नहीं हुई होगी। परन्तु मैं तो आध्यात्मिक अधिकारों की बात कर रहा हूँ।

पुरुषों को जितने आध्यात्मिक अधिकार मिलते हैं, उतने ही स्त्रियों को भी अधिकार हो सकते हैं। इन आध्यात्मिक अधिकारों में महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नहीं रखी, जिसके परिणाम-स्वरूप उनके शिष्यों में जितने श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणियाँ थीं। वह प्रथा आज तक जैन धर्म में चली आई है। आज भी जैन संन्यासिनी होती हैं। जैन धर्म में यह नियम है कि संन्यासी अकेले नहीं घूम सकते हैं। दो से कम नहीं, ऐसा संन्यासी और संन्यासिनियों के लिए नियम है। तदनुसार दो-दो बहनें हिन्दुस्तान में घूमती हुई देखते हैं। बिहार, मारवाड़, गुजरात, कोल्हापुर, कर्नाटक और तमिलनाड की तरफ इस तरह घूमती हुई देखने को मिलती है, यह एक बहुत बड़ी विशेषता माननी चाहिए।

महावीर के पीछे ४० ही साल के बाद गौतम बुद्ध हुए, जिन्होंने स्त्रियों को संन्यास देना उचित नहीं माना। स्त्रियों को संन्यास देने में धर्म-मर्यादा नहीं रहेगी, ऐसा अन्दाजा उनको था। लेकिन एक दिन उनका शिष्य आनन्द एक बहन को ले आया और बुद्ध भगवान् के सामने उसे उपस्थित किया और बुद्ध भगवान् से कहा कि "यह बहन आपके उपदेश के लिए सर्वथा पात्र है, ऐसा मैंने देख लिया है। आपका उपदेश अर्थात् संन्यास का उपदेश इसे मिलना चाहिए।" तो बुद्ध भगवान् ने उसे दीक्षा दी और बोले कि—"हे आनन्द, तेरे आग्रह और प्रेम के लिए यह काम मैं कर रहा हूँ। लेकिन इससे अपने सम्प्रदाय के लिए एक बड़ा खतरा मैंने उठा लिया है।" ऐसा वाक्य बुद्ध भगवान् ने कहा और वैसा परिणाम बाद में आया भी। बौद्धों के इतिहास में बुद्ध को जिस खतरे का अन्देशा था, वह पाया जाता है। यद्यपि बौद्ध धर्म का इतिहास पराक्रमशाली है। उसमें दोष होते हुए भी वह देश के लिए अभिमान रखने के लायक है। लेकिन जो डर बुद्ध को था, वह महावीर को नहीं था, यह देखकर आश्चर्य होता है। महावीर निडर दीख पड़ते हैं। इसका मेरे मन पर बहुत असर है। इसीलिए मुझे महावीर की तरफ विशेष

आकर्षण है। बुद्ध की महिमा भी बहुत है। सारी दुनिया में उनकी करुणा की भावना फैल रही है, इसीलिए उनके व्यक्तित्व में किसी प्रकार की न्यूनता होगी, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। महापुरुषों की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ होती हैं, लेकिन कहना पड़ेगा कि गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका छू सकी और महावीर को व्यावहारिक भूमिका छू नहीं सकी। उन्होंने स्त्री-पुरुषों में तत्त्वतः भेद नहीं रखा। वे इतने दृढ़प्रतिज्ञ रहे कि मेरे मन में उनके लिए एक विशेष ही आदर है। इसी में उनकी महावीरता है।

रामकृष्ण परमहंस के सम्प्रदाय में स्त्री सिर्फ एक ही थी और वह थी श्री शारदा देवी, जो रामकृष्ण परमहंस की पत्नी थीं और नाममात्र की ही पत्नी थी। वैसे तो वह उनकी माता ही हो गई थी और सम्प्रदाय के सभी भाइयों के लिए वह मातृ-स्थान में ही थी। परन्तु उनके सिवा और किसी स्त्री को दीक्षा नहीं दी गई थी।

महावीर स्वामी के बाद २५०० साल हुए, लेकिन हिम्मत नहीं हो सकती थी कि बहनों को दीक्षा दे। मैंने सुना कि चार साल पहले रामकृष्ण परमहंस-मठ में स्त्रियों को दीक्षा दी जाय—ऐसा तय किया गया। स्त्री और पुरुषों का आश्रम अलग रखा जाय, यह अलग बात है। लेकिन अब तक स्त्रियों को दीक्षा ही नहीं मिलती थी, वह अब मिल रही है। इस पर से अंदाज लगता है कि महावीर ने २५०० साल पहले उसे करने में कितना बड़ा पराक्रम किया [३१]।

गृहस्थ उपासक और उपासिकाएं, श्रावक और श्राविकाएं कहलाए। आनन्द आदि १० प्रमुख श्रावक बने। ये बारह व्रती थे। इनकी जीवन-चर्या का वर्णन करने वाला एक अंग (उपासक दशा) है। जयन्ती आदि श्राविकाएं थीं, जिनके प्रौढ़ तत्त्व-ज्ञान की सूचना भगवती से मिलती है [३२]। धर्म-आराधना के लिए भगवान् का तीर्थ सचमुच तीर्थ बन गया। भगवान् ने तीर्थ चतुष्टय (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) की स्थापना की, इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए।

श्रमण-संघ-व्यवस्था

भगवान् ने श्रमण-संघ की बहुत ही सुदृढ़ व्यवस्था की। अनुशासन की

दृष्टि से भगवान् का संघ सर्वोपरि था। पाँच महाव्रत और व्रत—ये मूल गुण थे। इनके अतिरिक्त उत्तर गुणों की व्यवस्था की। विनय, अनुशासन और आत्म-विजय पर अधिक बल दिया। व्यवस्था की दृष्टि से श्रमण-संघ को ११ या ६ भागों में विभक्त किया[३३]। पहले सात गणधर सात गणों के और आठवें, नवें तथा दशवें, इग्यारहवें क्रमशः आठवें और नवें गण के प्रमुख थे।

गणों की सारणा-वारणा और शिक्षा-दीक्षा के लिए पद निश्चित किए। (१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) प्रवर्त्तक (५) गणी (६) गणधर (७) गणावच्छेदक।

सूत्र के अर्थ की वाचना देना और गण का सर्वोपरि संचालन का कार्य आचार्य के जिम्मे था।

सूत्र की वाचना देना, शिक्षा की वृद्धि करना उपाध्याय के जिम्मे था।

श्रमणों को संयम में स्थिर करना, श्रामण्य से डिगते हुए श्रमणों को पुनः स्थिर करना, उनकी कठिनाइयों का निवारण करना स्थविर के जिम्मे था।

आचार्य द्वारा निर्दिष्ट धर्म-प्रवृत्तियों तथा सेवा-कार्य में श्रमणों को नियुक्त करना प्रवर्त्तक का कार्य था।

श्रमणों के छोटे-छोटे समूहों का नेतृत्व करना गणी का कार्य था।

श्रमणों की दिनचर्या का ध्यान रखना—गणधर का कार्य था।

धर्म-शासन की प्रभावना करना, गण के लिए विहार व उपकरणों की खोज तथा व्यवस्था करने के लिए कुछ साधुओं के साथ संघ के आगे-आगे चलना, गण की सारी व्यवस्था की चिन्ता करना गणावच्छेदक का कार्य था[३४]। इनकी योग्यता के लिए विशेष मानदण्ड स्थिर किए। इनका निर्वाचन नहीं होता था। ये आचार्य द्वारा नियुक्त किए जाते थे। किन्तु स्थविरों की सहमति होती थी[३५]।

निर्वाण

भगवान् तीस वर्ष की अवस्था में श्रमण बने। साढ़े बारह वर्ष तक तपस्वी जीवन बिताया। तीस वर्ष तक धर्मोपदेश किया। भगवान् ने काशी, कोशल, पंचाल, कलिंग, कम्बोज, कुरु-जांगल, बाह्लीक, गाँधार, सिंधु-सौवीर आदि देशों में विहार किया।

भगवान् के चौदह हजार साधु और ३६ हजार साध्वियाँ बनीं। नन्दी के अनुसार भगवान् के चौदह हजार साधु प्रकीर्णकार थे[३६]। इससे जान पड़ता है, सर्व साधुओं की संख्या और अधिक हो। १ लाख ५६ हजार श्रावक[३७] और ३ लाख १८ हजार श्राविकाएं थीं[३८]। यह व्रती श्रावक-श्राविकाओं की संख्या प्रतीत होती है। जैन धर्म का अनुगमन करने वालों की संख्या इससे अधिक थी, ऐसा सम्भव है। भगवान् के उपदेश का समाज पर व्यापक प्रभाव हुआ। उनका क्रान्ति-स्वर समाज के जागरण का निमित्त बना। उसका विवरण इसी खण्ड के अन्तिम अध्याय में मिल सकेगा। वि० पू० ४७० (ई० पू० ५२७) पावापुर में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ।

उत्तरवर्ती संघ-परम्परा

भगवान् के निर्वाण के पश्चात् सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी—ये दो आचार्य केवली हुए। प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतिविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र—ये छह आचार्य 'श्रुत-केवली' हुए[३९]।

(१) महागिरि (२) सुहस्ती (३) गुणसुन्दर (४) कालकाचार्य (५) स्कन्दिलाचार्य (६) रेवतिमित्र (७) मंगु (८) धर्म (९) चन्द्रगुप्त (१०) आर्य-वज्र—ये दश पूर्वधर हुए।

तीन प्रधान परम्पराए :—

(१) गणधर-वंश

(२) वाचक-वंश—विद्याधर-वंश

(३) युग-प्रधान

आचार्य सुहस्ती तक के आचार्य गणनायक और वाचनाचार्य दोनों होते थे। वे गण की सार सम्हाल और गण की शैक्षणिक व्यवस्था—इन दोनों के उत्तरदायित्वों को निभाते थे। आचार्य सुहस्ती के बाद ये कार्य विभक्त हो गए। चारित्र की रक्षा करने वाले 'गणाचार्य' और श्रुतज्ञान की रक्षा करने वाले 'वाचनाचार्य' कहलाए। गणाचार्यों की परम्परा (गणधरवंश) अपने २ गण के गुरु-शिष्य क्रम से चलती है। वाचनाचार्यों और युग-प्रधानों की परम्परा एक ही गण से सम्बन्धित नहीं है। जिस किसी भी गण या शाखा में

एक के बाद दूसरे समर्थ वाचनाचार्य व युग-प्रधान आचार्य हुए हैं, उनका क्रम जोड़ा गया है।

आचार्य सुहस्ती के बाद भी कुछ आचार्य गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों हुए हैं। जो आचार्य विशेष लक्षण-सम्पन्न और अपने युग में सर्वोपरि प्रभावशाली हुए, उन्हें युग-प्रधान माना गया। वे गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों में से हुए हैं।

हिमवंत की स्थविरावलि के अनुसार वाचक-वंश या विद्याधर वंश की परम्परा इस प्रकार है [४०] :—

(१) आचार्य सुहस्ती
(२) आर्य बहुल और बलिसह
(३) आचार्य (उमा) स्वाति
(४) आचार्य श्यामाचार्य
(५) आचार्य सांडिल्य या स्कन्दिल (वि० सं० ३७६ से ४१४ तक युग-प्रधान)
(६) आचार्य समुद्र
(७) आचार्य मंगुसूरि
(८) आचार्य नन्दिलसूरि
(९) आचार्य नागहस्तीसूरि
(१०) आचार्य रेवतिनक्षत्र
(११) आचार्य सिंहसूरि
(१२) आचार्य स्कन्दिल (वि० सं० ८२६ वाचनाचार्य)
(१३) आचार्य हिमवन्त क्षमाश्रमण
(१४) आचार्य नागार्जुनसूरि
(१५) आचार्य भूतदिन्न
(१६) आचार्य लोहित्यसूरि
(१७) आचार्य दुष्यगणी (नन्दी सूत्र में इतने ही नाम हैं)
(१८) आचार्य देववाचक (देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण)
(१९) आचार्य कालिकाचार्य (चतुर्थ)
(२०) आचार्य सत्यमित्र (अन्तिम पूर्वविद्)

: दुस्सम-काल-समण-संघत्थव और विचार-श्रेणी के अनुसार 'युग-प्रधान-पट्टावली' और समय :—

(१) आचार्यों के नाम	समय (वीर निर्वाण से)
१—गणधर सुधर्मा स्वामी	१ से २०
२—आचार्य जम्बू स्वामी	२० से ६४
३—आचार्य प्रभव स्वामी	६४ से ७५
४—आचार्य शय्यंभवसूरि	७५ से ९८
५—आचार्य यशोभद्रसूरि	९८ से १४८
६—आचार्य संभूतिविजय	१४८ से १५६
७—आचार्य भद्रबाहु स्वामी	१५६ से १७०
८—आचार्य स्थूलभद्र	१७० से २१५
९—आचार्य महागिरि	२१५ से २४५
१०—आचार्य सुहस्तिसूरि	२४५ से २९१
११—आचार्य गुणसुन्दरसूरि	२९१ से ३३५
१२—आचार्य श्यामाचार्य	३३५ से ३७६
१३—आचार्य स्कन्दिल	३७६ से ४१४
१४—आचार्य रेवतिमित्र	४१४ से ४५०
१५—आचार्य धर्मसूरि	४५० से ४९५
१६—आचार्य भद्रगुप्तसूरि	४९५ से ५३३
१७—आचार्य श्रीगुप्तसूरि	५३३ से ५४८
१८—आचार्य वज्रस्वामी	५४८ से ५८४
१९—आचार्य आर्यरक्षित	५८४ से ५९७
२०—आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र	५९७ से ६१७
२१—आचार्य वज्रसेनसूरि	६१७ से ६२०
२२—आचार्य नागहस्ती	६२० से ६८९
२३—आचार्य रेवतिमित्र	६८९ से ७४८
२४—आचार्य सिंहसूरि	७४८ से ८२६
२५—आचार्य नागार्जुनसूरि	८२६ से ९०४

२६—आचार्य भूतदिन्न सूरि	६०४ से ६८३
२७—आचार्य कालिकसूरि (चतुर्थ)	६८३ से ६६४
२८—आचार्य सत्यमित्र	६६४ से १०००
२६—आचार्य हारिल	१००० से १०५५
३०—आचार्य जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण	१०५५ से १११५
३१—आचार्य (उमा) स्वातिसूरि	१११५ से ११६०
३२—आचार्य पुष्यमित्र	११६० से १२५०
३३—आचार्य संभूति	१२५० से १३००
३४—आचार्य माठर संभूति	१३०० से १३६०
३५—आचार्य धर्मऋषि	१३६० से १४००
३६—आचार्य ज्येष्ठांगगणी	१४०० से १४७१
३७—आचार्य फल्गुमित्र	१४७१ से १५२०
३८—आचार्य धर्मघोष	१५२० से १५६८

(२) बालभी-युगप्रधान-पट्टावली

१—आर्य सुधर्मा स्वामी	२० वर्ष
२—आचार्य जम्बू स्वामी	४४ वर्ष
३—आचार्य प्रभव स्वामी	११ वर्ष
४—आचार्य शय्यंभव	२३ वर्ष
५—आचार्य यशोभद्र	५० वर्ष
६—आचार्य सम्भूतिविजय	८ वर्ष
७—आचार्य भद्रबाहु	१४ वर्ष
८—आचार्य स्थूलभद्र	४६ वर्ष
६—आचार्य महागिरि	३० वर्ष
१०—आचार्य सुहस्ती	४५ वर्ष
११—आचार्य गुणसुन्दर	४४ वर्ष
१२—आचार्य कालकाचार्य	४१ वर्ष
१३—आचार्य स्कन्दिलाचार्य	३८ वर्ष
१४—आचार्य रेवतिमित्र	३६ वर्ष

१५—आचार्य मंगु	२० वर्ष
१६—आचार्य धर्म	२४ वर्ष
१७—आचार्य भद्रगुप्त	४१ वर्ष
१८—आचार्य आर्यवज्र	३६ वर्ष
१९—आचार्य रक्षित	१३ वर्ष
२०—आचार्य पुष्यमित्र	२० वर्ष
२१—आचार्य वज्रसेन	३ वर्ष
२२—आचार्य नागहस्ती	६९ वर्ष
२३—आचार्य रेवतिमित्र	५९ वर्ष
२४—आचार्य सिंहसूरि	७८ वर्ष
२५—आचार्य नागार्जुन	७८ वर्ष
२६—आचार्य भूतदिन्न	७९ वर्ष
२७—आचार्य कालकाचार्य	११ वर्ष
	कुल ९८१ वर्ष

(३) माथुरी-युगप्रधान-पट्टावली

१—आर्य सुधर्मा स्वामी
२—आचार्य जम्बू स्वामी
३—आचार्य प्रभव स्वामी
४—आचार्य शय्यंभव
५—आचार्य यशोभद्र
६—आचार्य सम्भूत विजय
७—आचार्य भद्रबाहु
८—आचार्य स्थूलभद्र
९—आचार्य महागिरि
१०—आचार्य सुहस्ती
११—आचार्य बलिसह
१२—आचार्य स्वाति
१३—आचार्य श्यामाचार्य
१४—आचार्य सांडिल्य
१५—आचार्य समुद्र
१६—आचार्य मंगु
१७—आचार्य आर्यधर्म
१८—आचार्य भद्रगुप्त
१९—आचार्य वज्र
२०—आचार्य रक्षित
२१—आचार्य आनन्दिल
२२—आचार्य नागहस्ती
२३—आचार्य रेवतिनक्षत्र
२४—आचार्य ब्रह्म-दीपक सिंह
२५—आचार्य स्कन्दिलाचार्य
२६—आचार्य हिमवंत

२७—आचार्य नागार्जुन
२८—आचार्य गोविन्द
२९—आचार्य भूतदिन्न
३०—आचार्य लौहित्य
३१—आचार्य दूष्यगणि
३२—आचार्य देवर्द्धिगणि

सम्प्रदाय भेद

(निह्नव विवरण)

विचार का इतिहास जितना पुराना है, लगभग उतना ही पुराना विचार-भेद का इतिहास है। विचार व्यक्ति-व्यक्ति की ही उपज होता है, किन्तु संघ में रूढ़ होने के बाद संघीय कहलाता है।

तीर्थंकर वाणी जैन-संघ के लिए सर्वोपरि प्रमाण है। वह प्रत्यक्ष दर्शन है, इसलिए उसमें तर्क की कर्कशता नहीं है। वह तर्क से बाधित भी नहीं है। वह सूत्र-रूप है। उसकी व्याख्या में तर्क का लचीलापन आया है। भाष्यकार और टीकाकार प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे। उन्होंने सूत्र के आशय को परम्परा से समझा। कहीं समझ में नहीं आया, हृदयंगम नहीं हुआ तो अपनी युक्ति और जोड़ दी। लम्बे समय में अनेक सम्प्रदाय बन गए। श्वेताम्बर और दिगम्बर जैसे शासन-भेद हुए। भगवान् महावीर के समय में कुछ श्रमण वस्त्र पहनते, कुछ नहीं भी पहनते। भगवान् स्वयं वस्त्र नहीं पहनते थे। वस्त्र पहनने से मुक्ति होती ही नहीं या वस्त्र नहीं पहनने से ही मुक्ति होती है, ये दोनों बातें गौण हैं—मुख्य बात है—राग-द्वेष से मुक्ति। जैन-परम्परा का भेद मूल तत्त्वों की अपेक्षा ऊपरी बातों या गौण प्रश्नों पर अधिक टिका हुआ है।

गोशालक जैन-परम्परा से सर्वथा अलग हो गया, इसलिए उसे निह्नव नहीं माना गया। थोड़े से मत-भेद को लेकर जो जैन शासन से अलग हुए, उन्हें निह्नव माना गया[४१]।

बहुरतवाद

(१) जमाली पहला निह्नव था। वह क्षत्रिय-पुत्र और भगवान् महावीर का दामाद था। मां-बाप के अगाध प्यार और अतुल ऐश्वर्य को ठुकरा वह निर्ग्रन्थ बना। भगवान् महावीर ने स्वयं उसे प्रव्रजित किया। पांच-सौ व्यक्ति उसके साथ थे। मुनि जमाली अब आगे बढ़ने लगा। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में अपने आप को लगा दिया। सामायिक आदि ग्यारह अंग

पड़े। विचित्र तप-कर्म—उपवास, बेला, तेला यावत् अर्द्ध मास और मास की तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए विहार करने लगा।

एक दिन की बात है, ज्ञानी और तपस्वी जमाली भगवान् महावीर के पास आया। वन्दना की, नमस्कार किया और बोला—भगवन् ! मैं आपकी अभ्यनुज्ञा पा कर पांच सौ निर्ग्रन्थों के साथ जनपद विहार करना चाहता हूँ। भगवान् ने जमाली की बात सुनली। उसे आदर नहीं दिया। मौन रहे। जमाली ने दुबारा और तिबारा अपनी इच्छा को दोहराया। भगवान् पहले की भांति मौन रहे। जमाली उठा। भगवान् को वन्दना की, नमस्कार किया। बहुशाला नामक चैत्य से निकला। अपने साथी पांच सौ निर्ग्रन्थों को ले भगवान् से अलग विहार करने लगा।

श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में जमाली ठहरा हुआ था। संयम और तप की साधना चल रही थी। निर्ग्रन्थ-शासन की कठोरचर्या और वैराग्यवृत्ति के कारण वह अरस-विरस, अन्त-प्रान्त, रूखा-सूखा, कालातिक्रान्त, प्रमाणातिक्रान्त आहार लेता। उससे जमाली का शरीर रोगातंक से घिर गया। उज्ज्वल—विपुल वेदना होने लगी। कर्कश—कटु दुःख उदय में आया। पित्तज्वर से शरीर जलने लगा। घोरतम वेदना से पीड़ित जमाली ने अपने साधुओं से कहा—देवानुप्रिय ! बिछौना करो। साधुओं ने विनयावनत हो उसे स्वीकार किया। बिछौना करने लगे। वेदना का वेग बढ़ रहा था। एक-एक पल भारी हो रहा था। जमाली ने अधीर स्वर से पूछा—मेरा बिछौना बिछा दिया या बिछा रहे हो ? श्रमणों ने उत्तर दिया—देवानुप्रिय ! आपका बिछौना किया नहीं, किया जा रहा है। दूसरी बार फिर पूछा—देवानुप्रिय ! बिछौना किया या कर रहे हो ? श्रमण-निर्ग्रन्थ बोले—देवानुप्रिय ! आपका बिछौना किया नहीं, किया जा रहा है। इस उत्तर ने वेदना से अधीर बने जमाली को चौंका दिया। शारीरिक वेदना की टक्कर से सैद्धान्तिक धारणा हिल उठी। विचारों ने मोड़ लिया। जमाली सोचने लगा—भगवान् चलमान को चलित, उदीर्यमाण को उदीरित यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण कहते हैं, वह मिथ्या है। यह सामने दीख रहा है। मेरा बिछौना बिछाया जा रहा है, किन्तु बिछा नहीं है। इसलिए क्रियमाण अकृत, संस्तीर्यमाण असंस्तृत है—

किया जा रहा है किन्तु किया नहीं गया है, बिछाया जा रहा है किन्तु बिछा नहीं है—का सिद्धान्त सही है। इसके विपरीत भगवान् का क्रियमाण कृत और संस्तीर्यमाण संस्तृत करना शुरू हुआ, वह कर लिया गया, बिछाना शुरू किया, वह बिछा लिया गया—यह सिद्धान्त गलत है। चलमान को चलित, यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण मानना मिथ्या है। चलमान को अचलित यावत् निर्जीर्यमाण को अनिर्जीर्ण मानना सही है। बहुरतवाद-कार्य की पूर्णता होने पर उसे पूर्ण कहना ही यथार्थ है। इस सैद्धान्तिक उथल-पुथल ने जमाली की शरीर-वेदना को निर्वीर्य बना दिया। उसने अपने साधुओं को बुलाया और अपना सारा मानसिक आन्दोलन कह सुनाया। श्रमणों ने आश्चर्य के साथ सुना। जमाली भगवान् के सिद्धान्त को मिथ्या और अपने परिस्थिति-जन्य अपरिपक्व विचार को सच बता रहा है। माथे-माथे का विचार अलग-अलग होता है। कुछेक श्रमणों को जमाली का विचार रुचा, मन को भाया, उस पर श्रद्धा जमी। वे जमाली की शरण में रहे। कुछ एक जिन्हें जमाली का विचार नहीं जंचा, उस पर श्रद्धा या प्रतीति नहीं हुई, वे भगवान् की शरण में चले गए। थोड़ा समय बीता। जमाली स्वस्थ हुआ। श्रावस्ती से चला। एक गांव से दूसरे गांव विहार करने लगा। भगवान् उन दिनों चम्पा के पूर्णभद्र-चैत्य में विराज रहे थे। जमाली वहाँ आया। भगवान् के पास बैठ कर बोला—देवानुप्रिय ! आपके बहुत सारे शिष्य असर्वज्ञ-दशा में गुरुकुल से अलग होते हैं (छद्मस्थापक्रमण करते हैं) वैसे मैं नहीं हुआ हूँ। मैं सर्वज्ञ (अर्हत्, जिन, केवली) होकर आपसे अलग हुआ हूँ। जमाली की यह बात सुन कर भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतम स्वामी बोले—जमाली ! सर्वज्ञ का ज्ञान-दर्शन शैल-स्तम्भ और स्तूप से रुद्ध नहीं होता। जमाली ! यदि तुम सर्वज्ञ होकर भगवान् से अलग हुए हो तो लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? जीव शाश्वत है या अशाश्वत ? इन दो प्रश्नों का उत्तर दो। गौतम के प्रश्न सुन वह शंकित हो गया। उनका यथार्थ उत्तर नहीं दे सका। मौन हो गया। भगवान् बोले—"जमाली ! मेरे अनेक छद्मस्थ शिष्य भी मेरी भांति प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हैं। किन्तु तुम्हारी भांति अपने आपको सर्वज्ञ कहने में समर्थ नहीं हैं।

जमाली ! यह लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। लोक कभी नहीं था, नहीं है, नहीं होगा—ऐसा नहीं है। किन्तु यह था, है और रहेगा। इसलिए यह शाश्वत है। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी होती है, उत्सर्पिणी के बाद फिर अवसर्पिणी—इस काल-चक्र की दृष्टि से लोक अशाश्वत है। इसी प्रकार जीव भी शाश्वत और अशाश्वत दोनों हैं। त्रैकालिक सत्ता की दृष्टि से वह शाश्वत है। वह कभी नैरयिक बन जाता है, कभी तिर्यंच, कभी मनुष्य और कभी देव। इस रूपान्तर की दृष्टि से वह अशाश्वत है।" जमाली ने भगवान् की बातें सुनीं पर वे अच्छी नहीं लगी। उन पर श्रद्धा नहीं हुई। वह उठा भगवान् से अलग चला गया। मिथ्या-प्ररूपणा करने लगा—झूठी बातें कहने लगा। मिथ्या-अभिनिवेश (एकान्त आग्रह) से वह आग्रही बन गया। दूसरों को भी आग्रही बनाने का जी भर जाल रचा। बहुतों को झगड़ाखोर बनाया। इस प्रकार की चर्चा चलती रही। लम्बे समय तक श्रमण-वेश में साधना की। अन्त काल में एक पक्ष की संलेखना की। तीस दिन का अनशन किया। किन्तु मिथ्या-प्ररूपणा या झूठे आग्रह की आलोचना नहीं की, प्रायश्चित नहीं किया। इसलिए आयु पूरा होने पर वह लान्तक-कल्प (छठे देवलोक) के नीचे किल्विपिक (निम्न श्रेणी का) देव बना।

गौतम ने जाना—जमाली मर गया है। वे उठे। भगवान् के पास आये, वन्दना-नमस्कार कर बोले—भगवन्! आपका अन्तेवासी कुशिष्य जमाली मर कर कहाँ गया है? कहाँ उत्पन्न हुआ है? भगवान् बोले—गौतम! वह किल्विपिक देव बना है।

गौतम—भगवन्! किन कर्मों के कारण किल्विपिक देव-योनि मिलती है?

भगवान्—गौतम! जो व्यक्ति आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण और संघ के प्रत्यनीक (विद्वेषी) होते हैं, आचार्य और उपाध्याय का अपयश बखानते हैं, अवर्ण बोलते हैं और अकीर्ति गाते हैं, मिथ्या प्रचार करते हैं, एकान्त-आग्रही होते हैं, लोगों में पाण्डित्य के मिथ्याभिमान का भाव भरते हैं, वे साधुपन की विराधना कर किल्विपिक देव बनते हैं।

गौतम—भगवन्! जमाली अणगार अरस-विरस, अन्त-प्रान्त, रूखा-

सूखा आहार करता था। वह अरस-जीवी यावत् तुच्छ-जीवी था। उपशान्त-जीवी, प्रशान्त-जीवी और विविक्त-जीवी था।

भगवान्—हां गौतम ! वह ऐसा था।

गौतम—तो फिर भगवन् ! वह किल्विषिक देव क्यों बना ?

भगवान्—गौतम ! जमाली अणगार आचार्य और उपाध्याय का प्रत्यनीक था। उनका अयश बखानता, अवर्ण बोलता और अकीर्ति गाता था। एकान्त-आग्रह का प्रचार करता और लोगों को मिथ्याभिमानी बनाता था। इसलिए वह साधुपन का आराधक नहीं बना। जीवन की अन्तिम घड़ियों में भी उसने मिथ्या स्थान का आलोचन और प्रायश्चित नहीं किया। यही हेतु है गौतम ! वह तपस्वी और वैरागी होते हुए भी किल्विषिक देव बना। संलेखना और अनशन भी उसे आराधक नहीं बना सके।

गौतम—भगवन् ! जमाली देवलोक से लौट कर कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान्—गौतम ! जमाली देव, अनेक बार तिर्यंच, मनुष्य और देव-गति में जन्म लेगा। संसार-भ्रमण करेगा। दीर्घकाल के बाद साधुपन ले, कर्म खपा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।

जीव प्रादेशिकवाद

(२) दूसरे निह्नव का नाम तिष्यगुप्त है। इनके आचार्य वसु चतुर्दशपूर्वी थे। वे तिष्यगुप्त को आत्म-प्रवाद-पूर्व पढ़ा रहे थे। उसमें भगवान् महावीर और गौतम का सम्वाद आया। गौतम ने पूछा—भगवन् ! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कहा जा सकता है ?

भगवान्—नहीं।

गौतम—भगवन् ! क्या दो, तीन यावत् संख्यात प्रदेश से कम जीव के प्रदेशों को जीव कहा जा सकता है ?

भगवान्—नहीं। असंख्यात प्रदेशमय चैतन्य पदार्थ को ही जीव कहा जा सकता है।

यह सुन तिष्यगुप्त ने कहा—अन्तिम प्रदेश के बिना शेष प्रदेश जीव नहीं हैं। इसलिए अन्तिम प्रदेश ही जीव है। गुरु के समझाने पर भी अपना आग्रह नहीं छोड़ा। तब उन्हें संघ से पृथक् कर दिया। ये जीव-प्रदेश सम्बन्धी आग्रह के कारण जीव प्रादेशिक कहलाए।

अव्यक्तवाद

(३) श्वेतविका नगरी के पौलाषाढ़ चैत्य में आचार्य आषाढ विहार कर रहे थे। उनके शिष्यों में योग-साधना का अभ्यास चल रहा था। आचार्य का आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। उनने सोचा—शिष्यों का अभ्यास अधूरा रह जाएगा। फिर अपने शरीर में प्रविष्ट हो गए। शिष्यों को इसकी कोई जानकारी नहीं थी। योग-साधना का क्रम पूरा हुआ। आचार्य देव रूप में प्रगट हो बोले—श्रमणों! मैंने असंयत होते हुए भी संयतात्माओं से वन्दना कराई, इसलिए मुझे क्षमा करना। सारी घटना सुना देव अपने स्थान पर चले गए। श्रमणों को सन्देह हो गया कि कौन जाने कौन साधु है और कौन देव? निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह अव्यक्त मत कहलाया। आषाढ़ के कारण यह विचार चला। इसलिए इसके आचार्य आषाढ हैं—ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं पर वास्तव में उसके प्रवर्तक आषाढ के शिष्य ही होने चाहिए।

सामुच्छेदिकवाद

(४) अश्वमित्र अपने आचार्य कौण्डिल के पास पूर्व-ज्ञान पढ़ रहे थे। पहले समय के नारक विच्छिन्न हो जायेंगे, दूसरे समय के भी विच्छिन्न हो जायेंगे, इस प्रकार सभी जीव विच्छिन्न हो जायेंगे—यह पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था।

उनने एकान्त-समुच्छेद का आग्रह किया। वे संघ से पृथक् कर दिये गए। उनका मत "सामुच्छेदिकवाद" कहलाया।

द्वैक्रियवाद

(५) गंग मुनि आचार्य धनगुप्त के शिष्य थे। वे शरद् ऋतु में अपने आचार्य को वन्दना करने जा रहे थे। मार्ग में उल्लुका नदी थी। उसे पार करते समय सिर को सूर्य की गरमी और पैरों को नदी की ठंडक का अनुभव हो रहा था। मुनि ने सोचा—आगम में कहा है—एक समय में दो क्रियाओं की अनुभूति नहीं होती। किन्तु मुझे एक साथ दो क्रियाओं की अनुभूति हो रही है। गुरु के पास पहुँचे और अपना अनुभव सुनाया। गुरु ने कहा—वास्तव में एक समय में एक ही क्रिया की अनुभूति होती है। मन का क्रम बहुत सूक्ष्म है,

इसलिए हमें उसकी पृथकता का पता नहीं चलता। गुरु की बात उन्हें नहीं जंची। वे संघ से अलग होकर "द्वैक्रियवाद" का प्रचार करने लगे।

त्रैराशिकवाद

(६) छठे निह्नव रोहगुप्त (षडुलूक) हुए। वे अन्तरंजिका के भूतगृह चैत्य में ठहरे हुए अपने आचार्य श्री गुप्त को वन्दन करने जा रहे थे। वहाँ पोट्टशाल परिव्राजक अपनी विद्याओं के प्रदर्शन से लोगों को अचम्भे में डाल रहा था और दूसरे सभी धार्मिकों को वाद के लिए चुनौती दे रहा था। आचार्य ने रोहगुप्त को उसकी चुनौती स्वीकार करने का आदेश दिया और मयूरी, नकुली, बिडाली, व्याघ्री, सिंही आदि अनेक विद्याएं भी सिखाईं।

रोहगुप्त ने उसकी चुनौती को स्वीकार किया। राज-सभा में चर्चा का प्रारम्भ हुआ।

पोट्टशाल ने जीव और अजीव—इन दो राशियों की स्थापना की। रोहगुप्त ने जीव, अजीव और निर्जीव—इन तीन राशियों की स्थापना कर उसे पराजित कर दिया।

पोट्टशाल की वृश्चिकी, सर्पी, मूषिकी आदि विद्याएं भी विफल करदीं। उसे पराजित कर रोहगुप्त अपने गुरु के पास आये, सारा घटनाचक्र निवेदित किया। गुरु ने कहा—राशि दो हैं। तूने तीन राशि की स्थापना की, यह अच्छा नहीं किया। वापस सभा में जा, इसका प्रतिवाद कर। आग्रहवश गुरु की बात स्वीकार नहीं कर सके। गुरु उन्हें 'कुत्रिकापण' में ले गए। वहाँ जीव मांगा, वह मिल गया, अजीव मांगा वह भी मिल गया, तीसरी राशि नहीं मिली। गुरु राज-सभा में गए और रोहगुप्त के पराजय की घोषणा की। इस पर भी उनका आग्रह कम नहीं हुआ। इसलिए उन्हें संघ से अलग कर दिया गया।

अबद्धिकवाद

(७) सातवें निह्नव गोष्ठामाहिल थे। आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी दुर्बलिका-पुष्यमित्र हुए। एक दिन वे विन्ध्य नामक मुनि को कर्म-प्रवाद का बन्धाधिकार पढ़ा रहे थे। उसमें कर्म के दो रूपों का वर्णन आया। कोई कर्म गीली दीवार पर मिट्टी की भांति आत्मा के साथ चिपक जाता है—एक रूप

हो जाता है और कोई कर्म सूखी दीवार पर मिट्टी की भांति आत्मा का स्पर्श कर नीचे गिर जाता है—अलग हो जाता है।

गोष्ठामाहिल ने यह सुना। वे आचार्य से कहने लगे—आत्मा और कर्म यदि एक रूप हो जाएं तो फिर वे कभी भी अलग-अलग नहीं हो सकते। इसलिए यह मानना ही संगत है कि कर्म आत्मा का स्पर्श करते हैं, उससे एकीभूत नहीं होते। वास्तव में बन्ध होता ही नहीं। आचार्य ने दोनों दशाओं का मर्म बताया पर उनने अपना आग्रह नहीं छोड़ा। आखिर उन्हें संघ से पृथक् कर दिया।

जमाली, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल के सिवाय शेष निह्नव आ प्रायश्चित्त ले फिर से जैन-परम्परा में सम्मिलित हो गए। जो सम्मिलित नहीं हुए उनकी भी अब कोई परम्परा प्रचलित नहीं है।

यंत्र देखिए :—

आचार्य	मत-स्थापन	उत्पत्ति-स्थान	कालमान
जमाली	बहुरतवाद	श्रावस्ती	कैवल्य के १४ वर्ष पश्चात्
तिष्यगुप्त	जीवप्रादेशिक-वाद	ऋषभपुर (राजगृह)	कैवल्य के १६ वर्ष पश्चात्
आषाढ-शिष्य	अव्यक्तवाद	श्वेतविका	निर्वाण के २१४ वर्ष पश्चात्
अश्वमित्र	सामुच्छेदिक-वाद	मिथिला	निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात्
गंग	द्वैक्रियवाद	उल्लुकातीर	निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात्
रोहगुप्त (षडुलूक)	त्रैराशिकवाद	अन्तरंजिका	निर्वाण के ५४४ वर्ष पश्चात्
गोष्ठामाहिल	अबद्धिकवाद	दशपुर	निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात्

स्थानांग में सात निह्नवों का ही उल्लेख है। जिनभद्र गणी आठवें निह्नव बोटिक का उल्लेख और करते हैं, जो वस्त्र त्याग कर संघ से पृथक् हुए थे [५२]।

श्वेताम्बर-दिगम्बर

दिगम्बर-सम्प्रदाय की स्थापना कब हुई? यह अब भी अनुसन्धान सापेक्ष है। परम्परा से इसकी स्थापना विक्रम की सातवीं शताब्दी में मानी जाती है। श्वेताम्बर नाम कब पड़ा—यह भी अन्वेषण का विषय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सापेक्ष शब्द हैं। इनमें से एक का नाम-करण होने के बाद ही दूसरे के नाम-करण की आवश्यकता हुई है।

भगवान् महावीर के संघ में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमणों का समवाय था। आचारांग १।८ में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमणों के मोह-विजय का वर्णन है।

सचेल मुनि के लिए वस्त्रैषणा का वर्णन आचारांग २।५ में है। अचेल मुनि का वर्णन आचारांग १।६ में है। उत्तराध्ययन २।१३ में अचेल और सचेल दोनों अवस्थाओं का उल्लेख है। आगम-काल में अचेल मुनि जिनकल्पिक[४३] और सचेल मुनि स्थविरकल्पिक कहलाते थे[४४]।

भगवान् महावीर के महान् व्यक्तित्व के कारण आचार की द्विविधता का जो समन्वित रूप हुआ, वह जम्बू स्वामी तक उसी रूप में चला। उनके पश्चात् आचार्य-परम्परा का भेद मिलता है। श्वेताम्बर-पट्टावलि के अनुसार जम्बू के पश्चात् शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूत विजय और भद्रबाहु हुए और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार नन्दी, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु हुए।

जम्बू के पश्चात् कुछ समय तक दोनों परम्पराएं आचार्यों का भेद स्वीकार करती हैं और भद्रबाहु के समय फिर दोनों एक बन जाती हैं। इस भेद और अभेद से सैद्धान्तिक मत-भेद का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। उस समय संघ एक था, फिर भी गण और शाखाएं अनेक थीं। आचार्य और चतुर्दशपूर्वी भी अनेक थे। किन्तु प्रभव स्वामी के समय से ही कुछ मत-भेद के अंकुर फूटने लगे हो, ऐसा प्रतीत होता है।

शय्यम्भव ने दशवै० में—'वस्त्र रखना परिग्रह नहीं है'—इस पर जो बल दिया है और ज्ञातपुत्र महावीर ने संयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र रखने को परिग्रह नहीं कहा है—इस वाक्य द्वारा भगवान् के अभिमत को साक्ष्य किया

है [४५]। उससे आन्तरिक मत-भेद की सूचना मिलती है। कुछ शताब्दियों के पश्चात् शय्यम्भव का 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' वाक्य परिग्रह की परिभाषा बन गया। उमास्वाति का 'मूर्च्छा-परिग्रह-सूत्र' इसी का उपजीवी है [४६]।

जम्बू स्वामी के पश्चात् 'दस वस्तुओं' का लोप माना गया है। उनमें एक जिनकल्पिक अवस्था भी है [४७]। यह भी परम्परा-भेद की पुष्टि करता है। भद्रबाहु के समय (वी० नि० १६० के लगभग) पाटलिपुत्र में जो वाचना हुई, उन दोनों परम्पराओं का मत-भेद तीव्र हो गया। इससे पूर्व श्रुत विषयक एकता थी। किन्तु लम्बे दुष्काल में अनेक श्रुतधर मुनि दिवंगत हो गए। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। वह सब को पूर्ण मान्य नहीं हुआ दोनों का मत-भेद स्पष्ट हो गया। माथुरी वाचना में श्रुत का जो रूप स्थिर हुआ, उसका अचेलत्व-समर्थकों ने पूर्ण बहिष्कार कर दिया। इस प्रकार आचार और श्रुत विषयक मत-भेद तीव्र होते-होते वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी में एक मूल दो भागों में विभक्त हो गया।

श्वेताम्बर से दिगम्बर-शाखा निकली, यह भी नहीं कहा जा सकता और दिगम्बर से श्वेताम्बर-शाखा का उद्भव हुआ, यह भी नहीं कहा जा सकता। एक दूसरा सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा बताता है। पर सच तो यह है कि साधना की दो शाखाएं, समन्वय और सहिष्णुता के विराट् प्रकाण्ड का आश्रय लिए हुए थीं, वे उसका निर्वाह नहीं कर सकीं, काल-परिपाक से पृथक् हो गईं। अथवा यों कहा जा सकता है कि एक दिन साधना के दो बीजों ने समन्वय के महातरु को अंकुरित किया और एक दिन वही महातरु दो भागों में विभक्त हो गया। किंवदन्ती के अनुसार वीर-निर्वाण-६०६ वर्ष के पश्चात् दिगम्बर-सम्प्रदाय का जन्म हुआ, यह श्वेताम्बर मानते हैं और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण ६०६ में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ।

सचेलत्व और अचेलत्व का आग्रह और समन्वय दृष्टि

जब तक जैन-शासन पर प्रभाव शाली व्यक्तित्व का अनुशासन रहा, तब तक सचेलत्व और अचेलत्व का विवाद उग्र नहीं बना। कुन्द-कुन्द (जिनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी है) के समय यह विवाद तीव्र हो उठा था [४८]।

बीच-बीच में इसके समन्वय के प्रयत्न भी होते रहे हैं। यापनीय संघ (जिसकी स्थापना वी० नि० की सातवीं शताब्दी के लगभग हुई) श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं का समन्वित रूप था। इस संघ के मुनि अचेलत्व आदि की दृष्टि से दिगम्बर-परम्परा का अनुसरण करते थे और मान्यता की दृष्टि से श्वेताम्बर थे। वे स्त्री-मुक्ति को मानते थे और श्वेताम्बर-सम्मत आगम-साहित्य का अध्ययन करते थे।

समन्वय की दृष्टि और भी समय-समय पर प्रस्फुटित होती रही है। कहा गया है :—

कोई मुनि दो वस्त्र रखता है, कोई तीन, कोई एक और कोई अचेल रहता है। वे परस्पर एक दूसरे की अवज्ञा न करें। क्योंकि यह सब जिनाज्ञा-सम्मत है। यह आचार-भेद शारीरिक शक्ति और धृति के उत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर होता है। इसलिए सचेल मुनि अचेल मुनियों की अवज्ञा न करें और अचेल मुनि सचेल मुनियों को अपने से हीन न मानें। जो मुनि महाव्रत-धर्म का पालन करते हैं और उद्यत-विहारी हैं, वे सब जिनाज्ञा में हैं[४९]।

चैत्यवास और संविग्न

स्थानांग सूत्र में भगवान् महावीर के नौ गणों का उल्लेख मिलता है[५०]। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१—गोदास-गण	२—उत्तर-बलिस्सह-गण	३—उद्देह-गण
४—चारण-गण	५—उड्डुपाटित-गण	६—वेश-पाटिक-गण
७—कामर्द्धि-गण	८—मानव-गण	९—कोटिक-गण।

गोदास भद्रबाहु स्वामी के प्रथम शिष्य थे। उनके नाम से गोदास-गण का प्रवर्तन हुआ। उत्तर बलिस्सह आर्य महागिरि के शिष्य थे। दूसरे गण का प्रवर्तन इनके द्वारा हुआ।

आर्य सुहस्ती के शिष्य स्थविर रोहण से उद्देह-गण, स्थविर श्री गुप्त से चारण-गण, भद्रयश से उड्डुपाटित-गण, स्थविर कामर्द्धि से वेशपाटिक-गण और उसका अन्तर कुल कामर्द्धिगण, स्थविर ऋषिगुप्त से मानव-गण और स्थविर सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध से कोटिक गण प्रवर्तित हुए[५१]।

आर्य सुहस्ती के समय शिथिलाचार की एक स्फुट रेखा निर्मित हुई थी।

वे स्वयं सम्राट् सम्प्रति के आचार्य बन कुछ सुविधा के उपभोक्ता बने थे। पर आर्य महागिरि के संकेत से शीघ्र ही सम्हल गए थे। माना जाता है कि उनके सम्हल जाने पर भी एक शिथिल परम्परा चल पड़ी।

वी० नि० की नवीं शताब्दी (८५०) में चैत्यवास की स्थापना हुई। कुछ शिथिलाचारी मुनि उग्र-विहार छोड़ कर मंदिरों के परिपार्श्व में रहने लगे। वी० नि० की दशवीं शताब्दी तक इनका प्रभुत्व नहीं बढ़ा। देवर्द्धिगणी के दिवंगत होते ही इनका सम्प्रदाय शक्तिशाली हो गया। विद्या-बल और राज्य-बल दोनों के द्वारा इन्होंने उग्र-विहारी श्रमणों पर पर्याप्त प्रहार किया। हरिभद्रसूरि ने 'सम्बोध-प्रकरण' में इनके आचार-विचार का सजीव वर्णन किया है।

अभयदेव सूरि देवर्द्धिगणी के पश्चात् जैन-शासन की वास्तविक परम्परा का लोप मानते हैं'[१२]।

चैत्यवास से पूर्व गण, कुल और शाखाओं का प्राचुर्य होते हुए भी उनमें पारस्परिक विग्रह या अपने गण का अहंकार नहीं था। वे प्रायः अविरोधी थे। अनेक गण होना व्यवस्था-सम्मत था। गणों के नाम विभिन्न कारणों से परिवर्तित होते रहते थे। भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी सुधर्मा के नाम से गण को सौधर्म गण कहा गया।

सामन्त भद्रसूरि ने वन-वास स्वीकार किया, इसलिए उसे वन-वासी गण कहा गया।

चैत्यवासी शाखा के उद्भव के साथ एक पक्ष संविग्न, विधि-मार्ग या सुविहित मार्ग कहलाया और दूसरा पक्ष चैत्यवासी।

स्थानक वासी

इस सम्प्रदाय का उद्भव मूर्ति-पूजा के अस्वीकार पक्ष में हुआ। वि० की सोलहवीं शताब्दी में लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और आचार की कठोरता का पक्ष प्रबल किया। इन्हीं लोकाशाह के अनुयायियों में से स्थानकवासी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। यह थोड़े ही समय में शक्तिशाली बन गया।

तेरापंथ

स्थानक वासी सम्प्रदाय के आचार्य श्री रुघनाथजी के शिष्य 'संत भीखणजी'

(आचार्य भिक्षु) ने वि० सं० १८१७ में तेरापंथ का प्रवर्तन किया। आचार्य भिक्षु ने आचार-शुद्धि और संगठन पर बल दिया। एक सूत्रता के लिए उन्होंने अनेक मर्यादाओं का निर्माण किया। शिष्य-प्रथा को समाप्त कर दिया। थोड़े ही समय में एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापंथ प्रसिद्ध हो गया। आचार्य भिक्षु आगम के अनुशीलन द्वारा कुछ नये तत्त्वों को प्रकाश में लाए। सामाजिक भूमिका में उस समय वे कुछ अपूर्व से लगे। आध्यात्मिक-दृष्टि से वे बहुत ही मूल्यवान हैं, कुछ तथ्य तो वर्तमान समाज के भी पथ-दर्शक बन गए हैं।

उन्होंने कहा—

(१) धर्म को जाति, समाज और राज्यगत नीति से मुक्त रखा जाय।

(२) साधन-शुद्धि का उतना ही महत्त्व है, जितना कि साध्य का।

(३) हिंसक साधनों से अहिंसा का विकास नहीं किया जा सकता।

(४) हृदय-परिवर्तन हुए बिना किसी को अहिंसक नहीं बनाया जा सकता।

(५) आवश्यक हिंसा को अहिंसा नहीं मानना चाहिए।

(६) धर्म और अधर्म क्रिया-काल में ही होते हैं, उसके पहले पीछे नहीं होते।

(७) बड़ों की सुरक्षा के लिए छोटे जीवों का बध करना अहिंसा नहीं है।

उन्होंने दान और दया के धार्मिक विश्वासों की आलोचना की और उनकी ऐकान्तिक आध्यात्मिकता को अस्वीकार किया।

मिश्र-धर्म को अमान्य करते हुए उन्होंने आगम की भाषा में कहा—

"संक्षेप में क्रिया के दो स्थान हैं। १—धर्म, २—अधर्म"[५३]। धर्म और अधर्म का मिश्र नहीं होता।"

गौतम स्वामी ने पूछा—"भगवन्! अन्य तीर्थिक ऐसा कहते हैं, प्रज्ञापना और प्ररूपणा करते हैं—एक जीव एक समय में दो क्रियाएं करता है। वे दो क्रियाएं हैं—सम्यक् और मिथ्या। जिस समय सम्यक् क्रिया करता है, उस समय मिथ्या क्रिया भी करता है और जिस समय मिथ्या क्रिया करता है, उस समय सम्यक् क्रिया भी करता है। सम्यक् क्रिया करने के द्वारा मिथ्या क्रिया

करता है और मिथ्या क्रिया करने के द्वारा सम्यक् क्रिया करता है—इस प्रकार एक जीव एक समय में दो क्रियाएं करता है। यह कैसे है भगवन्?"

भगवान्—"गौतम! एक जीव एक समय में दो क्रियाएं करता है—यह जो कहा जाता है, वह सच नहीं है—मैं इस प्रकार कहता हूँ, प्रज्ञापना और प्ररूपणा करता हूँ। एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है—सम्यक् या मिथ्या। जिस समय सम्यक् क्रिया करता है, उस समय मिथ्या क्रिया नहीं करता और जिस समय मिथ्या क्रिया करता है, उस समय सम्यक् क्रिया नहीं करता। सम्यक् क्रिया करने के द्वारा मिथ्या क्रिया नहीं करता और मिथ्या क्रिया करने के द्वारा सम्यक् क्रिया नही करता है। इस प्रकार एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है—सम्यक् या मिथ्या[५४]।"

अन्य तीर्थिक लोग "एक साथ धर्म और अधर्म दोनों क्रियाएं होती है"—ऐसा मानते थे। उनका भगवान् महावीर ने इस सूत्र में प्रतिवाद किया और बताया—"सम्यक् और असम्यक्—शुभ अध्यवसाय वाली और अशुभ अध्यवसाय वाली—ये दोनों क्रियाएं एक साथ नहीं हो सकतीं। आत्मा क्रिया करने में सर्वात्मना प्रवृत्त होती है। इसलिए क्रिया का अध्यवसाय एक साथ द्विरूप नहीं हो सकता। जिस समय निर्जरा होती है, उस समय आस्रव भी विद्यमान रहता है। पुण्य-बंध होता है, उस समय पाप भी बंधता है। किन्तु वे दोनों प्रवृत्तियां स्वतन्त्र हैं, इसलिए वह मिश्र नहीं कहलाता। जिससे कर्म लगता है, उसीसे कर्म नहीं टूटता तथा जिससे पुण्य का बंध होता है, उसीसे पाप का बंध नहीं होता। एक ही प्रवृत्ति से धर्म-अधर्म दोनों हों, पुण्य-पाप दोनों बंधे, उसका नाम मिश्र है। धर्म मिश्र नहीं होता।"

ये विचार आदि-काल में बहुत ही अपरिचित से लगे किन्तु अब इनकी गहराई से लोगों का निकट परिचय हुआ है।

तेरापंथ के आठ आचार्य हो चुके हैं। वर्तमान नेता आचार्य श्री तुलसी हैं। अणुव्रत-आन्दोलन जो अहिंसा, मैत्री, धर्म-समन्वय और धर्म के सम्प्रदायातीत रूप का ज्वलंत प्रतीक है, आचार्य श्री के विचार-मन्थन का नवनीत है।

आन्दोलन-प्रवर्तक के व्यक्तित्व पर जैन धर्म का समन्वयवाद और असाम्प्रदायिक धार्मिकता की अमिट छाप है।

परवर्ती-प्राकृत-साहित्य
संस्कृत-साहित्य
प्रादेशिक-साहित्य
गुजराती-साहित्य
राजस्थानी-साहित्य
हिन्दी-साहित्य

आगम

जैन-साहित्य आगम और आगमेतर—इन दो भागों में बंटा हुआ है। साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम कहलाता है।

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी भगवान् ने अपने आपको देखा (आत्म-साक्षात् किया) और समूचे लोक को देखा। भगवान् ने तीर्थ चतुष्टय (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) की स्थापना की। इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए। भगवान् ने सत् का निरूपण किया तथा बन्ध, बन्ध-हेतु, मोक्ष और मोक्ष-हेतु का स्वरूप बताया[1]।

भगवान् की वाणी आगम बन गई। उनके प्रधान शिष्य गौतम आदि ग्यारह गणधरों ने उसे सूत्र-रूप में गूंथा। आगम के दो विभाग हो गए। सूत्रागम और अर्थागम। भगवान् के प्रकीर्ण उपदेश को अर्थागम और उनके आधार पर की गई सूत्र-रचना को सूत्रागम कहा गया। वे आचार्यों के लिए निधि बन गए। इसलिए उनका नाम गणि-पिटक हुआ। उस गुम्फन के मौलिक भाग बारह हुए। इसलिए उसका दूसरा नाम हुआ द्वादशांगी। बारह अंग ये हैं—(१) आचार (२) सूत्रकृत (३) स्थान (४) समवाय (५) भगवती (६) ज्ञातृ-धर्मकथा (७) उपासक दशा (८) अन्तःकृद्-दशा, (९) अनुत्तरोपपातिक-दशा (१०) प्रश्न-व्याकरण (११) विपाक (१२) दृष्टिवाद। स्थविरों ने इसका पल्लवन किया। आगम-सूत्रों की संख्या हजारों तक पहुंच गई।

भगवान् के १४ हजार शिष्य प्रकरणकार (ग्रन्थकार) थे[2]। उस समय लिखने की परम्परा नहीं थी। सारा वाङ्मय स्मृति पर आधारित था।

आगमों का रचना क्रम

दृष्टिवाद के पांच विभाग हैं। (१) परिकर्म (२) सूत्र (३) पूर्वानुयोग (४) पूर्वगत (५) चूलिका। चतुर्थ विभाग-पूर्वगत में चौदह पूर्वों का समावेश होता है। इनका परिमाण बहुत ही विशाल है। वे श्रुत या शब्द-ज्ञान के समस्त विषयों के अक्षय-कोष होते हैं। इनकी रचना के बारे

में दो विचार धाराएं हैं—एक के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व से ज्ञान-राशि का यह भाग चला आ रहा था। इसलिए उत्तरवर्ती साहित्य-रचना के समय इसे पूर्व कहा गया। दूसरी विचारणा के अनुसार द्वादशांगी से पूर्व ये चौदह शास्त्र रचे गए, इसलिए इन्हें पूर्व कहा गया[३]। पूर्वों में सारा श्रुत समा जाता है। किन्तु साधारण बुद्धि वाले उसे पढ़ नहीं सकते। उनके लिए द्वादशांगी की रचना की गई[४]। आगम-साहित्य में अध्ययन-परम्परा के तीन क्रम मिलते हैं। कुछ श्रमण चतुर्दश पूर्वी होते थे, कुछ द्वादशांगी के विद्वान् और कुछ सामायिक आदि ग्यारह अंगों को पढ़ते थे। चतुर्दश पूर्वी श्रमणों का अधिक महत्त्व रहा है। उन्हें श्रुत-केवली कहा गया है।

चौदह पूर्व

नाम	विषय	पद-परिमाण
१—उत्पाद	द्रव्य और पर्यायों की उत्पत्ति	एक करोड़
२—अग्रायणीय	द्रव्य, पदार्थ और जीवों का परिमाण	छियानवे लाख
३—वीर्य-प्रवाद	सकर्म और अकर्म जीवों के वीर्य का वर्णन	सत्तर लाख
४—अस्तिनास्ति-प्रवाद	पदार्थ की सत्ता और असत्ता-का निरूपण	साठ लाख
५—ज्ञान-प्रवाद	ज्ञान का स्वरूप और प्रकार	एक कम एक करोड़
६—सत्य-प्रवाद	सत्य का निरूपण	एक करोड़ छह
७—आत्म-प्रवाद	आत्मा और जीव का निरूपण	छब्बीस करोड़
८—कर्म-प्रवाद	कर्म का स्वरूप और प्रकार	एक करोड़ अस्सी-लाख
९—प्रत्याख्यान-प्रवाद	व्रत-आचार, विधि-निषेध	चौरासी लाख
१०—विद्यानुप्रवाद	सिद्धियों और उनके साधनों का निरूपण	एक करोड़ दस-लाख
११—अवन्ध्य (कल्याण)	शुभाशुभ फल की अवश्यं-भाविता का निरूपण	छब्बीस करोड़

१२—प्राणायुप्रवाद	इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य और प्राण का निरूपण	एक करोड़ छप्पन लाख
१३—क्रियाविशाल	शुभाशुभ क्रियाओं का निरूपण	नौ करोड़
१४—लोकबिन्दुसार	लोक बिन्दुसार लब्धि का स्वरूप और विस्तार	साढ़े बारह करोड़

उत्पाद पूर्व में दस वस्तु और चार चूलिकावस्तु हैं। अग्रायणीय पूर्व में चौदह वस्तु और बारह चूलिकावस्तु हैं। वीर्यप्रवाद पूर्व में आठ वस्तु और आठ चूलिकावस्तु हैं। अस्ति-नास्ति-प्रवाद पूर्व में अठारह वस्तु और दस चूलिकावस्तु हैं। ज्ञान-प्रवाद पूर्व में बारह वस्तु हैं। सत्य-प्रवाद पूर्व में दो वस्तु हैं। आत्म-प्रवाद पूर्व में सोलह वस्तु हैं। कर्म प्रवाद पूर्व में तीस वस्तु हैं। प्रत्याख्यान पूर्व में बीस। विद्यानुप्रवाद पूर्व में पन्द्रह। अवन्ध्य पूर्व में बारह। प्राणायु पूर्व में तेरह। क्रियाविशाल पूर्व में तीन। लोक बिन्दुसार पूर्व में पचीस। चौथे से आगे के पूर्वों में चूलिकावस्तु नहीं है[५]।

इनकी भाषा संस्कृत मानी जाती है। इनका विषय गहन और भाषा सहज सुबोध नहीं थी। इसलिए अल्पमति लोगों के लिए द्वादशांगी रची गई। कहा भी है :—

"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृते कृतः ॥

आचारांग का स्थान पहला है। वह योजना की दृष्टि से है। रचना की दृष्टि से पूर्व का स्थान पहला है[६]।

आगमों की भाषा

जैन आगमों की भाषा अर्ध-मागधी है। आगम-साहित्य के अनुसार तीर्थंकर अर्ध-मागधी में उपदेश देते हैं[७]। इसे उस समय की दिव्य भाषा[८] और इसका प्रयोग करने वाले को भाषार्य कहा है[९]। यह प्राकृत का ही एक रूप है[१०]। यह मगध के एक भाग में बोली जाती है, इसलिए अर्ध-मागधी कहलाती है। इसमें मागधी और दूसरी भाषाओं—अठारह देशी भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं। इसलिए यह अर्ध-मागधी कहलाती है[११]। भगवान् महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेश, वर्ग और जाति के थे।

इसलिए जैन-साहित्य की प्राचीन प्राकृत में देश्य शब्दों की बहुलता है। मागधी और देश्य शब्दों का मिश्रण अर्ध-मागधी कहलाता है। यह जिनदास महत्तर की व्याख्या है, जो सम्भवतः सब से अधिक प्राचीन है। इसे आर्ष भी कहा जाता है[१२]। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे आर्ष कहा—उसका मूल आगम का ऋषि-भाषित शब्द है[१३]।

आगमों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य

केवली, अवधि-ज्ञानी, मनः पर्यव-ज्ञानी, चतुर्दश पूर्वधर और दशपूर्वधर की रचना को आगम कहा जाता है। आगम में प्रमुख स्थान द्वादशांगी या गणि-पिटक का है। वह स्वतः प्रमाण है। शेष आगम परतः प्रमाण हैं—द्वादशांगी के अविरुद्ध हैं, वे प्रमाण हैं, शेष अप्रमाण।

आगम-विभाग

आगम-साहित्य प्रणेता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त होता है। (१) अंग-प्रविष्ट (२) अनंग-प्रविष्ट। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों ने जो साहित्य रचा, वह अंग-प्रविष्ट कहलाता है। स्थविरों ने जो साहित्य रचा, वह अनंग-प्रविष्ट कहलाता है। बारह अंगों के अतिरिक्त सारा आगम-साहित्य अनंग-प्रविष्ट है। गणधरों के प्रश्न पर भगवान् ने त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उपदेश दिया। उसके आधार पर जो आगम-साहित्य रचा गया, वह अंग-प्रविष्ट और भगवान् के मुक्त व्याकरण के आधार पर स्थविरों ने जो रचा, वह अनंग-प्रविष्ट है।

द्वादशांगी का स्वरूप सभी तीर्थंकरों के समक्ष नियत होता है। अनंग-प्रविष्ट नियत नहीं होता[१४]। अभी जो एकादश अंग उपलब्ध हैं वे सुधर्मा गणधर की वाचना के हैं। इसलिए सुधर्मा द्वारा रचित माने जाते हैं।

अनंग-प्रविष्ट आगम-साहित्य की दृष्टि से दो भागों में बंटता है। कुछेक आगम स्थविरों के द्वारा रचित हैं और कुछेक निर्यूढ। जो आगम द्वादशांगी या पूर्वों से उद्धृत किये गए, वे निर्यूढ कहलाते हैं। दशवैकालिक, आचारांग का दूसरा श्रुत-स्कन्ध, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशाश्रुत-स्कन्ध—ये निर्यूढ आगम हैं।

दशवैकालिक का निर्यूहन अपने पुत्र मनक की आराधना के लिए

आर्य शय्यम्भव ने किया [१५]। शेष आगमों के निर्यूहक श्रुत-केवली भद्रबाहु हैं [१६]। प्रज्ञापना के कर्त्ता श्यामार्य, अनुयोग-द्वार के आर्य-रक्षित और नन्दी के देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण माने जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से आगमों को दो युगों में विभक्त किया जा सकता है। ई० पू० ४०० से ई० १०० तक का पहला युग है। इसमें रचित अंगों की भाषा अर्ध-मागधी है। दूसरा युग ई० १०० से ई० ५०० तक का है। इसमें रचित या निर्यूढ आगमों की भाषा जैन महाराष्ट्री प्राकृत है [१७]।

अर्द्धमागधी और जैन महाराष्ट्री प्राकृत में जो अन्तर है, उसका संक्षिप्त रूप यह है :—

शब्द-भेद

१—अर्ध मागधी में ऐसे प्रचुर शब्द हैं, जिनका प्रयोग महाराष्ट्री में प्रायः उपलब्ध नहीं होता; यथा—अज्झत्थिय, अज्झोववण्ण, अणुवीति, आघवणा, आघवेत्तग, आणापाणू, आवीकम्म, कण्हुइ, केमहालय, दुरूढ़, पंचत्थिमिल्ल, पउकुव्वं, पुरत्थिमिल्ल, पोरेवच्च, महतिमहालिया, वक्क, विउस इत्यादि।

२—ऐसे शब्दों की संख्या भी बहुत बड़ी है, जिनके रूप अर्धमागधी और महाराष्ट्री में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

अर्धमागधी	महाराष्ट्री	जाया	जत्ता
अभियागम	अब्भाअम	णिगण, णिगिण (नग्न)	नग्ग
आउंटण	आउंचण	णिगिणिण (नागन्य)	णग्गत्तणं
आहरण	उआहरण	तच्च (तृतीय)	तइअ
उप्पि	उवरिं, अवरिं	तच्च (तथ्य)	तच्छ
किया	किरिआ	तेगिच्छा	चिइच्छा
कीस, केस	केरिस	दुवाल संग	बारसंग
केवच्चिर	किअच्चिर	दोच्च	दुइअ
गेहि	गिद्धि	नितिय	णिच्च
चियत्त	चइअ	निएय	णिअअ
छुच्च	छक्क	पडुप्पन्न	पच्चुप्पण्ण

पच्छेकम्म	पच्छाकम्म	वग्गू	वाया
पाय (पाल)	पत्त	वाहणा (उपानह)	उवाहणा
पुठो (पृथक)	पुहं, पिहं	सहेज्ज	सहाय
पुरेकम्म	पुराकम्म	सीआण, सुसाण	मसाण
पुव्विं	पुव्वं	सुमिण	सिमिण
माय (माल)	अत्त, मेत्त	सुहम, सुहुम	सण्ह
माहण	बम्हण	सोहि	सुद्धि
मिलक्खु, मेच्छ	मिलिच्छ		

और दुवालस, बारस, तेरस, अउणवीसइ, बत्तीस, पणतीस, इगयाल, तेयालीस, पणयाल, अठयाल, एगट्ठि, बावट्ठि, तेवट्ठि, छावट्ठि, अट्ठसट्ठि, अउणत्तरि, बावत्तरि, पण्णत्तरि, सत्तहत्तरि, तेयासी, छलसीइ, बाणउइ प्रभृति संख्या-शब्दों के रूप अर्धमागधी में मिलते हैं, महाराष्ट्री में वैसे नहीं।

नाम-विभक्ति

१—अर्धमागधी में पुल्लिंग अकारान्त शब्द के प्रथमा के एक वचन में प्रायः सर्वत्र 'ए' और क्वचित् 'ओ' होता है, किन्तु महाराष्ट्री में 'ओ' ही होता है।

२—सप्तमी का एक वचन 'स्सिं' होता है जब महाराष्ट्री में 'म्मि'।

३—चतुर्थी के एक वचन में 'आए' या 'आते' होता है, जैसे देवाए, सवणयाए, गमणाए, अट्ठाए, अहिताते, असुभाते, अक्खमाते (ठा० पत्र ३५८) इत्यादि, महाराष्ट्री में यह नहीं है।

४—अनेक शब्दों के तृतीया के एक वचन में 'सा' होता है, यथा—मणसा, वयसा, कायसा, जोगसा, बलसा, चक्खुसा; महाराष्ट्री में इनके स्थान में क्रमशः मणेण, वएण, काएण, जोगेण, बलेण, चक्खुणा।

५—'कम्म' और 'धम्म' शब्द के तृतीया के एक वचन में पाली की तरह 'कम्मुणा' और धम्मुणा' होता है, जबकि महाराष्ट्री में 'कम्मेण' और 'धम्मेण'।

६—अर्धमागधी में 'तत्' शब्द के पंचमी के बहुवचन में 'तेब्भो' रूप भी देखा जाता है।

७—'युष्मत्' शब्द का षष्ठी का एक वचन संस्कृत की तरह 'तव' और 'अस्मत्' का षष्ठी का बहुवचन 'अस्माकं' अर्धमागधी में पाया जाता है, जो महाराष्ट्री में नहीं है।

आख्यात-विभक्ति

१—अर्धमागधी में भूतकाल के बहुवचन में 'इंसु' प्रत्यय है, जैसे—पुच्छिंसु, गच्छिंसु आभासिंसु इत्यादि। महाराष्ट्री में यह प्रयोग लुप्त हो गया है।

धातु-रूप

१—अर्धमागधी में आइक्खइ, कुव्वइ, भुविं, होक्खती, बूया, अब्बवी, होत्था, हुत्था, पहारेत्था, आघं, दुरूहइ, विगिंचए, तिवायए, अकासी, तिउट्टई, तिउट्टिज्जा, पडिसंधयाति, सारयती, धेच्छिइ, समुच्छिहिंति, आहंसु प्रभृति प्रभृत प्रयोगों में धातु की प्रकृति, प्रत्यय अथवा—ये दोनों जिस प्रकार में पाये जाते हैं, महाराष्ट्री में वे भिन्न-भिन्न प्रकार के देखे जाते हैं।

धातु-प्रत्यय

१—अर्धमागधी में 'त्वा' प्रत्यय के रूप अनेक तरह के होते हैं:—

(क) ट्टु; जैसे—कट्टु; साहट्टु, अवहट्टु इत्यादि।

(ख) इत्ता, एत्ता, इत्ताणं और एत्ताणं; यथा—चइत्ता, विउट्टित्ता, पासित्ता, करेत्ता, पासित्ताणं, करेत्ताणं इत्यादि।

(ग) इत्तु; यथा—दुरुहित्तु, जाणित्तु, बधित्तु, प्रभृति।

(घ) च्चा; जैसे—किच्चा, णच्चा, मोच्चा, भोच्चा, चेच्चा आदि।

(ङ) इंया; यथा—परिजाणिया, दुरूहिया आदि।

(च) इनके अतिरिक्त विउक्कम्म, निसम्म, समिच्च, संखाए, अणुवीति, लद्धुं, लद्धूण, दिस्सा आदि प्रयोगों में त्वा' के रूप भिन्न-भिन्न तरह के पाये जाते हैं।

२—'तुम्' प्रत्यय के स्थान में इत्तए या इत्तते प्रायः देखने में आता है। जैसे—करित्तए, गच्छित्तए, संभुंजित्तए, उवासमित्तते (विपा० १३) विहरित्तए आदि।

३—अकारान्त धातु के 'त' प्रत्यय के स्थान में 'ड' होता है, जैसे—कड, मड, अभिहड, वावड; संवुड, वियुड, वित्थड प्रभृति।

तद्धित

१—'तर' प्रत्यय का तराय रूप होता है, यथा अणिठ्ठतराए, अप्पतराए, बहुतराए, कंततराए इत्यादि।

२—आउसो, आउसंतो, गोमी, बुसिमं, भगवंतो, पुरत्थिम, पच्चत्थिम, ओयंसी, दोसिणो, पोरेवच्च आदि प्रयोगों में 'मतुप्', और अन्य 'तद्धित' प्रत्ययों के जैसे रूप जैन अर्धमागधी में देखे जाते हैं, महाराष्ट्री में वे भिन्न तरह के होते हैं।

महाराष्ट्री से जैन अर्धमागधी में इनके अतिरिक्त और भी अनेक सूक्ष्म भेद हैं, जिनका उल्लेख विस्तार-भय से यहाँ नहीं किया गया है।

आगम-वाचनाएं

वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में (१६० वर्ष पश्चात्) पाटलीपुत्र में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ [१८]। उस समय श्रमण-संघ छिन्न-भिन्न सा हो गया। बहुत सारे बहुश्रुत मुनि अनशन कर स्वर्ग-वासी हो गए। आगम-ज्ञान की श्रृङ्खला टूट सी गई। दुर्भिक्ष मिटा तब संघ मिला। श्रमणों ने ग्यारह अंग संकलित किए। बारहवें अंग के ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी के सिवाय कोई नहीं रहा। वे नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ की प्रार्थना पर उन्होंने बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार कर लिया। पन्द्रह सौ साधु गए। उनमें पाँच सौ विद्यार्थी थे और हजार साधु उनकी परिचर्या में नियुक्त थे। प्रत्येक विद्यार्थी-साधु के दो-दो साधु परिचारक थे। अध्ययन प्रारम्भ हुआ। लगभग विद्यार्थी-साधु थक गए। एकमात्र स्थूलभद्र बच रहे। उन्हें दस पूर्व की वाचना दी गई। बहिनों को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होंने सिंह का रूप बना लिया। भद्रबाहु ने इसे जान लिया। वाचना बन्द करदी। फिर बहुत आग्रह करने पर चार पूर्व दिये पर उनका अर्थ नहीं बताया। स्थूलभद्र पाठ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत-केवली थे। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु ही थे। स्थूलभद्र के बाद दश पूर्व का ज्ञान ही शेष रहा। वज्रस्वामी अन्तिम दश-पूर्वधर हुए। वज्रस्वामी के उत्तराधिकारी आर्य-रक्षित हुए। वे नौ पूर्व पूर्ण और दसवें पूर्व के २४ यविक जानते थे। आर्य-रक्षित के शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने नौ पूर्वों का अध्ययन किया किन्तु अनभ्यास के

कारण वे नवें पूर्व को भूल गए। विस्मृति का यह क्रम आगे बढ़ता गया।

आगम-संकलन का दूसरा प्रयत्न वीर-निर्वाण ८२७ और ८४० के बीच हुआ। आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम लिखे गए। यह कार्य मथुरा में हुआ। इसलिए इसे माथुरी-वाचना कहा जाता है। इसी समय वल्लभी में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में आगम संकलित हुए। उसे वल्लभी-वाचना या नागार्जुनीय वाचना कहा जाता है।

वीर-निर्वाण की १० वीं शताब्दी-माथुरी-वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर-निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् तथा वल्लभी-वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर-निर्वाण के ९९३ वर्ष पश्चात् देवर्द्धिगणी ने वल्लभी में फिर से आगमों का व्यवस्थित लेखन किया। इसके पश्चात् फिर कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई। वीर की दसवीं शताब्दी के पश्चात् पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गई [११]।

आगम-विच्छेद का क्रम

भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर-निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ। आर्थी-दृष्टि से अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद इसी समय हुआ। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार यह वीर-निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् हुआ।

शाब्दी दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व स्थूलभद्र की मृत्यु के समय वीर-निर्वाण के २१६ वर्ष पश्चात् विच्छिन्न हुए। इनके बाद दशपूर्वों की परम्परा आर्यवज्र तक चली। उनका स्वर्गवास वीर-निर्वाण के ५७१ (विक्रम संवत् १०१) वर्ष पश्चात् हुआ। उसी समय दशवां पूर्व विच्छिन्न हुआ। नवां पूर्व दुर्बलिका-पुष्यमित्र की मृत्यु के साथ—वीर-निर्वाण ६०४ वर्ष (वि० संवत् १३४) में लुप्त हुआ।

पूर्वज्ञान का विच्छेद वीर-निर्वाण (वि० संवत् ५३०) के हजार वर्ष पश्चात् हुआ।

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण के ६२ वर्ष तक केवल-ज्ञान रहा। अन्तिम केवली जम्बूस्वामी हुए। उनके पश्चात् १०० वर्ष तक चौदह पूर्वों का ज्ञान रहा। अन्तिम चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु हुए। उनके पश्चात् १८३ वर्ष तक दशपूर्व रहे। धर्मसेन अन्तिम दशपूर्वी थे। उनके पश्चात् ग्यारह

अंगों की परम्परा २२० वर्ष तक चली। उनके अन्तिम अध्येता ध्रुवसेन हुए। उनके पश्चात् एक अंग-आचारांग का अध्ययन ११८ वर्ष तक चला। इसके अन्तिम अधिकारी लोहार्य हुए। वीर-निर्वाण ६८३ (विक्रम संवत् २१३) के पश्चात् आगम-साहित्य सर्वथा लुप्त हो गया। केवल-ज्ञान की लोप की मान्यता में दोनों सम्प्रदाय एक मत हैं। चार पूर्वों का लोप भद्रबाहु के पश्चात् हुआ, इसमें ऐक्य है। केवल काल-दृष्टि से आठ वर्ष का अन्तर है। श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार उनका लोप वीर-निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात्। यहाँ तक दोनों परम्पराएं आस-पास चलती हैं। इसके पश्चात् उनमें दूरी बढ़ती चली जाती हैं। दशवें पूर्व के लोप की मान्यता में दोनों में काल का बड़ा अन्तर है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार दशपूर्वी वीर-निर्वाण से ५८४ वर्ष तक हुए और दिगम्बर-परम्परा के अनुसार २४५ वर्ष तक। श्वेताम्बर एक पूर्व की परम्परा को देवर्द्धिगणि तक ले जाते और आगमों के कुछ मौलिक भाग को अब तक सुरक्षित मानते हैं। दिगम्बर वीर-निर्वाण ६८३ वर्ष पश्चात् आगमों का पूर्ण लोप स्वीकार करते हैं।

आगम का मौलिक रूप

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के ६८३ के पश्चात्—आगमों का मौलिक स्वरूप लुप्त हो गया।

श्वेताम्बर-मान्यता है कि आगम-साहित्य का मौलिक स्वरूप बड़े परिमाण में लुप्त हो गया किन्तु पूर्ण नहीं, अब भी वह शेष है। अंगों और उपांगों की जो तीन बार संकलना हुई, उसमें मौलिक रूप अवश्य ही बदला है। उत्तरवर्ती घटनाओं और विचारणाओं का समावेश भी हुआ है। स्थानांग में सात निह्नवों और नव गणों का उल्लेख स्पष्ट प्रमाण है। प्रश्न-व्याकरण का जो विषय-वर्णन है, वह वर्तमान रूप में उपलब्ध नहीं है। इस स्थिति के उपरान्त भी अंगों का अधिकांश भाग मौलिक है। भाषा और रचना शैली की दृष्टि से वह प्राचीन है। आचारांग का प्रथम श्रुतरचना शैली की दृष्टि से शेष सब अंगों से भिन्न है। आज के भाषा-शास्त्री उसे ढाई हजार वर्ष प्राचीन बतलाते

हैं। सूत्र कृतांग, स्थानांग और भगवती भी प्राचीन हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।

अनुयोग

अनुयोग का अर्थ है—सूत्र और अर्थ का उचित सम्बन्ध, वे चार हैं (१) चरणकरणानुयोग (२) धर्मकथानुयोग (३) गणितानुयोग (४) द्रव्यानुयोग। आर्य-वज्र तक अनुयोग के विभाग नहीं थे। प्रत्येक सूत्र में चारों अनुयोगों का प्रतिपादन किया जाता था। आर्य-रक्षित ने इस पद्धति में परिवर्तन किया। इसके निमित्त उनके शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र बने। आर्य-रक्षित के चार प्रमुख शिष्य थे। दुर्बलिका पुष्य, फल्गुरक्षित, विन्ध्य और गोष्ठामाहिल। विन्ध्य इनमें मेधावी था। उसने आर्य-रक्षित से प्रार्थना की—"प्रभो! मुझे सहपाठ में अध्ययन-सामग्री बहुत विलम्ब से मिलती है। इसलिए शीघ्र मिले, ऐसी व्यवस्था कीजिए। "आर्य-रक्षित ने उसे आलापक देने का भार दुर्बलिका पुष्य को सौंपा। कुछ दिन तक वे उसे वाचना देते रहे। फिर एक दिन दुर्बलिका पुष्य ने आर्य-रक्षित से निवेदन किया—गुरुदेव! इसे वाचना दूंगा तो मेरा नवां पूर्व विस्मृत हो जाएगा। अब जो आर्यवर का आदेश हो वही करूं। आर्य-रक्षित ने सोचा—दुर्बलिका पुष्य की यह गति है। अब प्रज्ञा-हानि हो रही है। प्रत्येक सूत्र में चारों अनुयोगों को धारण करने की क्षमता रखने वाले अब अधिक समय तक नहीं रह सकेंगे। चिन्तन के पश्चात् उन्होंने आगमों को—चार अनुयोगों के रूप में विभक्त कर दिया [२०]।

आगमों का पहला संस्करण भद्रबाहु के समय में हुआ था और दूसरा संस्करण आर्य-रक्षित ने (वीर निर्वाण ५८४-५९७ में) किया। इस संस्करण में व्याख्या की दुरूहता मिट गई। चारों अनुयोगों में आगमों का विभाग इस प्रकार किया :—

(१) चरण-करण-अनुयोग	—कालिक सूत्र
(२) धर्मकथानुयोग	—उत्तराध्ययन आदि ऋषि-भाषित
(३) गणितानुयोग (कालानुयोग)	—सूर्य प्रज्ञप्ति आदि
(४) द्रव्यानुयोग	—दृष्टिवाद[२१]

दिगम्बर-परम्परा में ये चार अनुयोग कुछ रूपान्तर से मिलते हैं। उनके नाम क्रमशः ये हैं :—

(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग [२२]।

श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार चार अनुयोगों का विषय क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आचार

(२) चरित, दृष्टान्त, कथा आदि

(३) गणित, काल

(४) द्रव्य, तत्त्व

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार चार अनुयोगों का विषय क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) महापुरुषों के जीवन-चरित

(२) लोकालोक विभक्ति, काल, गणित

(३) आचार

(४) द्रव्य, तत्त्व।

दिगम्बर आगमों को लुप्त मानते हैं, इसलिए वे प्रथमानुयोग में महापुराण और पुराण, करणानुयोग में त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, चरणानुयोग में मूलाचार और द्रव्यानुयोग में प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि को समाविष्ट करते हैं।

लेखन और प्रतिक्रिया

जैन-साहित्य के अनुसार लिपि का प्रारम्भ प्राग्-ऐतिहासिक है। प्रज्ञापना में १८ लिपियों का उल्लेख मिलता है[२३]। भगवान् ऋषभनाथ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियां सिखाईं—ऐसा उल्लेख विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति, त्रिषष्टि श्लाका पुरुष चरित्र आदि में मिलता है[२४]। जैन-सूत्र वर्णित ७२ कलाओं में लेख-कला का पहला स्थान है[२५]। भगवान् ऋषभनाथ ने ७२ कलाओं का उपदेश किया तथा असि, मषि और कृषि—ये तीन प्रकार के व्यापार चलाए[२६]। इनमें आये हुए लेख-कला और मषि शब्द लिखने की परम्परा को कर्म-युग के आरम्भ तक ले जाते हैं। नन्दी सूत्र में तीन प्रकार

का अक्षर-श्रुत बतलाया है। इसमें पहला संज्ञाक्षर है। इस का अर्थ होता है—अक्षर की आकृति—संस्थान-लिपि।

लेख-सामग्री

प्राग्-ऐतिहासिक काल में लिखने की सामग्री कैसी थी, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता[२७]। राजप्रश्नीय सूत्र में पुस्तक रत्न का वर्णन करते हुए कम्बिका (कामी), मोरा, गांठ, लिप्यासन (मषिपात्र) छंदन, (ढक्कन) सांकली, मषि और लेखनी—इन लेख-सामग्री के उपकरणों की चर्चा की गई है। प्रज्ञापना में 'पोत्थारा' शब्द आता है[२८]। जिसका अर्थ होता है—लिपिकार—पुस्तक-विज्ञान-आर्य—इसे शिल्पार्य में गिना गया है तथा इसी सूत्र में बताया गया है कि अर्ध-मागधी भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले भाषार्य होते हैं[२९]। भगवती सूत्र के आरम्भ में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में भी लिखने का इतिहास है। भाव-लिपि के पूर्व वैसे ही द्रव्य-लिपि रहती हैं, जैसे भाव-श्रुत के पूर्व द्रव्य-श्रुत होता है। द्रव्य-श्रुत श्रूयमाण शब्द और पठ्यमान शब्द दोनों प्रकार का होता है। इससे सिद्ध है कि द्रव्य-लिपि द्रव्य-श्रुत से अतिरिक्त नहीं, उसी का एक अंश है। स्थानांग में पांच प्रकार की पुस्तकें बतलाई हैं[३०]—(१) गण्डी (२) कच्छवी (३) मुष्टि (४) संपुट फलक (५) सृपाटिका। हरिभद्र सूरि ने भी दशवैकालिक टीका में प्राचीन आचार्यों की मान्यता का उल्लेख करते हुए इन्हीं पुस्तकों का उल्लेख किया है[३१]। निशीथ चूर्णी में भी इनका उल्लेख है[३२]। अनुयोग द्वार का पोत्थकम्म (पुस्तककर्म) शब्द भी लिपि की प्राचीनता का एक प्रबल प्रमाण है। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताड़-पत्र अथवा संपुटक-पत्र संचय किया है और कर्म का अर्थ उसमें वर्तिका आदि से लिखना। इसी सूत्र में आये हुए पोत्थकार (पुस्तककार) शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने वाला' किया है। जीवाभिगम (३ प्रति ४ अधि०) के पोत्थार (पुस्तककार) शब्द का भी यही अर्थ होता है। भगवान् महावीर की पाठशाला में पढ़ने-लिखने की घटना भी तात्कालिक लेखन-प्रथा का एक प्रमाण है। वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में आक्रान्ता सम्राट् सिकन्दर के सेनापति निआर्क्स ने लिखा है[३३]—'भारतवासी लोग कागज बनाते

थे[३४]।' ईसवी के दूसरे शतक में ताड़-पत्र और चौथे में भोज-पत्र लिखने के व्यवहार में लाए जाते थे[३५]। वर्तमान में उपलब्ध लिखित ग्रन्थों में ई० सं० पांचवीं में लिखे हुए पत्र मिलते हैं[३६]। तथ्यों के आधार पर हम जान सकते हैं कि भारत में लिखने की प्रथा प्राचीनतम है। किन्तु समय-समय पर इसके लिए किन-किन साधनों का उपयोग होता था, इसका दो हजार वर्ष पुराना रूप जानना अति कठिन है। मोटे तौर पर हमें यह मानना होगा कि भारतीय वाङ्मय का भाग्य लम्बे समय तक कण्ठस्थ-परम्परा में ही सुरक्षित-रहा है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों परम्पराओ के शिष्य उत्तराधिकार के रूप में अपने-अपने आचार्यों द्वारा विधान का अक्षय-कोष पाते थे।

आगम लिखने का इतिहास

जैन दृष्टि के अनुसार श्रुत-आगम की विशाल ज्ञान-राशि १४ पूर्व में संचित है। वे कभी लिखे नहीं गए। किन्तु अमुक-अमुक परिमाण स्याही से उनके लिखे जा सकने की कल्पना अवश्य हुई है—द्वादशवर्षीय दुष्काल के बाद मथुरा में आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में साधु-संघ एकत्र हुआ। आगमों को संकलित कर लिखा गया और आर्य स्कन्दिल ने साधुओं को अनुयोग की वाचना दी। इसलिए उनकी वाचना माथुरी वाचना कहलाई। इनका समय वीर-निर्वाण ८२७ से ८४० तक माना जाता है। मथुरा-वाचना के ठीक समय पर वलभी में नागार्जुन सूरि ने श्रमण-संघ को एकत्र कर आगमों को संकलित किया। नागार्जुन और अन्य श्रमणों को जो आगम और प्रकरण याद थे, वे लिखे गए। संकलित आगमों की वाचना दी गई, यह 'नागार्जुनीय' वाचना कहलाती है। कारण कि इसमें नागार्जुन की प्रमुखता थी। वीर-निर्वाण ९८० वर्ष में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने फिर आगमों को पुस्तकारूढ़ किया और संघ के समक्ष उसका वाचन किया[३७]। यह कार्य वलभी में सम्पन्न हुआ। पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय लिखे गए आगमों के अतिरिक्त अन्य प्रकरण-ग्रन्थ भी लिखे गए। दोनों वाचनाओं के सिद्धान्तों का समन्वय किया गया और जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें 'पाठान्तर' आदि वाक्यावली के साथ आगम, टीका, चूर्णि में संगृहीत किया गया[३८]।

प्रतिक्रिया

आगमों के लिपि-बद्ध होने के उपरान्त भी एक विचारधारा ऐसी रही कि साधु पुस्तक लिख नहीं सकते और अपने साथ रख भी नहीं सकते। पुस्तक लिखने और रखने में दोष बताते हुए लिखा है। १—अक्षर लिखने में कुन्थु आदि त्रस जीवों की हिंसा होती है, इसलिए पुस्तक लिखना संयम विराधना का हेतु है[३९]। २—पुस्तकों को ग्रामान्तर ले जाते हुए कंधे छिल जाते हैं, व्रण हो जाते हैं। ३—उनके छेदों की ठीक तरह 'पडिलेहना' नहीं हो सकती। ४—मार्ग में भार बढ़ जाता है। ५—वे कुन्थु आदि जीवों के आश्रय होने के कारण अधिकरण है अथवा चोर आदि से चुराए जाने पर अधिकरण हो जाते हैं। ६—तीर्थंकरों ने पुस्तक नामक उपधि रखने की आज्ञा नहीं दी है। ७—उनके पास में होते हुए सूत्र—गुणन में प्रमाद होता है—आदि-आदि। साधु जितनी बार पुस्तकों को बांधते हैं, खोलते हैं और अक्षर लिखते हैं उन्हें उतने ही चतुर्लघुकों का दण्ड आता है और आज्ञा आदि दोष लगते हैं[४०]। आचार्य श्री भिक्षु के समय भी ऐसी विचारधारा थी। उन्होंने इसका खण्डन भी किया है[४१]।

कल्प्य-अकल्प्य-मीमांसा

आगम सूत्रों में साधु को न तो लिखने की स्पष्ट शब्दों में आज्ञा ही है और न निषेध भी किया है। लिपि की अनेक स्थानों मे चर्चा होने पर साधु लिखते थे, इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती। साधु के लिए स्वाध्याय और ध्यान का विधान किया है। उसके साथ लिखने का विधान नहीं मिलता। ध्यान कोष्ठोपगत, स्वाध्याय और सद्ध्यान रक्त आदि पदों की भांति—'लेख-रक्त' आदि शब्द नहीं मिलते[४२]। साधु की उपधि-संख्या में भी लेखन-सामग्री के किसी उपकरण का उल्लेख नहीं मिलता। ये सब पुराकाल में 'जैन साधु नहीं लिखते थे'—इसके पोषक हैं। ऐसा एक मन्तव्य है। फिर भी उनको लिखने का कल्प नहीं था—ऐसा उनके आधार पर नहीं कहा जा सकता। इनमें एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है। वह है उपधि की संख्या। कई आचार्यों का १४ उपधि से अधिक उपधि न रखने का आग्रह था। आचार्य भिक्षु ने इसके प्रतिकार में यह बताया कि साधु इनके

अतिरिक्त उपकरण रख सकता है[४३]। प्रश्न व्याकरण में साधु के लिए लगातार १९ उपधि गिनाये हैं[४४]। अन्य सूत्रों की साक्षी से उपधि का संकलन किया जाय तो उनकी संख्या ३० तक पहुँच जाती है। साध्वी के लिए ४ उपधि और स्थविर के लिए ११ उपधि और अधिक बतलाए गए हैं[४५]। अब प्रश्न यह होता है कि उपकरणों की इस संख्या से अतिरिक्त उपकरण जो रखे जाते हैं, वे कैसे ? इसके उत्तर में कहना होगा कि वह हमारे आचार्यों की स्थापना है। सूत्र से विरुद्ध न समझ कर उन्होंने वैसी आज्ञा दी है। जैसा कि आचार्य भिक्षु ने कहा है[४६]। केवल लिखने के लिए सम्भवतः २०-२५ या उससे भी अधिक उपकरणों की जरूरत होती है। सूत्रों में इनके रखने की साफ शब्दों में आज्ञा तो दूर चर्चा तक नहीं है। इसी आधार पर कइयों ने पुस्तक-पन्नों तथा लेख-सामग्री रखने का विरोध किया। इस पर आचार्य भिक्षु ने कहा कि सूत्रों में शुद्ध साधुओं के लिए लिखना चला बताया गया है[४७]। इसलिए पन्नें तथा लेख-सामग्री रखने में कोई दोष नहीं है। क्योंकि जो लिखेंगे, उन्हें पत्र और लेखनी भी रखने होंगे। स्याही भी और स्याही-पात्र भी[४८]। आचार्य भिक्षु ने साधु को लिखना कल्पता है और जब लिखने का कल्प है तब उसके लिए सामग्री भी रखनी होगी, ऐसा स्थिर विचार प्रस्तुत ही नहीं किया अपितु प्रमाणों से समर्थित भी किया है। इसके समर्थन में चार शास्त्रीय प्रमाण दिए हैं[४९]। इनमें निशीथ की प्रशस्ति-गाथा को छोड़ कर शेष तीनों प्रमाण लिखने की प्राचीनता के साधक हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। बहुविध-अवग्रह वाली मति-सम्पदा से साधुओं के लिखने की पद्धति की स्पष्ट जानकारी मिलती है। निशीथ की प्रशस्ति गाथा का लिखित (लिहियं) शब्द महत्तर विशाख गणि की लिपि का सूचक माना जाए तो यह भी लिखने का एक पुष्ट प्रमाण माना जा सकता है। किन्तु यदि इस लिखित शब्द को अन्य अर्थ में लिया जाए तो हमें मानना होगा कि मूल पाठ में लिखने की बात नहीं मिलती। इसलिए हमें इसे आचार्यों के द्वारा की हुई सयौक्तिक स्थापना ही मानना होगा। पूर्ववर्ती आचार्यों ने शास्त्रों का विच्छेद न हो, इस दृष्टि से आगे चल कर पुस्तक रखने का विधान किया, यह भी उनकी जीत-व्यवहार-परम्परा है[५०]।

अंग-उपांग तथा छेद और मूल

दिगम्बर-साहित्य में आगमों के दो ही विभाग मिलते हैं—अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य।

श्वेताम्बर-परम्परा में भी मूल-विभाग यही रहा। स्थानांग, नन्दी आदि में यही मिलता है। आगम-विच्छेद काल में पूर्वों और अंगों के निर्यूहण और शेषांष रहे, उन्हें पृथक् संज्ञाएं मिलीं। निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प और दशाश्रुत-स्कन्ध को छेद-सूत्र कहा गया।

आगम-पुरुष की कल्पना हुई, तब अंग-प्रविष्ट को उसके अंग स्थानीय और बारह सूत्रों का उपांग-स्थानीय माना गया। पुरुष के जैसे दो पैर, दो जंघाएं, दो ऊरु, दो गात्रार्ध, दो बाहु, ग्रीवा और शिर—ये बारह अंग होते हैं, वैसे ही आचार आदि श्रुत-पुरुष के बारह अंग हैं। इसलिए ये अंग-प्रविष्ट कहलाते हैं[५१]।

कान, नाक, आँख, जंघा, हाथ और पैर—ये उपांग हैं। श्रुत-पुरुष के भी औपपातिक आदि बारह उपांग हैं।

बारह अंगों और उनके उपांगों की व्याख्या इस प्रकार है :—

अंग	उपांग
आचार	औपपातिक
सूत्र	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	सूर्य-प्रज्ञप्ति
ज्ञातृधर्म कथा	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृद्-दशा	कल्पिका
अनुत्तरोपपातिक दशा	कल्पावतंसिका
प्रश्न-व्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्प-चूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णि-दशा[५२]

उपांग का प्रयोग उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ-भाष्य में किया है[५३]।

अंग स्वतः और उपांग परतः प्रमाण हैं, इसलिए अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि से यह प्रयोग समुचित है।

छेद का प्रयोग उनके भाष्यों में मिलता है। मूल का प्रयोग संभवतः सबसे अधिक अर्वाचीन है। दशवैकालिक, नन्दी, उत्तराध्ययन और अनुयोगद्वार—ये चार मूल माने जाते हैं। कई आचार्य महानिशीथ और जीतकल्प को मिला छेद-सूत्र छह मानते हैं। कई जीतकल्प के स्थान में पंचकल्प को छेद-सूत्र मानते हैं।

मूल-सूत्रों की संख्या में भी एक मत नहीं है। कई आचार्य आवश्यक और ओघ-निर्युक्ति को भी मूल-सूत्र मान इनकी संख्या छह बतलाते हैं। कई ओघनिर्युक्ति के स्थान में पिण्ड-निर्युक्ति को मूल-सूत्र मानते हैं।

कई आचार्य नन्दी और अनुयोगद्वार को मूल-सूत्र नहीं मानते। उनके अनुसार ये चूलिका-सूत्र हैं। इस प्रकार अंग-बाह्य श्रुत की समय-समय पर विभिन्न रूपों में योजना हुई है।

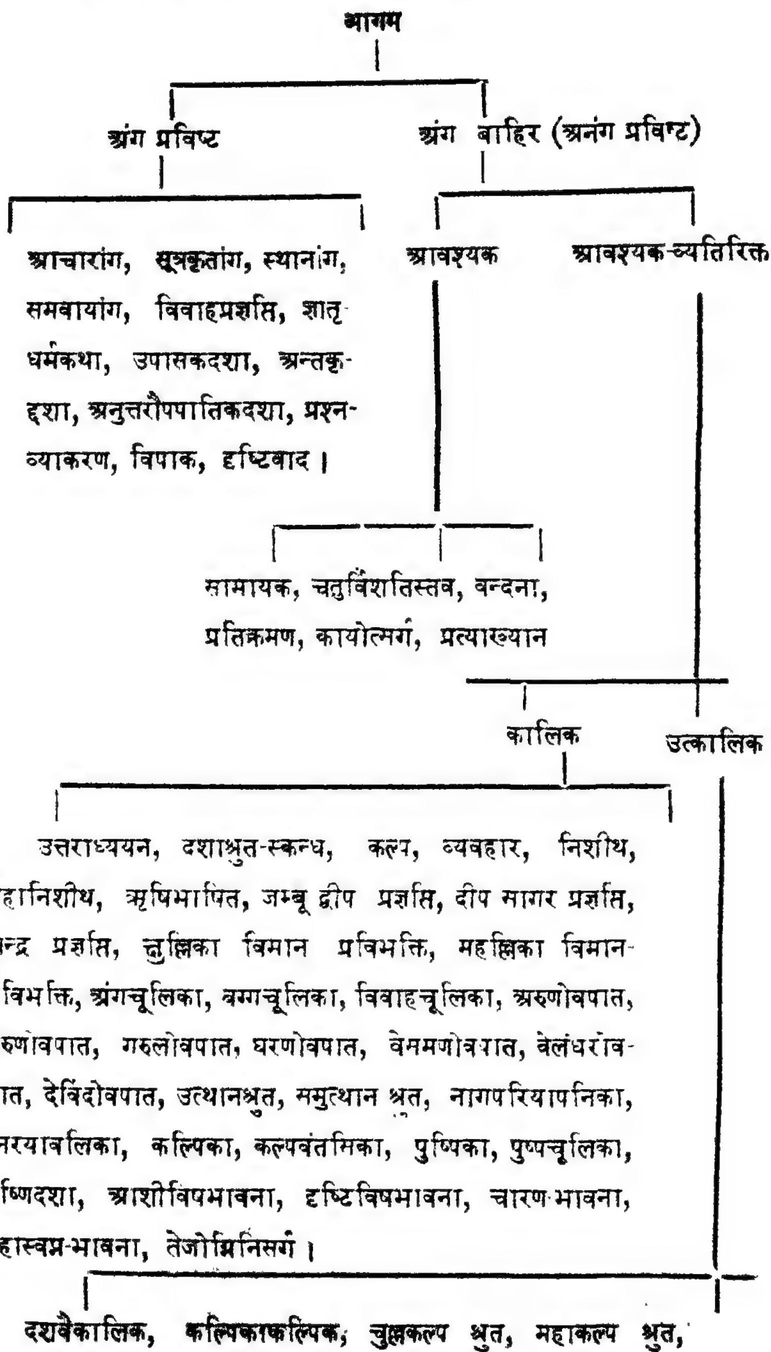
आगमों का वर्तमान रूप और संख्या

द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के पश्चात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्रमण-संघ मिला। बहुत सारे बहु-श्रुत मुनि काल कर चुके थे। साधुओं की संख्या भी कम हो गई थी। श्रुत की अवस्था चिन्तनीय थी। दुर्भिक्ष जनित कठिनाइयों से प्रासुक भिक्षाजीवी साधुओं की स्थिति बड़ी विचारणीय थी। श्रुत की विस्मृति हो गई।

देवर्द्धिगणि ने अवशिष्ट संघ को वलभी में एकत्रित किया। उन्हें जो श्रुत कण्ठस्थ था, वह उनसे सुना। आगमों के आलापक छिन्न-भिन्न, न्यूनाधिक मिले। उन्होंने अपनी मति से उनका संकलन किया, संपादन किया और पुस्तकारूढ़ किया।

आगमों का वर्तमान संस्करण देवर्द्धिगणि का है। अंगों के कर्त्ता गणधर हैं। अंग बाह्य-श्रुत के कर्त्ता स्थविर हैं। उन सबका संकलन और सम्पादन करने वाले देवर्द्धिगणि हैं। इसलिए वे आगमों के वर्तमान-रूप के कर्त्ता भी माने जाते हैं[५४]।

नंदी सूत्र में आगमों की सूची इस प्रकार है :—



औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, महाप्रज्ञापना, प्रमादाप्रमाद, नन्दी, अनुयोगद्वार, देवेन्द्रस्तव, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रावेध्यक, सूर्यप्रज्ञप्ति, पौरुषी मंडल, मंडल प्रवेश, विद्या—चरण-विनिश्चय, गणि-विद्या, ध्यान-विभक्ति, मरण विभक्ति, आत्म-विशोधि, वीतराग-श्रुत, संलेखना-श्रुत, विहार-कल्प, चरणविधि, आतुर-प्रत्याख्यान, महा-प्रत्याख्यान। (नं० ४६)

इनमें से कुछ आगम उपलब्ध नहीं हैं। जो उपलब्ध हैं, उनमें मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय कुछ निर्युक्तियों को मिला ४५ या ८४ आगमों को प्रमाण मानता है।

४५ आगमों की सूची

(१) आचारांग
(२) सूत्रकृतांग
(३) स्थानांग
(४) समवायांग
(५) व्याख्या प्रज्ञप्ति
(६) ज्ञातृ धर्म कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृद्दशा
(९) अनुत्तरौपपातिक
(१०) प्रश्न-व्याकरण
(११) विपाक
(१२) औपपातिक
(१३) राजप्रश्नीय
(१४) जीवाजीवाभिगम
(१५) प्रज्ञापना
(१६) सूर्य-प्रज्ञप्ति
(१७) चन्द्र-प्रज्ञप्ति
(१८) जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति
(१९) कल्पिका
(२०) कल्पावंतसिका
(२१) पुष्पिका
(२२) पुष्प-चूलिका
(२३) वृष्णि-दशा
(२४) आवश्यक
(२५) दशवैकालिक
(२६) उत्तराध्ययन
(२७) पिण्ड-निर्युक्ति अथवा ओघ-निर्युक्ति
(२८) नन्दी
(२९) अनुयोगद्वार
(३०) निशीथ
(३१) महा-निशीथ
(३२) बृहत्कल्प
(३३) व्यवहार
(३४) दशाश्रुत-स्कंध
(३५) पंचकल्प (विच्छिन्न)
(३६) आतुर-प्रत्याख्यान
(३७) भक्त-परिज्ञा
(३८) तन्दुल-वैचारिक
(३९) चन्द्र-वेध्यक

(४०) देवेन्द्रस्तव
(४१) गणि-विद्या
(४२) महा-प्रत्याख्यान
(४३) चतुःशरण
(४४) वीरस्तव
(४५) संस्तारक

८४ आगमों की सूची

१ से ४५—पूर्वोक्त

४६—कल्प-सूत्र (पर्युषणाकल्प, जिन चरित, स्थविरावलि, समाचारी)

४७—यतिजीत-कल्प (सोमप्रभ सूरि)
४८—श्रद्धाजीत-कल्प (धर्मघोषसूरि)
} दोनों जीत-कल्प

४९—पाक्षिक-सूत्र
५०—क्षमापना-सूत्र
} आवश्यक सूत्र के अंग हैं।

५१—वंदितु
५२—ऋषि-भाषित
५३—अजीव-कल्प
५४—गच्छाचार
५५—मरण-समाधि
५६—सिद्ध-प्राभृत
५७—तीर्थोद्गार
५८—आराधना-पताका
५९—द्वीपसागर प्रज्ञप्ति
६०—ज्योतिष-करण्डक
६१—अंग-विद्या
६२—तिथि-प्रकीर्णक
६३—पिण्ड-विशुद्धि
६४—सारावलि
६५—पर्यन्ताराधना
६६—जीव-विभक्ति
६७—कवच-प्रकरण
६८—योनि-प्राभृत
६९—अंगचूलिया
७०—वग्गचूलिया
७१—वृद्ध-चतुः शरण
७२—जम्बू-पयन्ना
७३—आवश्यक-निर्युक्ति
७४—दशवैकालिक-निर्युक्ति
७५—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
७६—आचारांग-निर्युक्ति
७७—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
७८—सूर्य-प्रज्ञप्ति
७९—बृहत्कल्प-निर्युक्ति
८०—व्यवहार
८१—दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति
८२—ऋषिभाषित-निर्युक्ति (अनुपलब्ध)
८३—संसक्त निर्युक्ति
८४—विशेष-आवश्यक-भाष्य

स्थानकवासी और तेरापन्थ के अनुसार मान्य आगम ३२ हैं। वे ये हैं :—

आगम

अंग	उपांग	मूल	छेद	
१–आचारांग	१–औपपातिक	१–दशवैकालिक	१–निशीथ	१–आवश्यक
२–सूत्रकृतांग	२–राजप्रश्नीय	२–उत्तराध्ययन	२–व्यवहार	
३–स्थानांग	३–जीवाभिगम	३–अनुयोगद्वार	३–बृहत्कल्प	
४–समवायांग	४–प्रज्ञापना	४–नन्दी	४–दशाश्रुतस्कन्ध	
५–भगवती	५–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति			
६–ज्ञातृधर्मकथा	६–चन्द्र-प्रज्ञप्ति			
७–उपासकदशा	७–सूर्य प्रज्ञप्ति			
८–अन्तकृद्दशा	८–निरयावलिका			
९–अनुत्तरौपपातिक	९–कल्पवतंसिका			
१०–प्रश्न-व्याकरण	१०–पुष्पिका			
११–विपाक	११–पुष्पचूलिका			
	१२–वृष्णिदशा			

आगम का व्याख्यात्मक साहित्य

आगम के व्याख्यात्मक साहित्य का प्रारम्भ निर्युक्ति से होता है और वह "स्तबक" व जोड़ों तक चलता है।

द्वितीय भद्रबाहु ने ११ निर्युक्तियां लिखीं :—

१—आवश्यक-निर्युक्ति
२—दशवैकालिक-निर्युक्ति
३—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
४—आचारांग-निर्युक्ति
५—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
६—दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति
७—बृहत्कल्प-निर्युक्ति
८—व्यवहार-निर्युक्ति
९—पिण्ड-निर्युक्ति
१०—ओघ-निर्युक्ति
११—ऋषिभाषित-निर्युक्ति

इनका समय विक्रम की पांचवीं, छठी शताब्दी है। बृहत्कल्प की निर्युक्ति भाष्य-मिश्रित अवस्था में मिलती है, व्यवहार-निर्युक्ति भी भाष्य में मिली हुई है :—

भाष्य और भाष्यकार

१—दशवैकालिक-भाष्य
२—व्यवहार-भाष्य
३—बृहत्कल्प-भाष्य
४—निशीथ-भाष्य
५—विशेषावश्यक-भाष्य—जिनभद्र क्षमाश्रमण (सातवीं शताब्दी)
६—पंचकल्प-भाष्य—धर्मसेन गणी (छठी शताब्दी)

निर्युक्ति और भाष्य पद्यात्मक हैं, वे प्राकृत भाषा में लिखे गए हैं।

चूर्णियां और चूर्णिकार

चूर्णियां गद्यात्मक हैं। इनकी भाषा प्राकृत या संस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। निम्न आगम ग्रन्थों पर चूर्णियां मिलती हैं :—

१—आवश्यक
२—दशवैकालिक
३—नन्दी
४—अनुयोगद्वार
५—उत्तराध्ययन
६—आचारांग
७—सूत्रकृतांग
८—निशीथ
९—व्यवहार
१०—दशाश्रुत-स्कंध
११—बृहत्कल्प
१२—जीवाभिगम
१३—भगवती
१४—महा-निशीथ
१५—जीतकल्प
१६—पंचकल्प
१७—ओघ-निर्युक्ति

प्रथम आठ चूर्णियों के कर्त्ता जिनदास महत्तर हैं। इनका जीवनकाल विक्रम की सातवीं शताब्दी है। जीतकल्प-चूर्णी के कर्त्ता सिद्धसेन सूरि हैं। उनका जीवनकाल विक्रम की १२ वीं शताब्दी है। बृहत्कल्प चूर्णी प्रलम्ब सूरि की कृति है। शेष चूर्णिकारों के विषय में अभी जानकारी नहीं मिल रही है। दशवैकालिक की एक चूर्णि और है। उसके कर्त्ता हैं—अगस्त्यसिंह मुनि। उनका समय अभी भलिभांति निर्णीत नहीं हुआ।

टीकाएं और टीकाटार

आगमों के पहले संस्कृत-टीकाकार हरिभद्र सूरि हैं। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम पर टीकाएं लिखीं।

विक्रम की तीसरी शताब्दी में उमास्वाति ने जैन परम्परा में जो संस्कृत-वाङ्मय का द्वार खोला, वह अब विस्तृत होने लगा। शीलांक सूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर टीकाएं लिखीं। शेष नव अंगों के टीकाकार हैं—अभयदेव सूरि। अनुयोगद्वार पर मलधारी हेमचन्द्र की टीका है। नन्दी, प्रज्ञापना, व्यवहार, चन्द्र-प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, आवश्यक, वृहत्कल्प, राजप्रश्नीय आदि के टीकाकार मलयगिरि हैं।

आगम-साहित्य की समृद्धि के साथ-साथ न्याय-शास्त्र के साहित्य का भी विकास हुआ। वैदिक और बौद्ध न्याय-शास्त्रियों ने अपने-अपने तत्त्वों को तर्क की कसौटी पर कस कर जनता के सम्मुख रखने का यत्न किया। तब जैन न्याय-शास्त्री भी इस ओर मुड़े। विक्रम की पांचवीं शताब्दी में न्याय का जो नया स्रोत चला, वह बारहवीं शताब्दी में बहुत व्यापक हो चला।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में न्याय-शास्त्रियों की गति कुछ शिथिल हो गई। आगम के व्याख्याकारों की परम्परा आगे भी चली। विक्रम की १६ वीं सदी में श्रीमद् भिक्षु स्वामी और जयाचार्य आगम के यशस्वी व्याख्याता हुए। श्रीमद् भिक्षु स्वामी ने आगम के सैकड़ों दुरूह स्थलों पर प्रकीर्ण व्याख्याएं लिखी हैं। जयाचार्य ने आचारांग प्रथम श्रुत-स्कन्ध, ज्ञाता, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन (२७ अध्ययन) और भगवती सूत्र पर पद्यात्मक व्याख्या लिखी। आचारांग (द्वितीय श्रुत-स्कंध) का वार्तिक और आगम-स्पर्शी अनेक प्रकरण रचे।

इस प्रकार जैन-साहित्य आगम, आगम-व्याख्या और न्याय-शास्त्र से बहुत ही समृद्ध है। इनके आधार पर ही हम जैन दर्शन के हृदय को छूने का यत्न करेंगे।

परवर्ती-प्राकृत-साहित्य

आगम-लोप के पश्चात् दिगम्बर-परम्परा में जो साहित्य रचा गया, उसमें सर्वोपरि महत्त्व षट्-खण्डागम और कषाय-प्राभृत का है।

पूर्वों और अंगों के बचे-खुचे अंशों के लुप्त होने का प्रसंग आया। तब आचार्य धरसेन (विक्रम दूसरी शताब्दी) ने भूतबलि और पुष्पदन्त नाम दो साधुओं को श्रुताभ्यास कराया। इन दोनों ने षट्खण्डागम की रचना की। लगभग इसी समय में आचार्य गुणधर हुए। उन्होंने कषाय-प्राभृत रचा। ये पूर्वों के शेशांष हैं। इसलिए इन्हें पूर्वों से उद्‌धृत माना जाता है। इनपर प्राचीन कई टीकाएं लिखी गई हैं, वे उपलब्ध नहीं हैं। जो टीका वर्तमान में उपलब्ध है, वह आचार्य वीरसेन की है। इन्होंने विक्रम सम्वत् ८७३ में षट्खण्डागम की ७२ हजार श्लोक-प्रमाण धवला टीका लिखी।

कषाय-पाहुड़ पर २० हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखी। वह पूर्ण न हो सकी, बीच में ही उनका स्वर्ग-वास हो गया। उसे उन्हीं के शिष्य जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया। उसकी पूर्ति विक्रम सम्वत् ८९४ में हुई। उसका शेष भाग ४० हजार श्लोक-प्रमाण और लिखा गया। दोनों को मिला इसका प्रमाण ६० हजार श्लोक होता है। इसका नाम जय-धवला है। यह प्राकृत और संस्कृत के संक्रान्ति काल की रचना है। इसीलिए इसमें दोनों भाषाओं का मिश्रण है।

षट्-खण्ड का अन्तिम भाग महा-बंध है। इसके रचयिता आचार्य भूतबलि हैं। यह ४१ हजार श्लोक-प्रमाण है। इन तीनों ग्रन्थों में कर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है।

विक्रम की दूसरी शती में आचार्य कुन्दकुन्द हुए। इन्होंने अध्यात्म-वाद का एक नया स्रोत प्रवाहित किया। इनका झुकाव निश्चयनय की ओर अधिक था। प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकाय—ये इनकी प्रमुख रचनाएं हैं। इनमें आत्मानुभूति की वाणी आज भी उनके अन्तर-दर्शन की साक्षी है।

विक्रम दसवीं शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती हुए। उन्होंने गोम्मटसार और लब्धिसार-क्षपणासार—इन दो ग्रन्थों की रचना की। ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ये प्राकृत-शौरसेनी भाषा की रचनाएं हैं।

श्वेताम्बर-आचार्यों ने मध्ययुग में जैन-महाराष्ट्री में लिखा। विक्रम की तीसरी शती में शिवशर्म सूरि ने कम्मपयडी, उमास्वाति ने जम्बूद्वीप समास

लिखा। विक्रम की छठी शताब्दी में संघदास क्षमाश्रमण ने वासुदेव हिन्डी नामक एक कथा-ग्रन्थ लिखा, इसका दूसरा खण्ड धर्मसेनगणी ने लिखा[५५]। इसमें वसुदेव के पर्यटन के साथ-साथ अनेक लोक-कथाओं, चरित्रों, विविध वस्त्रों, उत्सवों और विनोद-साधनों का वर्णन किया है। जर्मन विद्वान् आल्सफोर्ड ने इसे बृहत्कथा के समकक्ष माना है[५६]।

विक्रम की सातवीं शताब्दी में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हुए। विशेषावश्यक भाष्य इनकी प्रसिद्ध कृति है। यह जैनागमों की चर्चाओं का एक महान् कोष है। जीतकल्प, विशेषणवती, बृहत्-संग्रहणी और बृहत्-क्षेत्र-समास भी इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

हरिभद्र सूरि विक्रम की आठवीं शती के विद्वान् आचार्य हैं। "समराइच्च कहा" इनका प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है। संस्कृत-युग में भी प्राकृत-भाषा में रचना का क्रम चलता रहा है।

मध्य काल में निमित्त, गणित, ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्र-विद्या, स्वप्न-विद्या, शिल्प-शास्त्र, व्याकरण, छन्द, कोष आदि अनेक विषयक ग्रन्थ लिखे गए हैं[५७]।

संस्कृत-साहित्य

विशिष्ट व्यक्तियों के अनुभव, उनकी संग्रहात्मक निधि, साहित्य और उसका आधार भाषा—ये तीनों चीजें दुनियां के सामने तत्त्व रखा करती हैं। सूरज, हवा और आकाश की तरह ये तीनों चीजें सबके लिए समान हैं। यह एक ऐसी भूमिका है, जहाँ पर साम्प्रदायिक, सामाजिक और जातीय या इसी प्रकार के दूसरे-दूसरे सब भेद मिट जाते हैं।

संस्कृत-साहित्य की समृद्धि के लिए किसने प्रयास किया या किसने न किया—यह विचार कोई महत्त्व नहीं रखता। वाङ्मय-सरिता सदा अभेद की भूमि में बहती है। फिर भी जैन, बौद्ध और वैदिक की त्रिपथ-गामिनी विचार धाराएँ हैं। वे त्रिपथगा (गंगा) की तरह लम्बे अर्से तक बही हैं।

प्राचीन वैदिकाचार्यों ने अपने सारभूत अनुभवों को वैदिक संस्कृत में रखा। जैनों ने अर्धमागधी भाषा और बौद्धों ने पाली भाषा के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत किए। इसके बाद में इन तीनों धर्मों के उत्तरवर्ती

आचार्यों ने जो साहित्य बनाया, वह लौकिक (वर्तमान में प्रचलित) संस्कृत को पल्लवित करने वाला ही है।

लौकिक संस्कृत में लिखने के सम्बन्ध में किसने पहल की और कौन पीछे से लिखने लगा, यह प्रश्न हो सकता है किन्तु ग्रन्थ किसने कम रचे और किसने अधिक रचे—यह कहना जरा कठिन है।

सक्कयं पागयं चेव, पसत्थं इसि भासियं[५८]

संस्कृत और प्राकृत—ये दोनों श्रेष्ठ भाषाएं हैं और ऋषियों की भाषाएं हैं। इस तरह आगम-प्रणेताओं ने संस्कृत और प्राकृत की समकक्षता स्वीकार करके संस्कृत का अध्ययन करने के लिए जैनों का मार्ग प्रशस्त बना दिया।

संस्कृत-भाषा तार्किकों के तीखे तर्क-बाणों के लिए तूणीर बन चुकी। इसलिए इस भाषा का अध्ययन न करने वालों के लिए अपने विचारों की सुरक्षा खतरे में थी। अतः सभी दार्शनिक संस्कृत-भाषा को अपनाने के लिए तेजी से पहल करने लगे।

जैनाचार्य भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे। वे समय की गति को पहचान ने वाले थे, इसलिए उनकी प्रतिभा इस ओर चमकी और स्वयं इस ओर मुड़े। उन्होंने पहले ही कदम में प्राकृत-भाषा की तरह संस्कृत-भाषा पर भी अधिकार जमा लिया।

जिस तरह से वैदिक लोग वेदों को और बौद्ध त्रिपिटक को स्वतः प्रमाण मानते हैं, उसी प्रकार जैनों के लिए गणिपिटक (द्वादशांगी) स्वतः प्रमाण है। गणिपिटक के अंग रूप में जो चौदह पूर्व थे, वे संस्कृत-भाषा में ही रचे गए—परम्परा से ऐसी अनुश्रुति चल रही है। किन्तु उन पूर्वों के विच्छिन्न हो जाने के कारण उनकी संस्कृत का क्या रूप था, यह बताने के लिए कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। जैन-साहित्य अभी जो उपलब्ध हो रहा है, वह विक्रम सम्वत् से पहले का नहीं है। इतिहासकार यह मानते हैं कि विक्रम की तीसरी शताब्दी में उमास्वाति ने तत्त्वार्थ-सूत्र (मोक्ष-शास्त्र) की रचना की। जैन-परम्परा में संस्कृत कल्पवृक्ष का यह पहला फूल था। उमास्वाति ने सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-चारित्र जिन्हें जैन दर्शन मोक्ष-मार्ग के रूप में मानता है, को सूत्रों में सुव्यवस्थित किया। जैनेतर विद्वानों के लिए जैन-

दर्शन का परिचय पाने के लिए यह ग्रन्थ आज भी प्रमुख साधन है। उमास्वाति ने और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'प्रशमरति' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमें प्रशम और प्रशम से पैदा होने वाले आनन्द का सुन्दर निरूपण और प्रासङ्गिक बहुत से तथ्यों का समावेश है, जैसे—

कालं, क्षेत्रं, मात्रां, सात्म्यं, द्रव्य-गुरु-लाघवं स्वबलम्
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य॥

उमास्वाति की प्रतिभा तत्त्वों का संग्रह करने में बड़ी कुशल थी। तत्त्वार्थ-सूत्र में वह बहुत चमकी है आचार्य हेमचन्द्र ने भी कहा है—

—'उपोमास्वातिं संगृहीतारः'[९]—'

इतिहासकार मानते हैं कि सिद्धसेन दिवाकर चौथी और पांचवीं शताब्दी के बीच में हुए, वे महान् तार्किक, कवि और साहित्यकार थे। उन्होंने बत्तीस बत्तीसियां (द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका) की रचना की। वे रचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें भावों की गहनता और तार्किक प्रतिभा का चमत्कार है। इनके विषय में कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के ये विचार हैं—

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था?
अशिक्षितालापकला क्व चैषा?
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः,
स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः।[१०]

'अनुसिद्धसेनं कवयः, सिद्धसेन चोटी के कवि थे[११]। उन्होंने अनेकान्त दृष्टि की व्यवस्था की और अनेक दृष्टियों का सुन्दर ढंग से समन्वय किया। आगमों में जो अनेकान्त के बीज बिखरे हुए पड़े थे, उनको पल्लवित करने में सिद्धसेन और समन्तभद्र—ये दोनों आचार्य स्मरणीय हैं। भारतीय न्याय-शास्त्र पर इन दोनों आचार्यों का वरद हाथ रहा, यह तो अति स्पष्ट है। सिद्धसेन ने भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए साथ में विरोधी दृष्टिकोणों का भी समन्वय किया—

क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वचः,
स्वभावनियताः प्रजाः समयतंत्रवृत्ताः क्वचित्।

स्वयं कृतभुजः क्वचित् परकृतोपभोगाः पुन-
र्नवा विशद-वाद ! दोष--मलिनोऽस्यहो विस्मयः[12]।

परमात्मा में अपने को विलीन करते हुए सिद्धसेन कहते हैं—

न शब्दो, न रूपं रसो नापि गन्धो,
न वा स्पर्शलेशो न वर्णो न लिङ्गम्।
न पूर्वापरत्वं न यस्यास्ति संज्ञा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः[13]॥

जैन-न्याय की परिभाषाओं का पहला रूप न्यायावतार में ही मिलता है।

आचार्य समन्तभद्र के विषय के दो मत हैं—कुछ एक इतिहासकार इनका अस्तित्व सातवीं शताब्दी में मानते हैं और कुछ एक चौथी शताब्दी में[14]। उनकी रचनाएं देवागम-स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, स्वयंभू-स्तोत्र आदि हैं। आधुनिक युग का जो सब से अधिक प्रिय शब्द 'सर्वोदय' है, उसका प्रयोग आचार्य समन्तभद्र ने बड़े चामत्कारिक ढंग से किया है—

सर्वान्तवत् तद् गुणमुख्यकल्पं,
सर्वान्तशून्यञ्च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव[15]॥

विक्रम की तीसरी शताब्दी में जैन-परम्परा में जो संस्कृत-साहित्य किशोरावस्था में था, वह पांचवीं से अठारहवीं शताब्दी तक तरुणावस्था में रहा।

अठारहवीं शताब्दी में उपाध्याय यशोविजयजी हुए, जो एक विशिष्ट श्रुतधर विद्वान् थे। जिन्होंने संस्कृत-साहित्य को खूब समृद्ध बनाया। उनके कुछ एक तथ्य भविष्य की बात को स्पष्ट करने वाले या क्रान्त-दर्शन के प्रमाण हैं।

आत्मप्रवृत्तावति जागरूकः, परप्रवृत्तौ बधिरान्धमूकः।
सदा चिदानन्दपदोपभोगी, लोकोत्तरं साम्यमुपैति योगी[16]॥

महात्मा गांधीजी को जो भेंट स्वरूप तीन बन्दर मिले थे, उनमें जो आरोपित कल्पनाएं हैं, वे इस श्लोक के 'बधिरान्धमूक' शब्द में स्पष्ट संकेतित हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी ने केवल दर्शन-क्षेत्र में ही समन्वय नहीं किया, बल्कि योग के विषय में भी बहुत बड़ा समन्वय प्रस्तुत किया। पातञ्जल योग-सूत्र का तुलनात्मक विवरण, योगदीपिका, योगविंशिका की टीका आदि अनेक ग्रन्थ उसके प्रमाण हैं।

इन्होंने नव्य-न्याय की शैली में अधिकार पूर्वक जैन-न्याय के ग्रन्थ तैयार किए। बनारस में विद्वानों से सम्पर्क स्थापित करके जैन-न्याय की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ाई। ये लघुहरिभद्र' के नाम से भी प्रसिद्ध हुए।

हरिभद्र सूरि का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने १४४४ प्रकरणों की रचना की ऐसा सुप्रसिद्ध है[६७]। इनमें से जो प्रकरण प्राप्य हैं, वे इनके प्रखर पाण्डित्य को बताने वाले हैं। अनेकान्त-जय-पताका आदि आकर (बड़े) ग्रन्थ दार्शनिक जगत् के गौरव को पराकाष्ठा तक पहुंचा देते हैं। यशोविजय ने योग के जिस मार्ग को विशद बनाया उसके आदि बीज हरिभद्र सूरि ही थे। योग-दृष्टि समुच्चय, योग-बिन्दु, योग-विंशिका आदि समन्वयात्मक ग्रन्थ योग के रास्ते में नये कदम थे। दिङ्नाग-रचित न्याय-प्रवेश की टीका लिख कर इन्होंने जैनों को बौद्ध-न्याय का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। समन्वय की दृष्टि से इन्होंने नई दिशा दिखाई। लोकतत्त्व-निर्णय की कुछ एक सूक्तियां दृष्टि में ताजगी भर देती हैं जैसे—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

दार्शनिक-मूर्धन्य अकलंक, उद्योतन सूरि, जिनसेन, सिद्धर्षि आदि-आदि अनेक दूसरे-दूसरे बड़े प्रतिभाशाली साहित्यकार हुए। समस्त साहित्यकारों के नाम बताना और उनके ग्रन्थों की गणना करना जरा कठिन है। यह स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने प्रचलित समस्त विषयों में अपनी लेखनी उठाई। अनेक ग्रन्थ ऐसे वृहत्काय बनाए, जिनका श्लोक-परिमाण ५० हजार से भी अधिक है। सिद्धर्षि की बनाई हुई 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' कथा-साहित्य का एक उदाहरणीय ग्रन्थ है। कुवलयमाला, तिलक मञ्जरी, यशस्तिलक—चम्पू आदि अनेक गद्यात्मक ग्रन्थ भाषा की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। चरित्रात्मक काव्य

भी बहुत बड़ी संख्या में लिखे गए। जो लोग संस्कृत नहीं जानते हैं, उनका भी संस्कृत के प्रति जो आकर्षण है उसका एकमात्र यही कारण है कि उसमें महापुरुषों के जीवन-चरित्र संकलित किये गए हैं।

नीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र के जो ग्रन्थ लिखे गए, उनकी भाषा ने भी लोगों को अपनी ओर अधिक आकृष्ट किया। संस्कृत-साहित्य की रसभरी सूक्तियां और अपनी स्वतन्त्र विशेषताएं रखने वाले सिद्धान्त जन-जन की जबान पर आज भी अपना स्थान बनाये हुए हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने अर्हन्नीति नामक जो एक संक्षिप्त ग्रन्थ बनाया है, उसमें कुछ एक ऐसे तत्त्व हैं जो युद्ध के नशे में अपने विवेक को खो बैठे हैं, उनके भी विवेक को जगाने वाले हैं। उदाहरण के तौर पर एक श्लोक पढ़िए—

सन्दिग्धो विजयो युद्धे, ऽसन्दिग्धः पुरुषक्षयः।
सत्स्वन्येष्वित्युपायेषु, भूपो युद्धं विवर्जयेत् [१८]॥

व्याकरण भाषा का आधार होता है। गुजरात और बंगाल में पाणिनि-व्याकरण का प्रचलन बहुत थोड़ा था। वहाँ पर कालापक और कातन्त्र व्याकरण की मुख्यता थी। किन्तु ये दोनों व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण और सांगोपांग नहीं थे। आचार्य हेमचन्द्र ने सांगोपाङ्ग 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन' नामक व्याकरण की रचना की। उनका गौरव बड़े श्रद्धा भरे शब्दों में गाया गया है—

किं स्तुमः शब्दपाथोधेर्हेमचन्द्रयतेर्मतिम्।
एकेनापि हि येनेदृक्, कृतं शब्दानुशासनम्॥

व्याकरण के पाँच अंग हैं ! सूत्र, गणपाठ सहित वृत्ति, धातुपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन। इन सब अंगों की स्वयं अकेले हेमचन्द्र ने रचना करके सर्वथा स्वतन्त्र व्याकरण बनाया। जैनों के दूसरे भी चार व्याकरण हैं—विद्यानन्द, मुष्टि, जैनेन्द्र और शाकटायन।

अठारहवीं शताब्दी के बाद संस्कृत का प्रवाह सर्वथा रुक गया हो, यह बात नहीं। बीसवीं सदी में तेरापन्थ सम्प्रदाय के मुनि श्री चौथमलजी ने 'भिक्षु शब्दानुशासन' नामक महाव्याकरण की रचना की। आचार्य लावण्य सूरि

ने धातु-रत्नाकर के संकलन में बहुत बड़ा प्रयत्न किया। इस सदी में दूसरे भी बहुत से प्रयत्न संस्कृत-साहित्य की रचना के लिए हुए।

जैनों ने केवल साहित्य-प्रणयन के द्वारा ही संस्कृत के गौरव को नहीं बढ़ाया किन्तु साहित्य को सुन्दर अक्षरों में लिपिबद्ध करके पुस्तक-भण्डारों में उसकी सुरक्षा करते हुए संस्कृत की धारा को अविच्छिन्न रूप से चालू रखा। बहुत से बौद्ध और वैदिक-शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ आज भी जैन-भण्डारों में सुरक्षित हैं।

जैनाचार्यों ने बहुत से जैनेतर-ग्रन्थों की टीकाएं बना कर अपने अनेकान्त-वादी दृष्टिकोण का सुन्दर परिचय दिया। भानुचन्द्र और सिद्धचन्द्र की बनाई हुई जो कादम्बरी की टीका है, उसे पंडितों ने मुख्य रूप से मान्य किया है। जैनाचार्यों ने रघुवंश, कुमारसम्भव, नैषध आदि अनेक काव्यों की टीकाएँ बनाई हैं। सारस्वत, कातन्त्र आदि व्याकरण, न्याय-शास्त्र तथा और भी दूसरे विषयों को लेकर इस तरह अपनी लेखनी चलाई कि साहित्य सभी की समान सम्पत्ति है—यह कहावत चरितार्थ हो गई।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का समय संस्कृत के ह्रास की ओर झुकने वाला समय था। आचार्य हेमचन्द्र प्राकृत और अपभ्रंश के समर्थक थे। फिर भी उन्होंने संस्कृत-साहित्य को खूब समृद्ध बनाया। फलतः उसके रुके हुए प्रवाह को अन्तिम श्वास गिनने का मौका न मिल सका। आचार्य हेमचन्द्र ने पूर्वाचार्यों की आलोचनाएं की और उनकी विशेषताओं का आदर भी किया। 'सूक्ष्मदर्शिना धर्म-कीर्तिना' आदि जो जैनेतर आचार्यों के विषय में इनके उद्‌गार निकले हैं, वे इनकी उदार-वृत्ति के परिचायक हैं।

समस्त जैन विद्वानों के प्रौढ़तम तर्कों, नये-नये उन्मेषवाले विचारों, चिरकाल के मन्थन से तैयार की हुई नवनीत जैसी सुकुमार रचनाओं, हिमालय जैसे उज्ज्वल अनुभवों और सदाचार का निरूपण संस्कृत-भाषा में हुआ है। मध्ययुगीय जैनाचार्यों ने अलौकिक संस्कृत-भाषा को जनसाधारण की भाषा करने का जो प्रयत्न किया है, सम्भवतः उसका मूल्यांकन ठीक नहीं हो पाया।

आगमों की वृत्तियों और टीकाओं में संस्कृत-भाषा को व्यापक बनाने के लिए मध्ययुग के इन आचार्यों ने प्रान्तीय शब्दों का बहुत संग्रह किया।

उत्तरवर्ती संस्कृत-लेखक भी उसी पद्धति का अनुकरण करते तो आज संस्कृत को मृत-भाषा की उपाधि न मिलती। यह सम्भव नहीं कि कोई भी भाषा जन-सम्पर्क से दूर रह कर चिरंजीवी बन सके। कोरे साहित्यिक रूप में रहने वाली भाषा ज्यादा टिक नहीं सकती।

अनेक व्यक्तियों ने संस्कृत को उपेक्षा की नजर से देखा किन्तु समय-समय पर उन्हें भी इसकी अपेक्षा रखनी पड़ी है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि संस्कृत में लोगों के श्रद्धा-स्पद धार्मिक विचारों का संग्रह और बहुत से स्तुत्यात्मक ग्रन्थ हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने परमार्हत राजा कुमारपाल के प्रातः स्मरण के लिए वीतराग-स्तव बनाया [६९]। उसका पाठ करते हुए भावुक व्यक्ति भक्ति-सरिता में गोते खाने लग जाते हैं।

तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि, सेवकोऽस्म्यस्मि किङ्करः।
ओमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ नातः परं ब्रुवे [७०]॥

इस श्लोक में आचार्य हेमचन्द्र वीतराग के चरणों में आत्म-समर्पण करके भार-मुक्त होना चाहते हैं। और कहीं पर यह कह बैठते हैं कि—

कल्याणसिद्ध्यै साधीयान्, कलिरेव कषोपलः।
विनाग्नि गन्ध-महिमा काकतुण्डस्य नैधते [७१]॥

वीतराग में भक्ति-विभोर बन कर आचार्य हेमचन्द्र कलिकाल के कष्टों को भी भूल जाते हैं।

काव्य के क्षेत्र में भी जैनाचार्य पीछे नहीं रहे। त्रिषष्टिशलाका, पुरुषचरित्र, शान्तिनाथ चरित्र, पद्मानन्द महाकाव्य और भरत-बाहुबलि आदि काव्य काव्य-जगत् में शीर्षस्थानीय हैं। उनकी टीकाएं न होने के कारण आज भी उनका प्रचार पर्याप्त नहीं है। बहुत सारे काव्य आज भी अप्रकाशित हैं, इसलिए लोग उनकी विशेषताओं से अपरिचित हैं। अष्टलक्षार्थी काव्य में 'राजानो ददते सौख्यम्' इन आठ अक्षरों के आठ लाख अर्थ किये गए हैं। इससे आचार्य ने दो तथ्य हमारे सामने रखे हैं—एक तो यह कि वर्णों में अनन्त पर्याय हैं। दूसरा तथ्य यह कि संस्कृत में एक ऐसा लचीलापन है कि जिससे वह अनेक विवर्तों (परिवर्तनों) को सह सकता है। सप्त-सन्धान काव्य में बुद्धि की विलक्षणता है। वह मानस को आश्चर्य-विभोर किये देती

है। उसके प्रत्येक श्लोक में सात व्यक्तियों का जीवन-चरित्र पढ़ा जाता है।

उन्होंने शब्द-लालित्य के साथ भाव-लालित्य का भी पूरा ध्यान रखा है। दुष्ट स्वभाव वाले व्यक्ति में दो व्यक्तियों के बीच दरार डालने की विशाल शक्ति होती है। उसकी विशालता के सामने कवि को बड़े-बड़े समुद्र और पहाड़ भी छोटे से दीखने लगते हैं।

भवतात् तटिनीश्वरोन्तरा विषमोऽस्तु क्षितिभृद्वयोन्तरा।
सरिदस्तु जलाधिकान्तरा पिशुनो मास्तु किलान्तरावयोः [७२]॥

अपने बड़े भाई सम्राट् भरत को मारने के लिए पराक्रम-मूर्ति बाहुबलि की मुष्टि ज्योंही उठती है, त्योंही देववाणी से वह शान्त हो जाती है। कवि इस स्थिति को ऐसे सुन्दर ढंग से रखता है कि पाठक शमरस-विभोर बन जाते हैं [७३]।

अयिबाहुबले कलहायवलं, भवतो भवदायतिचारु किमु
प्रजिघांसुरसित्वमपि स्वगुरुं,
यदि तद्गुरुशासनकृतक इह ॥ ६६ ॥

नृप ! संहर संहर कोपमिमं तव येन पथा चरितश्चपिता
सर तां सरणिं हि पितुः पदवीं,
न जहत्यनघास्तनयाः क्वचन ॥७१॥

धरिणी हरिणीनयना नयनं,
बशतां यदि भूप ! भवन्तमलम्
विधुरो विधिरेष तदा भविता,
गुरुमाननरूप इहा च्चयतः ॥७२॥

तव मुष्टिमिमां सहते भुवि को,
हरिहेतिमिवाधिकघातवतीम्।
भरता चरितं चरितं मनसा, स्मर मा स्मर केलिमिव श्रमणः ॥७३॥

अयि साधय साधय साधुपदं
भज शान्तरसं तरसा सरसम्।
ऋषभध्वज वंशनभस्तरणे ! तरणाय
मनः किल धावतु ते ॥७४॥

इति यावदिमा गगनाङ्गणतो,
मरुतां विचरन्ति गिरः शिरसः।
अपनेतुमिमांश्चिकुरानकरोद्,
बलमात्मकरेण स तावदयम् ॥७५॥

अप्रकाशित महाकाव्य की गरिमा से लोग अवगत हों इस दृष्टि से उसके कुछ श्लोक यहाँ प्रस्तुत किये गए हैं।

मुझे आशंका है कि विषय अधिक लम्बा न हो जाय। फिर भी काव्य-रस का आस्वाद छोड़ना जरा कठिन होता है। खैर, काव्य-पराग का थोड़ा-सा आस्वाद और चख लें।

अहह चुल्लिगृहेषु वधूकर-प्रथितभस्ममहावसना अपि।
गुरुतरामपि जाग्रति यामिनीं, हुतभुजोपि हिमैः स्मदुता इव [७४]॥

कवि यहाँ पर रात्रि-जागरण का वर्णन करता हुआ पाठकों के दिलों में भी सर्दी की विभीषिका पैदा करता है। कवि विश्व की गोद में रमने वाले चेतन और अचेतन पदार्थों का निकटता से अनुभव करता है। उनमें वह किसी की भी उपेक्षा नहीं करता। मरुस्थल के मुख्य वाहन ऊँट तो भूले भी कैसे जा सकते हैं। उनके बारे में वह बड़े मजेदार ढंग से कहता है—

भरे यथा रोहति भूरि रावा, निरस्यमाने रवणास्तथासन्।
सदैव सर्वाङ्ग बहिर्मुखानां, हिताहितज्ञानपराङ्मुखत्वम् [७५]॥

यहाँ हमने अतीत के साहित्य पर एक सरसरी नजर डाली है या यों कहिए कि 'स्थाली पुलाक' के न्यायानुसार हमने कुछ एक स्थलों की परीक्षा की है। सिर्फ सुन्दर अतीत की रट लगाने से भविष्य उज्ज्वल बना नहीं करता। इसलिए ताजी दृष्टिवालों को वर्तमान देखना चाहिए। जिस युग में यह आवाज बुलन्द हो रही है कि संस्कृत मृत-भाषा है, उस युग में भी जैन उसे सजीव बना रहे हैं। आज भी नये काव्य, टीकाएं, प्रकरण और दूसरे ग्रन्थ बनाए जा रहे हैं। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी इस विषय में बहुत बड़ा प्रयत्न कर रहे हैं। आचार्य श्री के अनेक शिष्य आशुकवि हैं। बहुत-सी साध्वियां बड़ी तत्परता से संस्कृत के अध्ययन में संलग्न हैं। सभी

क्षेत्रों में यदि इस तरह का व्यापक प्रचार हो तो आशा की जाती है कि मृत कही जाने वाली संस्कृत-भाषा अमृत बन जाय।

शान्त रस के आस्वाद के साथ अब मैं इस विषय को पूरा कर रहा हूँ। गीति-काव्य की मधुर स्वर-लहरियां सुनने से सिर्फ कानों को ही तृप्त नहीं करतीं बल्कि देखने से आँखों में भी अनूठा उल्लास भर देती हैं।

शत्रुजनाः सुखिनः समे, मत्सरमपहाय,
सन्तु गन्तु मनसोप्यमी, शिवसौख्यगृहाय।
सकृदपि यदि समतालवं हृदयेन लिहन्ति
विदितरसास्तत इह रतिं, स्वत एव वहन्ति[७१]॥

प्रादेशिक साहित्य

दिगम्बर-आचार्यों का प्रमुख विहार-क्षेत्र दक्षिण रहा। दक्षिण की भाषाओं में उन्होंने विपुल साहित्य रचा।

कन्नड़ भाषा में जैन कवि पोन्न का शान्तिपुराण, पंप का आदिपुराण और पम्पभारत आज भी बेजोड़ माना जाता है। रत्न का गदा-युद्ध भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ईसा की दसवीं शती से १६ वीं शती तक जैन महर्षियों ने काव्य, व्याकरण, शब्द-कोष, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे और कर्णाटक-संस्कृति को पर्याप्त समृद्ध बनाया। दक्षिण भारत की पांच द्राविड-भाषाओं में से कन्नड़ एक प्रमुख भाषा है। उसमें जैन-साहित्य और साहित्यकार आज भी अमर हैं[७२]। तामिल भी दक्षिण की प्रसिद्ध भाषा है। इसका जैन-साहित्य भी बहुत समृद्ध है। इसके पाँच महाकाव्यों में से तीन महाकाव्य चिन्तामणि, सिलप्पडिकारम् और वलैयापति—जैन कवियों द्वारा रचित हैं। नन्नोल तामिल का विश्रुत व्याकरण है। कुरल और नालदियार जैसे महान् ग्रन्थ भी जैन महर्षियों की कृति है।

गुजराती साहित्य

उत्तर भारत श्वेताम्बर-आचार्यों का विहार-क्षेत्र रहा। उत्तर भारत की भाषाओं में दिगम्बर-साहित्य प्रचुर है। पर श्वेताम्बर-साहित्य की अपेक्षा वह कम है। आचार्य हेमचन्द्र के समय से गुजरात जैन-साहित्य और संस्कृति से प्रभावित रहा है। आनन्दघनजी, यशोविजयजी आदि अनेक योगियों व

महर्षियों ने इस भाषा में लिखा। विशेष जानकारी के लिए 'जैन गुर्जर कविओ' देखिए।

राजस्थानी साहित्य

राजस्थानी में जैन-साहित्य विशाल है। इस सहस्राब्दी में राजस्थान जैन-मुनियों का प्रमुख विहार-स्थल रहा है। यति, संविग्न, स्थानकवासी और तेरापन्थ सभी ने राजस्थानी में लिखा है। रास और चरित्तों की संख्या प्रचुर है। पूज्य जयमलजी का प्रदेशी राजा का चरित बहुत ही रोचक है। कवि समय सुन्दरजी की रचनाओं का संग्रह अगरचन्दजी नाहटा ने अभी प्रकाशित किया है। फुटकल ढालों का संकलन किया जाए तो इतिहास की कई नई झांकियां मिल सकती हैं।

राजस्थानी भाषाओं का स्रोत प्राकृत और अपभ्रंश हैं। काल-परिवर्तन के साथ साथ दूसरी भाषाओं का भी सम्मिश्रण हुआ है।

राजस्थानी साहित्य तीन शैलियों में लिखा गया है—(१) जैन शैली (२) चारणी शैली (३) लौकिक शैली। जैन शैली के लेखक जैन-साधु और यति अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोग हैं। इस शैली में प्राचीनता की झलक मिलती है। अनेक प्राचीन शब्द और मुहावरे इसमें आगे तक चले आये हैं।

जैनों का सम्बन्ध गुजरात के साथ विशेष रहा है। अतः जैन शैली में गुजराती का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चारणी शैली के लेखक प्रधानतया चारण और गौण रूप में अन्यान्य लोग हैं (जैनों, ब्राह्मणों, राजपूतों, भाटों आदि ने भी इस शैली में रचना की है)। इसमें भी प्राचीनता की पुट मिलती है पर वह जैन शैली से भिन्न प्रकार की है, यद्यपि जैनों की अपभ्रंश रचनाओं में भी, विशेष कर युद्ध-वर्णन में, उसका मूल देखा जा सकता है। डिंगल वस्तुतः अपभ्रंश शैली का ही विकसित रूप है [७८]।

तेरापन्थ के आचार्य भिक्षु ने राजस्थानी-साहित्य में एक नया स्रोत बहाया, अध्यात्म, अनुशासन, ब्रह्मचर्य, धार्मिक-समीक्षा, रूपक, लोक-कथा और अपनी अनुभूतियों से उसे व्यापकता की ओर ले चले। उन्होंने गद्य भी बहुत लिखा। उनकी सारी रचनाओं का प्रमाण ३८ हजार श्लोक के लगभग है। मारवाड़ी के ठेठ शब्दों में लिखना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना

उनकी अपनी विशेषता है। उनकी वाणी का स्रोत क्रान्ति और शान्ति दोनों धाराओं में बहा है। ब्रह्मचारी को मित-भोजी होना चाहिए। अमित-भोजी की शारीरिक और मानसिक दुर्दशा का उन्होंने सजीव चित्र खींचा है :—

अति आहार थी दुख हुवै, गलै रूप बल गात।
परमाद निद्रा आलस हुवै, बलै अनेक रोग होय जात॥
अति आहार थी विषय बधे, घणोइज फाटै पेट।
धान अमाऊं ऊरतां, हांडी फाटै नेट[७९]॥
फाटै पेट अत्यन्त रे, बन्ध हुवै नाड़ियां।
बले श्वास लेवे, अबखो थको ए॥
बलै होवे अजीरण रोग रे।
मुख बासै बुरो, पेट भाले आफरो ए॥
ते उठै उकाला पेट रे, चालै कलमली।
बले छूटै मुख थूकनी ए॥
डील फिरै चकडोल रे, पित घूमे घणा।
चालै मुजल बले मुलकणी ए॥
आवै मीठी घणी डकार रे।
बले आवै गुचलका, जद आहार भाग उलटो पड़ै ए॥
हांडी फाटै नेट रे, अधिका ऊरियां।
तो पेट न फाटै किण विधे ए॥
ब्रह्मचारी इम जाण रे, अधिको नहीं जीमिए।
उणोदरी में ए गुण घणा ए[८०]॥

नव पदार्थ, विनीत-अविनीत, व्रताव्रत, अनुकम्पा, शील री नववाड़ आदि, उनकी प्रमुख रचनाएं हैं।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य महाकवि थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग साढ़े तीन लाख श्लोक प्रमाण गद्य-पद्य लिखे।

उनकी लेखनी में प्रतिभा का चमत्कार था। वे साहित्य और अध्यात्म के क्षेत्र में अनिरुद्ध गति से चले। उनकी सफलता का स्वतः प्रमाण उनकी अमर कृतियां हैं। उनका तत्त्व-ज्ञान प्रौढ़ था। श्रद्धा, तर्क और व्युत्पत्ति की

त्रिवेणी में आज भी उनका हृदय बोल रहा है। जिन-वाणी पर उनकी अटूट श्रद्धा थी। विचार-भेद की दुनियां के लिए वे तार्किक थे। साहित्य, संगीत, कला, संस्कृति—ये उनके व्युत्पत्ति-क्षेत्र थे। उनका सर्वतोन्मुखी व्यक्तित्व उनके युग-पुरुष होने की साक्षी भर रहा है।

कुशल टीकाकार

जयाचार्य ने जैन-आगमों पर अनेक टीकाएं लिखीं[८१]। उनकी भाषा मारवाड़ी है—गुजराती का कुछ मिश्रण है। वे पद्य-बद्ध हैं। संगीत की स्वर-लहरी से थिरकती गीतिकाओं में जैन तत्त्व-मीमांसा चपलता से तैर रही है। उनमें अनेक समस्याओं का समाधान और विशद आलोचना-आत्मलोचनाएं हैं। सबसे बड़ी टीका भगवती सूत्र की है, उसका ग्रन्थमान करीब ८० हजार श्लोक है। सही अर्थ में वे थे कुशल टीकाकार।

वार्तिककार और स्तबककार

आचारांग-द्वितीय श्रुतस्कंध के जटिल विषयों पर उन्होंने वार्तिक लिखा। उसमें विविध उलझन भरे पाठों को विशद चर्चा के साथ सुलझाया है। और विसंवाद-स्थानीय स्थलो को बड़े पुष्ट प्रमाणो से संवादित किया है। यों तो उस समूचे शास्त्र का टब्बा भी उन्होंने लिखा।

एक तुलनात्मक दृष्टि

अभय देव[८२], शीलांकाचार्य[८३], शांत्याचार्य[८४], हरिभद्र[८५], मलधारी हेमचन्द्र[८६] और मलयगिरि[८७]—ये जैन-आगमों के प्रसिद्ध संस्कृत-टीकाकार हुए हैं। इनकी टीकाओ में आगमिक टीकाओं की अपेक्षा दार्शनिक चर्चाओं का बाहुल्य है।

इनके पहले आगमों की टीकाएं प्राकृत में लिखी गईं। वे नियुक्ति[८८], भाष्य[८९] और चूर्णि[९०] के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें आगमिक चर्चाओं के अतिरिक्त जैन दर्शन की तर्क संगत व्याख्याएं भी मिलती हैं। जैन तत्त्वों की तार्किक व्याख्या करने में विशेष्यावश्यक भाष्यकार जिनभद्र ने अनूठा कौशल दिखाया है। निर्युक्ति और भाष्य पद-बद्ध हैं और चूर्णियां गद्यमय। चूर्णियों में मुख्यतया भाष्य का विषय संक्षेप में लिखा गया है।

जैन आचार्य लोक-भाषा के पोषक रहे हैं। इसलिए जैन-साहित्य भाषा

की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत की विविध भाषाएं आज भी जैन-धर्म की व्यापकता की गाथा गा रही हैं। पायचन्दसूरी और धर्म सिंह[११] मुनि ने गुजराती में टब्बा लिखे[१२]। विस्तृत टीकाओं में रस-पान जिनके लिए सुगम नहीं था, उनके लिए ये बड़े उपयोगी बने। दूसरे, ज्यों-ज्यों संस्कृत का प्रसार कम हो रहा था, त्यों-त्यों लोग विषय से दूर होते जा रहे थे। इनकी रचना उस कमी की पूर्ति करने में सफल सिद्ध हुई। हजारों जैन-मुनि इन्हीं के सहारे सिद्धान्त के निष्णात बने।

जयाचार्य २० वीं सदी के महान् टीकाकार हैं। उनकी टीकाएं सैद्धान्तिक चर्चाओं से भरी-पूरी हैं। शास्त्रीय विषयों के आलोडन-प्रत्यालोडन में वे इतने गहरे उतरे जितना कि एक सफल टीकाकार को उतरना चाहिए। दार्शनिक व्याख्याएं लम्बी नहीं चली हैं। सैद्धान्तिक विधि-निषेध और विसंवादों पर उनकी लेखनी तब तक नहीं रुकी, जब तक जिज्ञासा का धागा नहीं टूटा। एक बात को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत करने में उन्हें अपूर्व कौशल मिला है। सिद्धान्त-समालोचना की दृष्टि से उनकी टीकाएं बेजोड़ हैं—यह कहा जा सकता है और एक समीक्षक की दृष्टि से कहा जा सकता है।

प्रबन्धकार

आपने करीब १६ प्रबन्ध लिखे। उनमें कई छोटे हैं और कई बड़े। भाषा सहज और सरस है। सभी रसों के वर्णन के बाद शान्त-रस की धारा बहाना उनकी अपनी विशेषता है। जगह-जगह पर जैन-संस्कृति और तत्त्व-ज्ञान की स्फुट छाया है। इनके अध्ययन से पाठक को जीवन का लक्ष्य समझने में बड़ी सफलता मिलती है। कवि की भावुकता और संगीत की मधुर स्वर-लहरी से जगमगाते ये प्रबन्ध जीवन की सरसता और लक्ष्य-प्राप्ति के परम उपाय हैं।

अध्यात्मोपदेष्टा

उनकी लेखनी की नोक अध्यात्म के क्षेत्र में बड़ी तीखी रही है। आराधना मोहजीत, फुटकर ढालें—ये ऐसी रचनाएं हैं, जिनमें अचेतन को चेतनावान् बनाने की क्षमता है।

विविध रचनाएं—चर्चा का नया स्रोत

भ्रम विध्वंसन, जिनाज्ञा मुखमंडन, कुमति विहंडन, सदेह विषौषधि आदि चार्चिक ग्रन्थ, श्रद्धा की चौपाई, फुटकर ढालें आदि संस्कृति के उद्‌बोधक ग्रन्थ, उनकी कुशाग्रीयता के सजग प्रहरी हैं।

आगम समन्वय के स्रष्टा

आचार्य भिक्षु की विविध रचनाओं का जैन-आगमों से समन्वय किया, यह आपकी मौलिक सूझ है। आपने इन कृतियों का नाम रखा 'सिद्धान्त सार'। आचार्य भिक्षु की विचार-धारा जैन सूत्रों से प्रमाणित है, यह स्वतः नितर आया है। इसके पहले आगम से दर्शन करने की प्रणाली का उद्‌गम हुआ प्रतीत नहीं होता। जयाचार्य इसके स्रष्टा हैं।

स्तुतिकार

जयाचार्य का हृदय जितना तात्त्विक था, उतना ही श्रद्धालु। उन्होंने तीर्थंकर, आचार्य और साधुओं की स्तुति करने में कुछ उठा नहीं रखा। वे गुण के साथ गुणी का आदर करना जानते थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'चौबीसी' भक्ति-रस की सजल सरिता है। सिद्धसेन, समन्तभद्र, हेमचन्द्र और आनन्द-घन जैसे तपस्वी लेखकों की दार्शनिक स्तुतियों के साथ जयाचार्य ने एक नई कड़ी जोड़ी। उनकी स्तुति-रचना में आत्म-जागरण का उद्‌बोध है। साधक के लिए दर्शन और आत्मोद्‌बोध—ये दोनों आवश्यक हैं। आत्मोद्‌बोध के बिना दर्शन में आग्रह का भाव बढ़ जाता है। इसलिए दार्शनिक की ख्याति पाने से पहले अध्यात्म की शिक्षा पाना जरूरी है।

जीवनी-लेखक

भारत के प्राच्य साहित्य में जीवनियां लिखने की प्रथा रही है। उसमें अतिरंजन अधिक मिलता है। अपनी कथा अपने हाथों लिखना ठीक नहीं समझा जाता था। इसलिए जिन किन्हीं की लिखी गई, वे प्रायः दूसरों के द्वारा लिखी गई। दूसरे व्यक्ति विशेष श्रद्धा या अन्य किसी स्वार्थ से प्रेरित हो लिखते, इसलिए उनकी कृति में यथार्थवाद की अपेक्षा अर्थ-वाद अधिक रहता। जयाचार्य इसके अपवाद रहे हैं। उन्होंने बीसियों छोटी-मोटी जीवनियां लिखीं। सबमें यथार्थ-दृष्टि का पूरा-पूरा ध्यान रखा। वस्तु स्थिति को स्पष्ट

करने के सिवाय वे आगे नहीं बढ़े। जीवनी के लेखकों में जयाचार्य का एक विशिष्ट स्थान है। भिक्षुजश रसायन, हेम नवरसो आदि आपकी लिखी हुई प्रख्यात जीवनियां हैं।

इतिहासकार

तेरापंथ के इतिहास को सुरक्षित रखने का श्रेय जयाचार्य को ही है। उन्होंने आचार्य भिक्षु की विशेष घटनाओं का संकलन कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। साधु-साध्वियों की 'ख्यात' का संग्रह करवाया। इस दिशा में और भी अनेक कार्य किए।

मर्यादा पुरुषोत्तम

जयाचार्य की शासन-शैली एक कुशल राजनीतिज्ञ की सी थी। वे अनुशासन और संगठन के महान् निर्देशक थे। उन्होंने संघ को सुव्यवस्थित रखने के लिए छोटे-बड़े अनेक मर्यादा-ग्रन्थ लिखे। आचार्य भिक्षु रचित मर्यादाओं की पद्य-बद्ध रचनाएं की। 'आचार्य भिक्षुकृत 'लिखनो की जोड़' एक अपूर्व रचना है।

गद्य-लेखक

प्राचीन लोक-साहित्य में गद्य बहुत कम लिखा गया। प्रत्येक रचना पद्यों में ही की जाती। जयाचार्य बहुत बड़े गद्य-लेखक हुए हैं। उन्होंने 'आचार्य भिक्षुके दृष्टान्त' इतनी सुन्दरता से लिखे हैं, जो अपनी प्रियता के लिए प्रसिद्ध हैं।

महान् शिक्षक

जीवन-निर्माण के लिए शिक्षा नितान्त आवश्यक तत्त्व है। शिक्षा का अर्थ तत्त्व की जानकारी नहीं। उसका अर्थ है जीवन के विश्लेषण से प्राप्त होनेवाली जीवन-निर्माण की विद्या। जयाचार्य ने एक मनोवैज्ञानिक की भांति अपने संघ के सदस्यों की मानसिक वृत्तियों का अध्ययन किया। गहरे मनन और चिन्तन के बाद उसपर लिखा। यद्यपि इस विषय पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा, कई फुटकर ढालें लिखीं, किन्तु उनमें मानव की मनोवृत्तियों का जिस सजीवता के साथ विश्लेषण हुआ है वह अपने ढङ्ग का निराला है। जीवन को बनाने के लिए, मनकी वृत्तियों को सुधारने के लिए, जो साधन सुझाये हैं, वे अचूक हैं।

आचार्य श्री तुलसी की राजस्थानी में अनेक रचनाएं हैं। उनमें कालू यशोविलास प्रमुख कृति है। उसमें अपने गुरुदेव कालुगणी के जीवन का सांगोपांग वर्णन है। उसका एक प्रसंग यह है :—

मेवाड़ के लोग श्रीकालुगणी को अपने देश पधारने की प्रार्थना करने आये हैं। उनके हृदय में बड़ी तड़फ है। उनकी अन्तर-भावना का मेवाड़ की मेदिनी में आरोप कर आपने बड़ा सुन्दर चित्रण किया है :—

"पतित-उधार पधारिए, संगे सबल लहि थाट।
मेदपाट नी मेदिनी, जोवे खड़ि-खड़ि बाट॥
सघन शिलोच्चयनैं मिषे, ऊंचा करि-करि हाथ।
चंचल दल शिखरी मिषे, दे झाला जगनाथ॥
नयणां विरह तुमारडे, झरै निर्झरणा जास।
भ्रमराराव भ्रमे करी, लह लांबा निःश्वास॥
कोकिल-कूजित ब्याज थी, व्रतिराज उड़ावै काग।
अरघट खट खटका करी, दिल खटक दिखावै जाग॥
मैं अबला अचला रही, किम पहुंचे मम सन्देश।
इम झुर झुर मनु झूरणा, संकोच्यों तनु सुविशेष"[१३]॥

इसमें केवल कवि-हृदय का सारस्य ही उद्वेलित नहीं हुआ है, किन्तु इसे पढ़ते-पढ़ते मेवाड़ के हरे-भरे जंगल, गगनचुम्बी पर्वतमाला, निर्झर, भँवरे, कोयल, घड़ियाल और स्तोकभूभाग का साक्षात् हो जाता है। मेवाड़ की ऊंची भूमि में खड़ी रहने का, गिरिशृङ्खला में हाथ ऊंचा करने का, वृक्षों के पवन-चालित दलों में आह्वान करने का, मधुकर के गुञ्जारव में दीर्घोष्ण निःश्वास का, कोकिल-कूजन में काक उड़ाने का आरोपण करना आपकी कवि-प्रतिभा की मौलिक सूझ है। रहँट की घड़ियों में दिल की टीस के साथ-साथ रात्रि-जागरण की कल्पना से वेदना में मार्मिकता आ जाती है। उसका चरम रूप अन्तर्जगत् में न रह सकने के कारण बहिर्जगत् में आ साकार बन जाता है। उसे कवि-कल्पना सुनाने की अपेक्षा दिखाने में अधिक सजीव हुई है। अन्तर्-व्यथा से पीड़ित मेवाड़ की मेदिनी का कृश शरीर वहाँ की भौगोलिक स्थिति का सजीव चित्र है।

मघवा गणी के स्वर्ग-वास के समय कालुगणी के मनोभावों का आकलन करते हुए आपने गुरु-शिष्य के मधुर सम्बन्ध एवं विरह-वेदना का जो सजीव वर्णन किया है, वह कवि की लेखनी का अद्भुत चमत्कार है :—

"नेहड़ला री क्यारी म्हांरी, मूकी निराधार।
इसड़ी कां कीधी म्हारा, हिवड़े रा हार॥
चितड़ो लाग्यो रे, मनड़ो लाग्यो रे।
खिण खिण समरूं, गुरु थांरो उपगार रे॥
किम विसराये म्हांरा, जीवन - आधार।
विमल विचार चारु, अव्वल आचार रे॥
कमल ज्यूं अमल, हृदय अविकार।
आज सुदि कदि नहीं, लोपी तुज कार रे॥
बक्यो बलि बलि तुम, मींट विचार।
तो रे क्यां पधार्या, मोये मूकी इह वार रे॥
स्व स्वामी रु शिष्य-गुरु, सम्बन्ध विसार[१४]।
पिण सांची जन-श्रुति, जगत् मझार रे।
एक पक्खी प्रीत नहीं, पड़े कदि पार॥
पिऊ पिऊ करत, पपैयो पुकार रे।
पिण नहीं मुदिर ने, फिकर लिगार[१५]।"

जैन-कथा-साहित्य में एक प्रसंग आता है। गजसुकुमार, जो श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे, भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षित बन उसी रात को ध्यान करने के लिए श्मशान चले जाते हैं। वहाँ उनका श्वसुर सोमिल आता है। उन्हें साधु-मुद्रा में देख उसके क्रोध का पार नहीं रहता। वह जलते अंगारे ला मुनि के शिर पर रख देता है। मुनि का शिर खिचड़ी की भाँति कलकला उठता है। उस दशा में वे अध्यात्म की उच्च भूमिका में पहुंच 'चेतन-तन-भिन्नता' तथा 'समः शत्रौ च मित्रे च' की जिस भावना में आरूढ़ होते हैं, उसका साकार रूप आपकी एक कृति में मिलता है। उसे देखते-देखते द्रष्टा स्वयं आत्म-विभोर बन जाता है। अध्यात्म की उत्ताल ऊर्मियाँ उसे तन्मय किए देती हैं :—

"जब धरे शीश पर चीरे,
ध्यावे यों धृति-धर धीरे।
है कौन वरिष्ठ भुवन में,
जो मुझको आकर पीरे॥
मैं अपनो रूप पिछानूं,
हो उदय ज्ञानमय भानू।
वास्तव में वस्तु पराई,
क्यों अपनी करके मानूं॥
मैंने जो संकट पाये,
सब मात्र इन्हीं के कारण।
अब तोड़ूँ सब जंजीरे,
ध्यावे यों धृति धर धीरे॥

कबके ये बन्धन मेरे,
अबलौं नहीं गये बिखेरे।
जब से मैंने अपनाये
तब से डाले दृढ़ डेरे॥
सम्बन्ध कहा मेरे से,
कहा भैंस गाय के लागे।
है निज गुण असली हीरे,
ध्यावे यों धृति धर धीरे॥

मैं चेतन चिन्मय चारु,
ये जड़ता के अधिकारु।
मैं अक्षय अज अविनाशी,
ये गलन-मिलन विशरारु॥
क्यों प्रेम इन्हीं से ठाये,

दुर्गति की दलना पायो।
अब भी हों रहूँ प्रतीरें,
ध्यावे यों धृति धर धीरे ॥

यह मिल्यो सखा हितकारी,
उत्तारूँ अघ की भारी।
नहिं द्वेष-भाव दिल लाऊँ,
कैवल्य पलक में पाऊँ ॥
सच्चिदानन्द बन जाऊँ,
लोकाग्र स्थान पहुँचाऊँ।
प्रलय हो भव प्राचीरें,
ध्यावे यों धृत धर धीरे ॥

नहि मरु न कबही जन्मूं,
कहिं परुं न जग झंझट में।
फिर जरूं न आग-लपट में,
झर पड़ूं न प्रलय-झपट में ॥
दुनियां के दारुण दुःख में,
धधकत शोकानल धुक में।
नहिं धुकूं सहाय समीरे,
ध्यावे यों धृति धर धीरे ॥

नहिं बहूँ सलिल-स्रोतों में,
नहिं रहूँ भग्न पोतों में।
नहिं जहूँ रूप मैं म्हारो,
नहिं लहूँ कष्ट मौतों में ॥
नहिं छिदूं धार तलवारों,

नहिं मिचूं मल्ल भलकारां,
चढ़े आये शत्रु सभीरे,
ध्यावे यों धृति धर धीरे।"

इसमें आत्म-स्वरूप, मोक्ष, संसार-भ्रमण और जड़-तत्त्व की सहज-सरल व्याख्या मिलती है। वह ठेठ दिल के अन्तरतल में पैठ जाती है। दार्शनिक की नीरस भाषा को कवि किस प्रकार रस-परिपूर्ण बना देता है, उसका यह एक अनुपम उदाहरण है[११]।

हिन्दी-साहित्य

हिन्दी का आदि स्रोत अपभ्रंश है। विक्रम की दसवीं शताब्दी से जैन विद्वान् इस ओर झुके। तेरहवीं शती में आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण सिद्धहेमशब्दानुशासन में इसका भी व्याकरण लिखा। उसमें उदाहरण-स्थलों में अनेक उत्कृष्ट कोटि के दोहे उद्धृत किए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के मनीषी इसी भाषा में पुराण, महापुराण, स्तोत्र आदि लिखते ही चले गए। महाकवि स्वयम्भू ने पद्मचरित लिखा। राहुलजी के अनुसार तुलसी रामायण उससे बहुत प्रभावित रहा है। राहुलजी ने स्वयम्भू को विश्व का महाकवि माना है। चतुर्मुखदेव, कवि रइधु, महाकवि पुष्पदन्त के पुराण अपभ्रंश में हैं। योगीन्द्र का योगसार और परमात्म प्रकाश संत-साहित्य के प्रतीक ग्रन्थ हैं।

हिन्दी के नए-नए रूपों में जैन-साहित्य अपना योग देता रहा। पिछली चार-पाँच शताब्दियों में वह योग उल्लास-वर्धक नहीं रहा। इस शताब्दी में फिर जैन-समाज इस ओर जागरूक है—ऐसा प्रतीत हो रहा है।

धर्म और समाज

धर्म असामाजिक—वैयक्तिक तत्त्व है। किन्तु धर्म की आराधना करने वालों का समुदाय बनता है, इसलिए व्यवहार में धर्म भी सामाजिक बन जाता है।

सभी तीर्थंकरों की भाषा में धर्म का मौलिक रूप एक रहा है। धर्म का साध्य मुक्ति है, उसका साधन द्विरूप नहीं हो सकता। उसमें मात्रा-भेद हो सकता है, किन्तु स्वरूप-भेद नहीं हो सकता। मुक्ति का अर्थ है—बाह्य का पूर्ण त्याग—सूक्ष्म शरीर का भी त्याग। इसलिए मुमुक्षु-वर्ग ने बाह्य के अस्वीकार पक्ष को पुष्ट किया। यही तत्त्व भिन्न-भिन्न युगों में निर्ग्रन्थ-प्रवचन, जिन-वाणी और जैन-धर्म की संज्ञा पाता रहा है। भारतीय-मानस पर त्याग और तपस्या का प्रतिबिम्ब है, उसका मूल जैन-धर्म ही है।

अहिंसा और सत्य की साधना को समाज-व्यापी बनाने का श्रेय भगवान् पार्श्व को है। भगवान् पार्श्व अहिंसक-परम्परा के उन्नयन द्वारा बहुत लोक-प्रिय हो गए थे। इसकी जानकारी हमें "पुरिसादाणीय"[1]—पुरुषादानीय विशेषण के द्वारा मिलती है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के लिए इस विशेषण का सम्मानपूर्वक प्रयोग करते थे। यह पहले बताया जा चुका है—आगम की भाषा में सभी तीर्थंकरों ने ऐसा ही प्रयत्न किया। प्रो॰ तान-युन-शान के अनुसार अहिंसा का प्रचार वैज्ञानिक तथा स्पष्ट रूप से जैन तीर्थंकरों द्वारा और विशेषकर २४ तीर्थंकरों द्वारा किया गया है, जिनमें अन्तिम महावीर-वर्धमान थे[2]।

बिहार का क्रान्ति-घोष

भगवान् महावीर ने उसी शाश्वत सत्य का उपदेश दिया, जिसका उनसे पूर्ववर्ती तीर्थंकर दे चुके थे। किन्तु महावीर के समय की परिस्थितियों ने उनकी वाणी को ओजपूर्ण बनाने का अवसर दिया। हिंसा का प्रयोजन पक्ष सदा होता है—कभी मन्द और कभी तीव्र। उस समय हिंसा सैद्धान्तिक पक्ष में भी स्वीकृत थी। भगवान् ने इस हिंसा के आचरण को दोहरी मूर्खता कहा। उन्होंने कहा—प्रातः स्नानादि से मोक्ष नहीं होता[3]। जो सुबह और

शाम जल का स्पर्श करते हुए—जल-स्नान से मुक्ति बतलाते हैं, वे अज्ञानी हैं[४]। हुत से जो मुक्ति बतलाते हैं, वे भी अज्ञानी हैं[५]।

स्नान, हवन आदि से मुक्ति बतलाना अपरीक्षित बचन है। पानी और अग्नि में जीव हैं। सब जीव सुख चाहते हैं—इसलिए जीवों को दुख देना मोक्ष का मार्ग नहीं है—यह परीक्षित-बचन है[६]।

जाति की कोई विशेषता नहीं है[७]। जाति और कुल त्राण नहीं बनते[८]। जाति-मद का घोर विरोध किया। ब्राह्मणों को अपने गणों के प्रमुख बना उन्होंने जाति-समन्वय का आदर्श उपस्थित किया।

उन्होंने लोक-भाषा में उपदेश देकर भाषा के उन्माद पर तीव्र प्रहार किया[९]। आचार-धर्म को प्रमुखता दे, उन्होंने विद्या-मद की बुराई की ओर स्पष्ट संकेत किया[१०]।

लक्ष्य का विपर्यय समझाते हुए भगवान् ने कहा—"जिस तरह कालकूट विष पीने वाले को मारता है, जिस तरह उल्टा ग्रहण किया हुआ शस्त्र शस्त्रधारी को ही घातक होता है और जिस तरह विधि से वश नहीं किया हुआ वैताल मन्त्रधारी का ही विनाश करता है, उसी तरह विषय की पूर्ति के लिए ग्रहण किया हुआ धर्म आत्मा के पतन का ही कारण होता है[११]।"

वैषम्य के विरुद्ध आत्म-तुला का मर्म समझाते हुए भगवान् ने कहा—"प्रत्येक दर्शन को पहले जान कर मैं प्रश्न करता हूँ," हे वादियो! तुम्हें सुख अप्रिय है या दुःख अप्रिय? यदि तुम स्वीकार करते हो कि दुःख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियों को, सर्व भूतों को, सर्व जीवों को और सर्व सत्वों को दुःख महा भयंकर, अनिष्ट और अशान्तिकर है[१२]। यह सब समझ कर किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

इस प्रकार भगवान् की वाणी में अहिंसा की समग्रता के साथ-साथ वैषम्य, जातिवाद, भाषावाद और हिंसक मनोभाव के विरुद्ध क्रान्ति का उच्चतम घोष था। उसने समाज की अन्तर्-चेतना को नव जागरण का संदेश दिया।

तत्त्व-चर्चा का प्रवाह

भगवान महावीर की तपःपूत वाणी ने श्रमणों को आकृष्ट किया। भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमण भगवान् महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हो

गए [१३]। अन्य तीर्थिक संन्यासी भी भगवान् की परिषद् में आने लगे। अम्बड,[१४] स्कन्दक, पुद्गल[१५] और शिव[१६] आदि परिव्राजक भगवान् के पास आए, प्रश्न किए और समाधान पा भगवान् के शिष्य बन गए।

कालोदायी आदि अन्य यूथिकों के प्रसंग भगवान् के तत्त्व-ज्ञान की व्यापक चर्चा पर प्रकाश डालते हैं[१७]। भगवान् का तत्त्व-ज्ञान बहुत सूक्ष्म था। वह युग भी धर्म-जिज्ञासुओं से भरा हुआ था। सोमिल ब्राह्मण,[१८] तुंगिया नगरी के श्रमणोपासक,[१९] जयन्ती श्राविका,[२०] माकन्दी,[२१] रोह, पिंगल[२२] आदि श्रमणों के प्रश्न तत्त्व-ज्ञान की बहती धारा के स्वच्छ प्रतीक हैं।

बिम्बसार-श्रेणिक

भगवान् जीवित धर्म थे। उनका संयम अनुत्तर था। वह उनके शिष्यों को भी संयममूर्त्ति बनाए हुए था। महानिर्ग्रन्थ अनाथ के अनुत्तर संयम को देख कर मगध सम्राट् बिम्बसार—श्रेणिक भगवान् का उपासक बन गया। वह जीवन के पूर्व-काल में बुद्ध का उपासक था। उसकी पट्टराज्ञी चेलणा महावीर की उपासिका थी। उसने सम्राट् को जैन बनाने के अनेक प्रयत्न किये। सम्राट् ने उसे बौद्ध बनाने के प्रयत्न किये। पर कोई भी किसी ओर नहीं झुका। सम्राट् ने महानिर्ग्रन्थ अनाथ को ध्यान-लीन देखा। उनके निकट गए। वार्तालाप हुआ। अन्त में जैन बन गए [२३]।

इसके पश्चात् श्रेणिक का जैन प्रवचन के साथ घनिष्ट सम्पर्क रहा। सम्राट् के पुत्र और महामन्त्री अभयकुमार जैन थे। जैन-परम्परा में आज भी अभयकुमार की बुद्धि का वरदान मांगा जाता है। जैन-साहित्य में अभयकुमार सम्बन्धी अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है [२४]।

श्रेणिक की २३ रानियां भगवान् के पास प्रव्रजित हुई [२५] उसके अनेक पुत्र भगवान् के शिष्य बने [२६]। सम्राट् श्रेणिक के अनेक प्रसंग आगमों में उल्लिखित हैं [२७]।

चेटक

वैशाली १८ देशों का गणराज्य था। उसके प्रमुख महाराजा चेटक थे। वे भगवान् महावीर के मामा थे। जैन-श्रावकों में उनका प्रमुख स्थान था।

वे बारह व्रती श्रावक थे। उनके सात कन्याएं थीं। वे जैन के सिवाय किसी दूसरे के साथ अपनी कन्याओं का विवाह नहीं करते थे।

श्रेणिक ने चेलणा को कूटनीतिक ढंग से व्याहा था। चेटक के सभी जामाता प्रारम्भ से ही जैन थे। श्रेणिक पीछे जैन बन गया।

चेटक की पुत्रियों के नाम	चेटक के जामाताओं के नाम	उनकी राजधानी के नाम
प्रभावती	उदायन	सिंधु सौवीर
पद्मावती	दधिवाहन	चम्पा
मृगावती	शतानीक	कौशम्बी
शिवा	चण्ड प्रद्योत	अवन्ती
ज्येष्ठा	भगवान् के भाई नन्दिवर्धन	कुण्डग्राम
सुज्येष्ठा	(साध्वी बन गई)	
चेलणा	बिम्बसार (श्रेणिक)	मगध

अपने दौहित्र कोणिक के साथ चेटक का भीषण संग्राम हुआ था। संग्राम भूमि में भी वे अपने व्रतों का पालन करते थे। अनाक्रमणकारी पर प्रहार नहीं करते थे। एक दिन में एक बार से अधिक शस्त्र-प्रयोग नहीं करते थे। इनके गणराज्य में जैन-धर्म का समुचित प्रसार हुआ। गणराज्य के अठारह सदस्य-नृप नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी भगवान् के निर्वाण के समय वहीं पौषध किये हुए थे।

राजर्षि

भगवान् के पास आठ राजा दीक्षित हुए—इसका उल्लेख स्थानांग सूत्र में मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं :—(१) वीरांगक (२) वीरयशा (३) संजय (४) एणेयक (५) सेय (६) शिव (७) उदायन (८) शंख—काशीवर्धन। इनमें वीरांगक, वीरयशा और संजय—ये प्रसिद्ध हैं। टीकाकार अभयदेव सूरि ने इसके अतिरिक्त कोई विवरण प्रस्तुत नहीं किया है। एणेयक श्वेतविका नरेश प्रदेशी का सम्बन्धी कोई राजा था। सेय अमलकत्था नगरी का अधिपति था। शिव हस्तिनापुर का राजा था। उसने सोचा—मैं वैभव से सम्पन्न हूँ, यह मेरे पूर्वकृत शुभ कर्मों का फल है। मुझे वर्तमान में

भी शुभ कर्म करने चाहिए। यह सोच राज्य पुत्र को सौंपा। स्वयं दिशा-प्रोक्षित तापस बन गया। दो-दो उपवास की तपस्या करता और पारणा में पेड़ से गिरे हुए पत्तों को खा लेता, इस प्रकार की चर्या करते हुए उसे विभंग अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ। उससे उसने सात द्वीप और सात समुद्रों को देखा। यह विश्व सात द्वीप और सात समुद्र प्रमाण है, इसका जनता में प्रचार किया।

भगवान् के प्रधान शिष्य गौतम भिक्षा के लिए जा रहे थे। लोगो में शिव राजर्षि के सिद्धान्त की चर्चा सुनी। वे भिक्षा लेकर लौटे। भगवान् से पूछा—भगवन्! द्वीप समुद्र कितने हैं? भगवान् ने कहा—असंख्य हैं। गौतम ने उसे प्रचारित किया। यह बात शिव राजर्षि तक पहुँची। वह संदिग्ध हुआ और उसका विभंग अवधि लुप्त हो गया। वह भगवान् के समीप आया, वार्तालाप कर भगवान् का शिष्य बन गया[२८]।

उदायन सिन्धु, सौवीर आदि सोलह जनपदों का अधिपति था। दस मुकटबद्ध राजा इसके आधीन थे। भगवान् महावीर लम्बी यात्रा कर वहाँ पधारे। राजा ने भगवान् के पास मुनि-दीक्षा ली।

वाराणसी के राजा शंख के बारे में कोई विवरण नहीं मिलता। अन्तकृद् दशा के अनुसार भगवान् ने राजा अलक को वाराणसी में प्रव्रज्या दी थी। संभव है यह उन्हीं का दूसरा नाम है।

उस युग में शासक-सम्मत धर्म को अधिक महत्त्व मिलता था। इसलिए राजाओं का धर्म के प्रति आकृष्ट होना उल्लेखनीय माना जाता। जैन-धर्म ने समाज को केवल अपना अनुगामी बनाने का यत्न नहीं किया, वह उसे व्रती बनाने के पक्ष पर भी बल देता रहा। शाश्वत सत्यों की आराधना के साथ-साथ समाज के वर्तमान दोषों से बचने के लिए भी जैन श्रावक प्रयत्नशील रहते थे। चारित्रिक उच्चता के लिए भगवान् महावीर ने जो आचार-संहिता दी, वह समाज में मानसिक स्वास्थ्य का वातावरण बनाए रखने में क्षम है। बारह व्रतों के अतिचार इस दृष्टि से माननीय हैं[२९]।

स्थूल प्राणातिपात-विरमण-व्रत के पांच प्रधान अतिचार हैं, जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और जिनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) बन्धन—बन्धन से बांधना (२) वध—पीटना (३) छवि-

च्छेद—चमड़ी या अवयवों का छेदन करना (४) अतिभार—अधिक भार लादना (५) भक्तपानविच्छेद—भोजन-पानी का विच्छेद करना—(आश्रित प्राणी को भोजन-पानी न देना)

द्वितीय स्थूल मृषावाद-विरमण व्रत के पांच प्रधान अतिचार हैं, जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और जिनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) सहसाऽभ्याख्यान—सहसा (बिना आधार) मिथ्या आरोप करना (२) रहस्याऽभ्याख्यान—गुप्त मन्त्रणा करते देख कर आरोप लगाना अथवा रहस्य प्रकट करना (३) स्वदार-मन्त्रभेद—अपनी पत्नी का मर्म प्रकट करना (४) मृषोपदेश—असत्य का उपदेश देकर उसकी ओर प्रेरित करना और (५) कूट लेखकरण—झूठे खत—पत्र बनाना।

तीसरे स्थूल अदत्तादान-विरमण व्रत के पाँच प्रधान अतिचार हैं। श्रमणोपासक को उन्हें जानना चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) स्तेनाहृत—चुराई हुई वस्तु खरीदना (२) तस्कर-प्रयोग—चोर की सहायता करना या चोरों को रख कर चोरी कराना (३) राज्य के आयात-निर्यात और जकात-कर आदि के नियमो के विरुद्ध व्यवहार करना अथवा परस्पर-विरोधी राज्यो के नियम का उल्लंघन करना (४) कूट-तोल कूटमान—खोटे तोल-माप रखना और (५) तत् प्रतिरूपक-व्यवहार—सदृश वस्तुओं का व्यवहार—उत्तम वस्तु में हल्की का मिश्रण करना या एक वस्तु दिखा कर दूसरी देना।

चतुर्थ स्थूल मैथुन-विरमण व्रत के पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

(१) इतरपरिगृहीतागमन—थोड़े समय के लिए दूसरे द्वारा गृहीत अविवाहित स्त्री के साथ आलाप-संलापरूप गमन करना (२) अपरिगृहीता-गमन—किसी के द्वारा अगृहीत वेश्या आदि से आलाप संलापरूप गमन करना (३) अनंग-क्रीड़ा—कामोत्तेजक आलिंगनादि क्रीड़ा करना अप्राकृतिक क्रीड़ा। (४) पर विवाहकरण—पर संतति का विवाह करना—और (५) कामभोग-तीव्राभिलाषा—काम-भोग की तीव्र आकांक्षा रखना।

स्थूल परिग्रह-परिमाण व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

(१) क्षेत्रवास्तु-प्रमाणातिक्रम—क्षेत्रवास्तु परिमाण का अतिक्रमण करना (२) हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम—चांदी और सोने के परिमाण का अतिक्रमण करना। (३) धनधान्य-प्रमाणातिक्रम—धन, रुपये, पैसे, रत्नादि और धान्य के परिमाण का अतिक्रमण—उल्लंघन करना (४) द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम—द्विपद—तोता, मैना, दास-दासी और चतुष्पद—गाय, भैंस आदि पशुओं के परिमाण का अतिक्रमण—उल्लंघन करना और (५) कुप्यप्रमाणातिक्रम—घर के वर्त्तन आदि उपकरणों के परिमाण का अतिक्रमण—उल्लंघन करना।

छट्ठे दिग्व्रत के पाँच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने चाहिए और जिनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) ऊर्ध्व-दिक्-प्रमाणातिक्रम—ऊर्ध्व दिशा के प्रमाण का अतिक्रमण (२) अधोदिक्-प्रमाणातिक्रम—अधोदिशा के प्रमाण का अतिक्रमण (३) तिर्यग्-दिक-प्रमाणातिक्रम—अन्य सर्वदिशा-विदिशाओं के प्रमाण का अतिक्रमण (४) क्षेत्र-वृद्धि—एक दिशा में क्षेत्र घटा कर दूसरी में बढ़ाना और (५) स्मृत्यन्तराधान—परिमाण के सम्बन्ध में स्मृति न रख आगे जाना।

सातवाँ उपभोग परिभोग व्रत दो प्रकार का कहा गया है—भोजन से और कर्म से। उसमें से भोजन सम्बन्धी पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) सचित्ताहार—प्रत्याख्यान के उपरान्त—सचित्त—सजीव वनस्पति आदि का आहार करना (२) सचित्त प्रतिबद्धाहार—सचित्त वस्तु के साथ लगी अचित्त वस्तु का भोजन करना—जैसे गुठली सहित सूखे बेर या खजूर खाना। (३) अपक्वौषधि-भक्षण—अग्नि से न पकी औषधि—वनस्पति—शाकभाजी का भक्षण करना (४) दुष्पक्वौषधि-भक्षण—अर्द्ध पकी औषधि—वनस्पति का भक्षण करना और (५) तुच्छौषधि—असार वनस्पति—शाकभाजी का भक्षण करना।

कर्म-आश्रयी श्रमणोपासक को पन्द्रह कर्मादान जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) अंगार कर्म—जिसमें अंगार—अग्नि का विशेष प्रयोग होता हो, ऐसा उद्योग या व्यापार (२) वन कर्म—जंगल, वृक्ष वनस्पति बेचने का व्यापार, वृक्षादि काटने का

धंधा (३) शाकट-कर्म—गाड़ी आदि वाहन बनाने बेचने या चलाने का काम करना (४) भाटक कर्म—गाड़ा वगैरह वाहन भाड़े पर चलाने का काम (५) स्फोट-कर्म—जिसमें भूमि खोदने, पर्वत आदि स्फोट करने का काम हो (६) दन्त-वाणिज्य—हाथी दांत आदि प्राणियों के अवयवों का व्यापार (७) लाक्षावाणिज्य—लाख वगैरह का व्यापार (८) रस-वाणिज्य—मदिरा वगैरह का व्यापार (६) केशवाणिज्य—केश का व्यापार (१०) विष-वाणिज्य—जहरीली वस्तुएं और शस्त्रादि का व्यापार (११) यन्त्रपीलन-कर्म—तिल, ऊख वगैरह पीलने का काम (१२) निर्लाछन कर्म—बैल आदि को नपुंसक करने का काम (१३) दावाग्नि वापन—वन आदि को अग्नि लगा साफ करने का धन्धा (१४) सरदहतालाब-शोषण—सरोवर, दह, तालाब आदि के शोषण का काम और (१५) असतीजनपोषण—आजीविका के लिए वेश्यादि का पोषण अथवा पक्षियों का खेल-तमाशा, मांस, अण्डे आदि के व्यापार के लिए पोषण।

आठवें अनर्थ विरमण व्रत के पांच अतिचार हैं। जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और जिनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) कन्दर्प—कामोत्तेजक बातें करना (२) कौत्कुच्य—भौंहें, नेत्र, मुंह, हाथ, पैर आदि को विकृत कर परिहास उत्पन्न करना (३) मौखर्य—वाचालता, असंबद्ध आलाप (४) संयुक्ताधिकरण—हिंसा के साधन शस्त्रादि-तैयार रखना और (५) उपभोग परिभोगा-तिरिक्तता—उपभोग परिभोग वस्तुओं की अधिकता।

नवें सामायिक व्रत के पांच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने चाहिए और जिनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) मनोदुष्प्रणिधान—मन की बुरी प्रवृत्ति (२) वाग्दुष्प्रणिधान—वाणी की दुष्प्रवृत्ति तथा (३) कायदुष्प्रणिधान—काया की दुष्प्रवृत्ति की हो (४) स्मृतिअकरण—सामायिक की स्मृति न रखना और (५) अनवस्थित-करण—सामायिक व्यवस्थित–नियत रूप से न करना।

दसवें देशावकाशिक व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार है :—(१) आनयन-

प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र के बाहर से सन्देशादि द्वारा कोई वस्तु मंगाना (२) प्रेष्यण-प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र के बाहर भृत्यादि द्वारा कुछ भेजना (३) शब्दानुपात—खांसी वगैरह शब्दों द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर किसी को मनोगत भाव व्यक्त करना (४) रूपानुपात—रूप दिखा कर अथवा इंगितों द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर किसी को मनोगत भाव प्रगट करना (५) बहिः पुद्गल प्रक्षेप—कंकर आदि फेंक कर इशारा करना।

ग्यारहवें पौषधोपवास व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या-संस्तारक—वसति और कम्बल आदि का प्रतिलेखन—निरीक्षण न करना अथवा अच्छी तरह न करना (२) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक—बसति और कम्बल आदि वस्तुओं का प्रमार्जन न करना अथवा अच्छी तरह प्रमार्जन न करना (३) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चारप्रस्रवणभूमि—उच्चार—टट्टी की जगह और प्रस्रवण–पेशाव करने की जगह का प्रतिलेखन—निरीक्षण न करना अथवा अच्छी तरह निरीक्षण न करना (४) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवणभूमि—टट्टी की भूमि और पेशाव करने की भूमि का प्रमार्जन न करना अथवा अच्छी तरह से प्रमार्जन न करना (५) पौषधोपवास-सम्यक्अपालन—पौषधोपवास व्रत का विधिवत् पालन नहीं करना।

बारहवें यथासंविभाग व्रत के पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) सचित्त-निक्षेप—साधु को देने योग्य आहारादि पर सचित बनस्पति वगैरह रखना (२) सचित्त-पिधान—आहार आदि सचित्त वस्तु से ढकना (३) कालातिक्रम—साधुओं को देने के समय को टालना (४) परव्यपदेश—'यह वस्तु दूसरे की है'—ऐसा कहना और (५) मत्सरिता—मात्सर्यपूर्वक दान देना।

संलेखना

अपश्चिममारणांतिक-संलेखनाजोषणाराधना के पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) इहलोकाशंसा—मैं 'राजा होऊं'—ऐसी इहलौकिक

कामना (२) परलोकाशंसा-प्रयोग—"मैं देव होऊं"—ऐसी परलोक की इच्छा करना (३) जीविताशंसा-प्रयोग—"मैं जीवत रहूँ"—ऐसी इच्छा करना (४) मरणाशंसा-प्रयोग—"मैं शीघ्र मरूं"—ऐसी इच्छा करना और (५) कामभोगाशंसा प्रयोग—कामभोग की कामना करना[३०]।

इनमें से कुछेक अतिचारों के वर्णन से केवल आध्यात्मिकता की पुष्टि होती है। किन्तु इनमें अधिकांश ऐसे हैं जो आध्यात्मिकता की पुष्टि के साथ-साथ जीवन के व्यावहारिक पक्ष को भी समुन्नत बनाए रखते हैं। दिग्व्रत के अतिचारों में आक्रमण, साम्राज्य-लिप्सा और भोग-विस्तार का भाव दिया है। ऊर्ध्व दिशा और अधो दिशा में जाने के साधनों पर अंकुश लगाया गया है। इन व्रतों और अतिचार—निषेधों का आज के चारित्रिक मूल्यों को स्थिर रखने में महत्त्वपूर्ण योग है। डा० अल्टेकर ने इसका अंकन इन शब्दों में किया है—"हमारे देश में आने वाले यूनानी, चीनी एवं मुसलमान यात्रियों ने बड़ी-बड़ी प्रशंसात्मक बातें कही हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सदाचार और तपस्या सम्बन्धी भगवान् महावीर आदि महात्माओं के सिद्धान्त हमारे पूर्वजों के चरित्र में मूर्त्तिमन्त हुए थे। हम में यह दुर्बलता जो आज दिखाई पड़ रही है, वह विदेशी दासता के कारण ही उत्पन्न हुई है। इसलिए समाज से भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए आज अणुव्रत के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है[३१]।"

भगवान् महावीर के युग में जैन-धर्म भारत के विभिन्न भागों में फैला। सम्राट् अशोक के पुत्र सम्प्रति ने जैन-धर्म का सन्देश भारत से बाहर भी पहुँचाया। उस समय जैन मुनियों का विहार-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे ने अहिंसक-परम्परा की चर्चा करते हुए लिखा है—"ई० सन् की पहली शताब्दी में और उसके बाद के हजार वर्षों तक जैन-धर्म मध्य पूर्व के देशों में किसी न किसी रूप में यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म को प्रभावित करता रहा है।" प्रसिद्ध जर्मन इतिहास लेखक वान क्रेमर के अनुसार मध्यपूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास-लेखक जी० एफ० मूर लिखता है कि "हजरत ईसा के जन्म की शताब्दी से पूर्व ईराक, श्याम और फिलस्तीन में जैन-मुनि और बौद्ध-भिक्षु

सैंकड़ों की संख्या में फैले हुए थे। 'सिया हत नाम ए ना सिर' का लेखक लिखता है कि इस्लाम धर्म के कलन्दरी तवके पर जैन-धर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। कलंदर चार नियमों का पालन करते थे—साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे [३२]।"

महात्मा ईसु क्राइस्ट जैन सिद्धान्तों के सम्पर्क में आये और उनका प्रभाव ले गए थे। रामस्वामी अय्यर ने इस प्रसंग की चर्चा करते हुए लिखा है—"यहूदियों के इतिहास लेखक 'जोजक्स' के लेख से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में गुजरात प्रदेश द्राविड़ों के ताबे में था और गुजरात का पालीताणा नगर तामिलनाड प्रदेश के अधीन था। यही कारण है कि दक्षिण से दूर जा कर भी यहूदियों ने पालीताणा के नाम से ही "पेलिस्टाइन" नाम का नगर बसाया और गुजरात का पालीताणा ही पेलिस्टाइन हो गया। गुजरात का पालीताणा जैनों का प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। प्रतीत होता है कि ईसू खीष्ट ने इसी पालीताणा में आकर बाईबिल लिखित ४० दिन के जैन उपवास द्वारा जैन शिक्षा लाभ की थी [३३]।"

जैन-धर्म का प्रसार अहिंसा, शान्ति, मैत्री और संयम का प्रसार था। इसलिए उस युग को भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग का कहा जाता है। पुरातत्त्व-विद्वान् पी० सी० राय चौधरी के अनुसार—"यह धर्म धीरे-धीरे फैला, जिस प्रकार ईसाई-धर्म का प्रचार यूरोप में धीरे-धीरे हुआ। श्रेणिक, कुणिक, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति, खारवेल तथा अन्य राजाओं ने जैन-धर्म को अपनाया। वे शताब्द भारत के हिन्दू-शासन के वैभवपूर्ण युग थे। जिन युगों में जैन-धर्म सा महान् धर्म प्रचारित हुआ [३४]।"

कभी-कभी एक विचार प्रस्फुटित होता है—जैन-धर्म के अहिंसा-सिद्धान्त ने भारत को कायर बना दिया पर यह सत्य से बहुत दूर है। अहिंसक कभी कायर नहीं होता। यह कायरता और उसके परिणामस्वरूप परतन्त्रता हिंसा के उत्कर्ष से, आपसी वैमनस्य से आई और तब आई जब जैन-धर्म के प्रभाव से भारतीय मानस दूर हो रहा था।

भगवान् महावीर ने समाज के जो नैतिक मूल्य स्थिर किए, उनमें ये बातें सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। पहिली संकल्प-

हिंसा का त्याग—अनाक्रमण और दूसरी—परिग्रह का सीमाकरण। यह लोकतन्त्र या समाजवाद का प्रधान सूत्र है। वाराणसी संस्कृत विश्व-विद्यालय के उपकुलपति आदित्यनाथ झा ने इस तथ्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—"भारतीय जीवन में प्रज्ञा और चारित्र्य का समन्वय जैन और बौद्धों की विशेष देन है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य-मार्ग-परम्परा का अन्धानुसरण नहीं है, प्रत्युत तर्क और उपपत्तियों से सम्मत तथा बौद्धिक रूप से सन्तुलित दृष्टिकोण ही सत्य-मार्ग है। इस दृष्टिकोण की प्राप्ति तभी सम्भव हैं जब मिथ्या विश्वास पूर्णतः दूर हो जाय। इस बौद्धिक आधार-शिला पर ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के बल से सम्यक् चारित्र्य को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

जैन-धर्म का आचार-शास्त्र भी जनतन्त्रवादी भावनाओं से अनुप्राणित है। जन्मतः सभी व्यक्ति समान हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार गृहस्थ या मुनि हो सकता है।

अपरिग्रह सम्बन्धी जैन धारणा भी विशेषतः उल्लेखनीय है। आज इस बात पर अधिकाधिक बल देने की आवश्यकता है, जैसा कि प्राचीन काल के जैन विचारकों ने किया था। 'परिमित परिग्रह' उनका आदर्श वाक्य था। जैन विचारकों के अनुसार परिमित्त-परिग्रह का सिद्धान्त प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य रूप से आचरणीय था। सम्भवतः भारतीय आकाश में समाजवादी समाज के विचारों का यह प्रथम उद्घोष था [३५]।"

प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति के विकास की क्षमता, आत्मिक समानता, क्षमा, मैत्री, विचारों का अनाग्रह आदि के बीज जैन-धर्म ने बोए थे। महात्मा गांधी का निमित्त पा, वे केवल भारत के ही नहीं, विश्व की राजनीति के क्षेत्र में पल्लवित हो रहे हैं।

विस्तार और संक्षेप

भगवान् महावीर की जन्म-भूमि, तपोभूमि और विहारभूमि विहार था। इसलिए महावीर कालीन जैन-धर्म पहले बिहार में पल्लवित हुआ। कालक्रम से वह बंगाल, उड़ीसा, उत्तरभारत, दक्षिणभारत, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य-प्रान्त और राजपूताने में फैला। विक्रम की सहस्राब्दी के पश्चात् शैव,

लिंगायत, वैष्णव आदि वैदिक सम्प्रदायों के प्रबल विरोध के कारण जैन धर्म का प्रभाव सीमित हो गया। अनुयायियों की अल्प संख्या होने पर भी जैन-धर्म का सैद्धान्तिक प्रभाव भारतीय चेतना पर व्याप्त रहा। बीच-बीच में प्रभावशाली जैनाचार्य उसे उद्बुद्ध करते रहे। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में गुजरात का वातावरण जैन-धर्म से प्रभावित था।

गूर्जर-नरेश जयसिंह और कुमारपाल ने जैन-धर्म को बहुत ही प्रश्रय दिया और कुमारपाल का जीवन जैन-आचार का प्रतीक बन गया था। सम्राट् अकबर भी हीरविजयसूरि से प्रभावित थे। अमेरिकी दार्शनिक विलड्यूरेन्ट ने लिखा है—"अकबर ने जैनों के कहने पर शिकार छोड़ दिया था और कुछ नियत तिथियों पर पशु-हत्याएँ रोक दी थीं। जैन-धर्म के प्रभाव से ही अकबर ने अपने द्वारा प्रचारित दीन-इलाही नामक सम्प्रदाय में मांस-भक्षण के निषेध का नियम रखा था[३६]।

जैन मंत्री, दण्डनायक और अधिकारियों के जीवन-वृत्त बहुत ही विस्तृत हैं। वे विधर्मी राजाओं के लिए भी विश्वास-पात्र रहे हैं। उनकी प्रामाणिकता और कर्तव्यनिष्ठा की व्यापक प्रतिष्ठा थी। जैनत्व का अंकन पदार्थों से नहीं, किन्तु चारित्रिक मूल्यों से ही हो सकता है।

जैन संस्कृति और कला

माना जाता है—आर्य भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर ई० सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व आये। आर्यों से पहले बसने वाले पूरु, भद्र, उर्वश, सुहत्रू, अनु, कुनाश, शंबर, नमुचि, व्रात्य आदि मुख्य थे। जैन-धर्मों में व्रतों की परम्परा बहुत ही प्राचीन है। उसके संवाहक श्रमण व्रती थे। उनका अनुगामी समाज व्रात्य था—यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

प्राग्-वैदिक और वैदिक काल में तपो-धर्म का प्राबल्य था। तपो-धर्म का परिष्कृत विकास ही जैन-धर्म है—कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं[३७]। तपस्या जैन-साधना-पद्धति का प्रमुख अंग है। भगवान् महावीर दीर्घ-तपस्वी कहलाते थे। जैन-श्रमणों को भी तपस्वी कहा गया है। "तवे सूरा अणगारा" तप में शूर अणगार होते हैं—यह जैन-परम्परा का प्रसिद्ध वाक्य है।

भगवान् महावीर के समय में जैन-धर्म को निर्ग्रन्थ-प्रवचन कहा जाता

था। बौद्ध-साहित्य में भगवान् का उल्लेख 'निग्गंठ नातपुत्त' के नाम से हुआ है। वर्तमान में वही निर्ग्रन्थ-प्रवचन जैन-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है।

व्रात्य का मूल व्रत है। व्रत शब्द आत्मा के सान्निध्य और बाह्य जगत् के दूरत्व का सूचक है। तप के उद्‌भव का मूल जीवन का समर्पण है। जैन-परम्परा तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप में मान्य करती है। भगवान् महावीर ने अज्ञानपूर्ण तप का उतना ही विरोध किया है, जितना कि ज्ञानपूर्ण तप का समर्थन। अहिंसा पालन में बाधा न आये, उतना तप सब साधकों के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्हीं के लिए है:—जिनमें आत्म-बल या दैहिक विराग तीव्रतम हो। निर्ग्रन्थ शब्द अपरिग्रह और जैन शब्द कषाय-विजय का प्रतीक है। इस प्रकार जैन-संस्कृति आध्यात्मिकता, त्याग, सहिष्णुता, अहिंसा, समन्वय, मैत्री, क्षमा, अपरिग्रह और आत्म-विजय की धाराओं का प्रतिनिधित्व करती हुई विभिन्न युगों में विभिन्न नामों द्वारा अभिव्यक्त हुई है।

एक शब्द में जैन-संस्कृति की आत्मा उत्सर्ग है। बाह्य स्थितियों में जय-पराजय की अनवरत शृङ्खला चलती है। वहाँ पराजय का अन्त नहीं होता। उसका पर्यवसान आत्म-विजय में होता है। यह निर्द्वन्द्व स्थिति है। जैन-विचारधारा की बहुमूल्य देन संयम है।

सुख का वियोग मत करो, दुःख का संयोग मत करो—सबके प्रति संयम करो[३८]। सुख दो और दुःख मिटाओ की भावना में आत्म-विजय का भाव नहीं होता। दुःख मिटाने की वृत्ति और शोषण, उत्पीड़न तथा अपहरण, साथ-साथ चलते हैं। इधर शोषण और उधर दुःख मिटाने की वृत्ति—यह उच्च संस्कृति नहीं।

सुख का वियोग और दुःख का संयोग मत करो—यह भावना आत्म-विजय की प्रतीक है। सुख का वियोग किए बिना शोषण नहीं होता, अधि-कारों का हरण और द्वन्द्व नहीं होता।

सुख मत लूटो और दुःख मत दो—इस उदात्त-भावना में आत्म-विजय का स्वर जो है, वह है ही। उसके अतिरिक्त जगत् की नैसर्गिक स्वतन्त्रता का भी महान् निर्देश है।

प्राणीमात्र अपने अधिकारों में रमणशील और स्वतन्त्र है, यही उनकी सहज सुख की स्थिति है।

सामाजिक सुख-सुविधा के लिए इसकी उपेक्षा की जाती है, किन्तु उस उपेक्षा को शाश्वत-सत्य समझना भूल से परे नहीं होगा।

दश प्रकार का संयम[३९], दश प्रकार का संवर[४०] और दश प्रकार का विरमण है वह सब स्वात्मोन्मुखी वृत्ति है, या वह निवृत्ति है या है निवृत्ति-संवलित प्रवृत्ति।

दश आशंसा के प्रयोग संसारोन्मुखी वृत्ति है[४१]। जैन-संस्कृति में प्रमुख वस्तु है 'दृष्टिसम्पन्नता'—सम्यक् दर्शन। संसारोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर और आत्मोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर अवस्थित रहती है, कोई दुविधा नहीं होती। अव्यवस्था तब होती है, जब दोनों का मूल्यांकन एक ही दृष्टि से किया जाय। संसारोन्मुखी वृत्ति में मनुष्य अपने लिए मनुष्येतर जीवों के जीवन का अधिकार स्वीकार नहीं करते। उनके जीवन का कोई मूल्य नहीं आँकते। दुःख मिटाने और सुखी बनाने की वृत्ति व्यावहारिक है, किन्तु क्षुद्र-भावना, स्वार्थ और संकुचित वृत्तियों को प्रश्रय देनेवाली है। आरम्भ और परिग्रह—ये व्यक्ति को धर्म से दूर किये रहते हैं[४२]। बड़ा व्यक्ति अपने हित के लिए छोटे व्यक्ति की, बड़ा राष्ट्र अपने हित के लिए छोटे राष्ट्र की निर्मम उपेक्षा करते नहीं सकुचाता।

बड़े से भी कोई बड़ा होता है और छोटे से भी कोई छोटा। बड़े द्वारा अपनी उपेक्षा देख छोटा तिलमिलाता है, किन्तु छोटे के प्रति कठोर बनते वह नहीं सोचता। यहाँ गतिरोध होता है।

जैन विचारधारा यहाँ बताती है—दुःखनिवर्तन और सुख-दान की प्रवृत्ति को समाज की विवशात्मक अपेक्षा समझो, उसे ध्रुव-सत्य मान मत चलो। सुख मत लूटो, दुःख मत दो—इसे विकसित करो। इसका विकास होगा तो दुःख मिटाओ, सुखी बनाओ की भावना अपने आप पूरी होगी। दुःखी न बनाने की भावना बढ़ेगी तो दुःख अपने आप मिट जाएगा। सुख न लूटने की भावना दृढ़ होगी तो सुखी बनाने की आवश्यकता ही क्या होगी?

संक्षेप में तत्त्व यह है—दुःख-सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास

मत समझो। संयम जीवन का विकास है और असंयम ह्रास। असंयमी थोड़ों को व्यावहारिक लाभ पहुँचा सकता है, किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नहीं त्याग सकता।

संयमी थोड़ों का व्यावहारिक हित न साध सके, फिर भी वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषण-मुक्त रहता है। मनुष्य-जीवन उच्च संस्कारी बने, इसके लिए उच्च वृत्तियाँ चाहिएं; जैसे :—

(१) आर्जव या ऋजुभाव, जिससे विश्वास बढ़े।

(२) मार्दव या दयालुता, जिससे मैत्री बढ़े।

(३) लाघव या नम्रता, जिससे सहृदयता बढ़े।

(४) क्षमा या सहिष्णुता, जिससे धैर्य बढ़े।

(५) शौच या पवित्रता, जिससे एकता बढ़े।

(६) सत्य या प्रामाणिकता, जिससे निर्भयता बढ़े।

(७) माध्यस्थ्य या आग्रह-हीनता, जिससे सत्य स्वीकार की शक्ति बढ़े।

किन्तु इन सबको संयम की अपेक्षा है। "एक ही साधे सब सधे" संयम की साधना हो तो सब सध जाते हैं, नहीं तो नहीं। जैन विचारधारा इस तथ्य को पूर्णता का मध्य-बिन्दु मान कर चलती है। अहिंसा इसी की उपज है[४३], जो 'जैन-विचारणा' की सर्वोपरि देन मानी जाती है।

प्रवर्तक-धर्म पुण्य या स्वर्ग को ही अन्तिम साध्य मान कर रुक जाता था। उसमें जो मोक्ष-पुरुषार्थ की भावना का उदय हुआ है, वह निवर्तक-धर्म या श्रमण संस्कृति का ही प्रभाव है।

अहिंसा और मुक्ति—श्रमण-संस्कृति की ये दो ऐसी आलोक-रेखाएँ हैं, जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्यों को देखने का अवसर मिलता है।

जब जीवन का धर्म—अहिंसा या कष्ट-सहिष्णुता और साध्य—मुक्ति या स्वातन्त्र्य बन जाता है, तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति रोके नहीं रुकती। आज की प्रगति की कल्पना के साथ ये दो धाराएँ और जुड़ जायें तो साम्य आयेगा, भोगपरक नहीं किन्तु त्यागपरक; वृत्ति बढ़ेगी—दानमय नहीं किन्तु अग्रहणमय; नियन्त्रण बढ़ेगा—दूसरों का नहीं किन्तु अपना।

अहिंसा का विकास संयम के आधार पर हुआ है। जर्मन विद्वान् अलबर्ट

स्वीजर ने इस तथ्य का बड़ी गम्भीरता से प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार "यदि अहिंसा के उपदेश का आधार सचमुच ही करुणा होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि उसमें मारने, कष्ट न देने की ही सीमाएँ कैसे बंध सकीं और दूसरों को सहायता प्रदान करने की प्रेरणा से वह कैसे विलग रह सकी है ? यह दलील कि संन्यास की भावना मार्ग में बाधक बनती है, सत्य का मिथ्या आभास मात्र होगा। थोड़ी से थोड़ी करुणा भी इस संकुचित सीमा के प्रति विद्रोह कर देती। परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ।

अतः अहिंसा का उपदेश करुणा की भावना से उत्पन्न न होकर संसार से पवित्र रहने की भावना पर आधृत है। यह मूलतः कार्य के आचरण से नहीं अधिकतर पूर्ण बनने के आचारण से सम्बन्धित है। यदि प्राचीन काल का धार्मिक भारतीय जीवित प्राणियों के साथ के सम्पर्क में अकार्य के सिद्धान्त का दृढ़ता पूर्वक अनुसरण करता था तो वह अपने लाभ के लिए, न कि दूसरे जीवों के प्रति करुणा के भाव से। उसके लिए हिंसा एक ऐसा कार्य था, जो वर्ज्य था।

यह सच है कि अहिंसा के उपदेश में सभी जीवों के समान स्वभाव को मान लिया गया है परन्तु इसका आविर्भाव करुणा से नहीं हुआ है। भारतीय संन्यास में अकर्म का साधारण सिद्धान्त ही इसका कारण है।

अहिंसा स्वतन्त्र न होकर करुणा की भावना की अनुयायी होनी चाहिए। इस प्रकार उसे वास्तविकता से व्यावहारिक विवेचन के क्षेत्र में पदार्पण करना चाहिए। नैतिकता के प्रति शुद्ध भक्ति उसके अन्तर्गत वर्तमान मुसीबतों का सामना करने की तत्परता से प्रकट होती है।

पर पुनर्वार कहना पड़ता है कि भारतीय विचारधारा हिंसा न करना और किसी को क्षति न पहुँचाना, ऐसा ही कहती रही है तभी वह शताब्दी गुजर जाने पर भी उस उच्च नैतिक विचार की अच्छी तरह रक्षा कर सकी, जो इसके साथ सम्मिलित है।

जैन-धर्म में सर्व प्रथम भारतीय संन्यास ने आचारगत विशेषता प्राप्त की। जैन-धर्म मूल से ही नहीं मारने और कष्ट न देने के उपदेश को महत्व देता है जब कि उपनिषदों में इसे मानो प्रसंगवश कह दिया गया है। साधारणतः यह

कैसे संगत हो सकता है कि यज्ञों में जिनका नियमित कार्य था पशु-हत्या करना, उन ब्राह्मणों में हत्या न करने का विचार उठा होगा? ब्राह्मणों ने अहिंसा का उपदेश जैनों से ग्रहण किया होगा, इस विचार की ओर संकेत करने के पर्याप्त कारण हैं।

हत्या न करने और कष्ट न पहुँचाने के उपदेश की स्थापना मानव के आध्यात्मिक इतिहास में महानतम अवसरों में से एक है। जगत् और जीवन के प्रति अनासक्ति और कार्य-त्याग के सिद्धान्त से प्रारम्भ होकर प्राचीन भारतीय विचारधारा इस महान् खोज तक पहुंच जाती है, जहाँ आचार की कोई सीमा नहीं। यह सब उस काल में हुआ जब दूसरे अंचलों में आचार की उतनी अधिक उन्नति नहीं हो सकी थी। मेरा जहाँ तक ज्ञान है जैन धर्म में ही इसकी प्रथम स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई [४४]।

सामान्य धारणा यह है कि जैन-संस्कृति निराशावाद या पलायनवाद की प्रतीक है। किन्तु यह चिन्तन पूर्ण नहीं है। जैन-संस्कृति का मूल तत्त्ववाद है। कल्पनावाद में कोरी आशा होती है। तत्त्ववाद में आशा और निराशा का यथार्थ अंकन होता है। ऋग्वेद के गीतों में वर्तमान भावना आशावादी है। उसका कारण तत्त्व-चिन्तन की अल्पता है। जहाँ चिन्तन की गहराई है वहाँ विषाद की छाया पाई जाती है। उषा को सम्बोधित कर कहा गया है कि वह मनुष्य-जीवन को क्षीण करती है [४५]। उल्लास और विषाद विश्व के यथार्थ रूप हैं। समाज या वर्तमान के जीवन की भूमिका में केवल उल्लास की कल्पना होती है। किन्तु जब अनन्त अतीत और भविष्य के गर्भ में मनुष्य का चिन्तन गतिशील होता है, समाज के कृत्रिम बन्धन से उन्मुक्त हो जब मनुष्य 'व्यक्ति' स्वरूप की ओर दृष्टि डालता है, कोरी कल्पना से प्रसूत आशा के अन्तरिक्ष से उतर वह पदार्थ की भूमि पर चला जाता है, समाज और वर्तमान की वेदी पर खड़े लोग कहते हैं—यह निराशा है, पलायन है। तत्त्व-दर्शन की भूमिका में से निहारने वाले लोग कहते हैं कि यह वास्तविक आनन्द की ओर प्रयाण है। पूर्व औपनिषदिक विचारधारा के समर्थकों को ब्रह्मद्विष् (वेद से घृणा करने वाले) देवनिन्द (देवताओं की निन्दा करने वाले) कहा गया। भगवान् पार्श्व उसी परम्परा के ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनका समय हमें उस

काल में ले जाता है जब ब्राह्मण-ग्रन्थों का निर्माण हो रहा था। जिसे पलायनवाद कहा गया। उससे उपनिषद्-साहित्य मुक्त नहीं रहा।

परिग्रह के लिए सामाजिक प्राणी कामनाएँ करते हैं। जैन उपासकों का कामना सूत्र है—

(१) कब मैं अल्प मूल्य एवं बहु मूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूँगा [४६]।

(२) कब मैं मुण्ड हो गृहस्थपन छोड़ साधुव्रत स्वीकार करूँगा [४७]।

(३) कब मैं अपश्चिम-मारणान्तिक-संलेखना यानी अन्तिम अनशन में शरीर को झोसकर—जुटाकर और भूमि पर गिरी हुई वृक्ष की डाली की तरह अडोल रख कर मृत्यु की अभिलाषा न करता हुआ विचरूँगा [४८]।

जैनाचार्य धार्मिक विचार में बहुत ही उदार रहे हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों को केवल धार्मिक नेतृत्व दिया। उन्हें परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था में कभी नहीं बांधा। समाज-व्यवस्था को समाज-शास्त्रियों के लिए सुरक्षित छोड़ दिया। धार्मिक विचारों के एकत्व की दृष्टि से जैन-समाज है किन्तु सामाजिक बन्धनों की दृष्टि से जैन-समाज का कोई अस्तित्व नहीं है। जैनों की संख्या करोड़ों से लाखों में हो गई, उसका कारण यह हो सकता है और इस सिद्धान्तवादिता के कारण वह धर्म के विशुद्ध रूप की रक्षा भी कर सका है।

जैन-संस्कृति का रूप सदा व्यापक रहा है। उसका द्वार सबके लिए खुला रहा है। भगवान् ने अहिंसा-धर्म का निरूपण उन सबके लिए किया—जो आत्म-उपासना के लिए तत्पर थे या नहीं थे, जो उपासना-मार्ग सुनना चाहते थे या नहीं चाहते थे, जो शस्त्रीकरण से दूर थे या नहीं थे, जो परिग्रह की उपाधि से बन्धे हुए थे या नहीं थे, जो पौद्गलिक संयोग में फंसे हुए थे या नहीं थे—और सबको धार्मिक जीवन बिताने के लिए प्रेरणा दी और उन्होंने कहा :—

(१) धर्म की आराधना में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप-श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए [४९]।

(२) धर्म की आराधना में जाति-पांति का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप सभी जातियों के लोग उनके संघ में प्रव्रजित हुए [५०]।

(३) धर्म की आराधना में क्षेत्र का भेद नहीं हो सकता। वह गाँव में भी की जा सकती है और अरण्य में भी की जा सकती है [५१]।

(४) धर्म की आराधना में वेष का भेद नहीं हो सकता। उसका अधिकार श्रमण को भी है, गृहस्थ को भी है [५२]।

(५) भगवान् ने अपने श्रमणों से कहा—धर्म का उपदेश जैसे पुण्य को दो, वैसे ही तुच्छ को दो। जैसे तुच्छ को दो, वैसे ही पुण्य को दो [५३]।

इस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाम्प्रदायिकता और जातीयता का अभाव है। व्यवहार-दृष्टि में जैनों के सम्प्रदाय हैं। पर उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय के साथ नहीं बांधा। वे जैन-सम्प्रदाय को नहीं, जैनत्व को महत्त्व देते हैं। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना। इनकी आराधना करने वाला अन्य सम्प्रदाय के वेष में भी मुक्त हो जाता है, गृहस्थ के वेष में भी मुक्त हो जाता है शास्त्रीय शब्दों में उन्हें क्रमशः अन्य-लिंग-सिद्ध और गृह-लिंग-सिद्ध कहा जाता है [५४]।

इस व्यापक और उदार चेतना की परिणति ने ही जैन आचार्यों को यह कहने के लिए प्रेरित किया—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

(हरिभद्र सूरि)

भव-बीजाङ्कुर-जनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु र्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥

(आचार्य हेमचन्द्र)

स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा॥

(उपाध्याय यशोविजय)

सहज ही प्रश्न होता है—जैन-संस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक और उदार था, तब वह लोक-संग्रह करने में अधिक सफल क्यों नहीं हुई?

इसके समाधान में कहा जा सकता है—जैन दर्शन की सूक्ष्म सिद्धान्त-वादिता, तपोमार्ग की कठोरता, अहिंसा की सूक्ष्मता और सामाजिक बन्धन

का अभाव—ये सारे तत्त्व लोक संग्रहात्मक पक्ष को अशक्त करते रहे हैं। जैन-साधु-संघ का प्रचार के प्रति उदासीन मनोभाव भी उसके विस्तृत न होने का प्रमुख कारण बना है।

कला

कला विशुद्ध सामाजिक तत्त्व है। उसका धर्म या दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है। पर धर्म जब शासन बनता है, उसका अनुगमन करने वाला समाज बनता है, तब कला भी उसके सहारे पल्लवित होती है।

जैन-परम्परा में कला शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने राजत्व-काल में पुरुषों के लिए बहत्तर और स्त्रियों के लिए चौसठ कलाओं का निरूपण किया[५५]। टीकाकारों ने कला का अर्थ वस्तु-परिज्ञान किया है। इसमें लेख, गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, काव्य, वेष-भूषा, स्थापत्य, पाक, मनोरंजन आदि अनेक परिज्ञानों का समावेश किया गया है।

धर्म भी एक कला है। यह जीवन की सबसे बड़ी कला है। जीवन के सारस्य की अनुभूति करने वाले तपस्वियों ने कहा है—जो व्यक्ति सब कलाओं में प्रवर धर्म-कला को नहीं जानता, वह बहत्तर कलाओं में कुशल होते हुए भी अकुशल है[५६]। जैन-धर्म का आत्म-पक्ष धर्म-कला के उन्नयन में ही संलग्न रहा। बहिरंग-पक्ष सामाजिक होता है। समाज-विस्तार के साथ साथ ललित कला का भी विस्तार हुआ।

चित्र-कला

जैन-चित्रकला का श्रीगणेश तत्त्व-प्रकाशन से होता है। गुरु अपने शिष्यों को विश्व-व्यवस्था के तत्त्व स्थापना के द्वारा समझाते हैं। स्थापना तदाकार और अतदाकार दोनों प्रकार की होती है। तदाकार स्थापना के दो प्रयोजन हैं—तत्त्व-प्रकाशन और स्मृति। तत्त्व-प्रकाशन-हेतुक स्थापना के आधार पर चित्र-कला और स्मृति हेतुक स्थापना के आधार मूर्तिकला का विकास हुआ। ताडपत्र और पत्रों पर ग्रन्थ लिखे गए और उनमें चित्र किये गए। विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में हजारों ऐसी प्रतियां लिखी गईं, जो कलात्मक चित्राकृतियों के कारण अस्तुत्य सी हैं।

ताडपत्रीय या पत्रीय प्रतियों के पट्ठों, चातुर्मासिक प्रार्थनाओं, कल्याण-मन्दिर, भक्तामर आदि स्तोत्रों के चित्रों को देखे बिना मध्यकालीन चित्र-कला का इतिहास अधूरा ही रहता है।

योगी मारा गिरिगुहा (रामगढ़ की पहाड़ी, सरगुजा) और सितन्नवासल (पद्दुकोटै राज्य) के भित्ति-चित्र अत्यन्त प्राचीन व सुन्दर हैं।

चित्र-कला की विशेष जानकारी के लिए जैन चित्रकल्पद्रुम देखना चाहिए।

लिपि-कला

अक्षर-विन्यास भी एक सुकुमार कला है। जैन साधुओं ने इसे बहुत ही विकसित किया। सौन्दर्य और सूक्ष्मता दोनों दृष्टियो से इसे उन्नति के शिखर तक ले गए।

पन्द्रह सौ वर्ष पहले लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ और वह अब तक विकास पाता रहा है। लेखन-कला में यतियों का कौशल विशेष रूप में प्रस्फुटित हुआ है।

तेरापन्थ के साधुओ ने भी इस कला में चमत्कार प्रदर्शित किया है। सूक्ष्म लिपि में ये अग्रणी हैं। कई मुनियों ने ११ इंच लम्बे व ५ इंच चौड़े पन्ने में लगभग ८० हजार अक्षर लिखे हैं। ऐसे पत्र आज तक अपूर्व माने जाते रहे हैं।

मूर्त्ति-कला और स्थापत्य-कला

कालक्रम से जैन-परम्परा में प्रतिमा-पूजन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सिद्धान्त की दृष्टि से इसमें दो धाराएं हैं। कुछ जैन सम्प्रदाय मूर्त्ति-पूजा करते हैं और कुछ नहीं करते। किन्तु कला की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण विषय है।

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन-मूर्ति पटना के लोहनीपुर स्थान से प्राप्त हुई है। यह मूर्त्ति मौर्य-काल की मानी जाती है और पटना म्यूजियम में रखी हुई है। इसकी चमकदार पालिस अभी तक भी ज्यों की त्यों बनी है। लाहौर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि के म्यूजियमों में भी अनेक जैन-मूर्त्तियां मौजूद हैं। इनमें से कुछ गुप्त कालीन हैं। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि मथुरा में २४ वें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्त्ति मिली है जो कुमारगुप्त के

समय में तैयार की गई थी। वास्तव में मथुरा में जैन मूर्ति-कला की दृष्टि से भी बहुत काम हुआ है। श्री रायकृष्णदास ने लिखा है कि मथुरा की शुंग-कालीन कला मुख्यतः जैन-सम्प्रदाय की है[५७]।

खण्डगिरि और उदयगिरि में ई० पू० १८८—३० तक की शुंग-कालीन मूर्ति-शिल्प के अद्भुत चातुर्य के दर्शन होते हैं। वहाँ पर इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाएं हैं, जिनमें मूर्त्ति-शिल्प भी हैं। दक्षिण भारत के अलगामले नामक स्थान में खुदाई से जो जैन-मूर्त्तियां उपलब्ध हुई हैं, उनका समय ई० पू० ३००-२०० के लगभग बताया जाता है। उन मूर्त्तियों की सौम्याकृति द्राविड़कला में अनुपम मानी जाती है। श्रवण बेलगोला की प्रसिद्ध जैन-मूर्ति तो संसार की अद्भुत वस्तुओं में से है। वह अपने अनुपम सौन्दर्य और अद्भुत शान्ति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह विश्व को जैन मूर्त्ति-कला की अनुपम देन है।

मौर्य और शुंग-काल के पश्चात् भारतीय मूर्त्ति-कला की मुख्य तीन धाराएं हैं :—

(१) गांधार-कला—जो उत्तर-पश्चिम में पनपी।

(२) मथुरा-कला—जो मथुरा के समीपवर्ती क्षेत्रों में विकसित हुई।

(३) अमरावती की कला—जो कृष्णा नदी के तट पर पल्लवित हुई।

जैन मूर्त्ति-कला का विकास मथुरा-कला से हुआ।

जैन स्थापत्य-कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि, खण्डगिरि एवं जूनागढ़ की गुफाओं में मिलते हैं।

उत्तरवर्ती स्थापत्य की दृष्टि से चित्तौड़ का कीर्ति-स्तम्भ, आबू के मन्दिर एवं राणकपुर के जैन मन्दिरों के स्तम्भ भारतीय शैली के रक्षक रहे हैं।

पाँच

१३५—१४८

संघ व्यवस्था और चर्या

भगवान् महावीर के समकालीन धर्म-सम्प्रदाय

संघ-व्यवस्था और संस्कृति का उन्नयन

समाचारी

आचार्य के छह कर्त्तव्य

दिनचर्या

श्रावक-संघ

श्रावक के छह गुण

शिष्टाचार

जैनपर्व

भगवान् महावीर के समकालीन धर्म-सम्प्रदाय

भगवान् महावीर का युग धार्मिक मतवादों और कर्मकाण्डों से संकुल था। बौद्ध साहित्य के अनुसार उस समय तिरेसठ श्रमण-सम्प्रदाय विद्यमान थे [1]। जैन-साहित्य में तीन सौ तिरेसठ धर्म-मतवादों का उल्लेख मिलता है [2]। यह भेदोपभेद की विस्तृत चर्चा है। संक्षेप में सारे सम्प्रदाय चार वर्गों में समाते थे। भगवान् ने उन्हें चार समवसरण कहा है। वे हैं :—

(१) क्रियावाद (२) अक्रियावाद (३) विनयवाद (४) अज्ञानवाद [3]।

बौद्ध साहित्य भी संक्षिप्त दृष्टि से छह श्रमण-सम्प्रदायों का उल्लेख करता है। उनके मतवाद ये हैं :—

(१) अक्रियावाद (२) नियतिवाद (३) उच्छेदवाद (४) अन्योन्यवाद (५) चातुर्याम संवरवाद (६) विक्षेपवाद।

और इनके आचार्य क्रमशः ये हैं :—

(१) पूरण कश्यप (२) मक्खलिगोशाल (३) अजित केश कंबलि (४) पकुधकात्यायन (५) निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र (६) संजयवेलट्ठिपुत्र [4]।

अक्रियावाद और उच्छेदवाद—ये दोनों लगभग समान हैं।

इन्हें अनात्मवादी या नास्तिक कहा जा सकता है। दशाश्रुत स्कन्ध (छठी दशा) में अक्रियावाद का वर्णन इस प्रकार है :—

नास्तिकवादी, नास्तिक प्रज्ञ, नास्तिक दृष्टि, नो सम्यग्वादी, नो नित्यवादी—उच्छेदवादी, नो परलोकवादी—ये अक्रियावादी हैं।

इनके अनुसार इहलोक नहीं है, परलोक नहीं है, माता नहीं है, पिता नहीं है, अरिहन्त नहीं है, चक्रवर्ती नहीं है, बलदेव नहीं है, वासुदेव नहीं है, नरक नहीं है, नैरयिक नहीं है, सुकृत और दुष्कृत के फल में अन्तर नहीं है, सुचीर्ण कर्म का अच्छा फल नहीं होता, दुश्चीर्ण कर्म का बुरा फल नहीं होता, कल्याण और पाप अफल हैं, पुनर्जन्म नहीं है, मोक्ष नहीं है [5]।

सूत्र कृतांग में अक्रियावाद के कई मतवादों का वर्णन है। वहाँ अनात्मवाद,

आत्मा के अकर्तृत्ववाद, मायावाद, बन्ध्यवाद या नियतवाद—इन सबको अक्रियावाद कहा है [६]।

नियतिवाद की चर्चा भगवती (१५) और उपासक दशा (७) में मिलती है।

अन्योन्यवाद सब पदार्थों को वन्ध्य और नियत मानता है, इसलिए उसे अक्रियावाद कहते हैं। इनका वर्णन इन शब्दों में है—सूर्य न उदित होता है और न अस्त होता है,[७] चन्द्रमा न बढ़ता है और न घटता है, जल प्रवाहित नहीं होता है, वायु नहीं बहती है—यह समूचा लोक बन्ध्य और नियत है [८]।

विक्षेपवाद का समावेश अज्ञानवाद में होता है। सूत्र कृतांग के अनुसार—"अज्ञानवादी तर्क करने में कुशल होने पर भी असंबद्धभाषी हैं। क्योंकि वे स्वयं सन्देह से परे नहीं हो सके हैं[९]। यह संजयवेलट्ठिपुत्र के अभिमत की ओर संकेत है [१०]।

भगवान् महावीर क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, और अज्ञानवाद की समीक्षा करते हुए दीर्घकाल तक संयम में उपस्थित रहे [११]। भगवान् ने क्रियावाद का मार्ग चुना। उनका आचार आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मुक्ति के सिद्धान्त पर स्थिर हुआ। उनकी संस्कृति को हम इसी कसौटी पर परख सकते हैं।

कुछेक विद्वानों की चिन्तनधारा यह है कि यज्ञ आदि कर्मकाण्डो के विरोध में जैन-धर्म का उद्भव हुआ। यह भ्रमपूर्ण है। अहिंसा और संयम जैन-संस्कृति का प्रधान सूत्र है। उसकी परम्परा भगवान् महावीर से बहुत ही पुरानी है। भगवान् ने अपने समय की बुराइयों व अविवेकपूर्ण धार्मिक क्रियाकाण्डों पर हिंसाप्रधान यज्ञ, जातिवाद, भाषावाद, दास-प्रथा आदि पर तीव्र प्रहार किया किन्तु यह उनकी अहिंसा का समग्र रूप नहीं है। यह केवल उसकी सामयिक व्याख्या है। उन्होंने अहिंसा की जो शाश्वत व्याख्या दी उसका आधार संयम की पूर्णता है। उसका संबंध उन्होंने उसीसे जोड़ा है जो पार्श्वनाथ आदि सभी तीर्थंकरों से प्रचारित की गई [१२]।

भारतीय संस्कृति वैदिक और प्रागवैदिक दोनों धाराओं का मिश्रित रूप है। श्रमण-संस्कृति प्राग् वैदिक है। भगवान् महावीर उसके उन्नायक थे।

उन्होंने प्राचीन परम्पराओं को आगे बढ़ाया। अपने सम सामयिक विचारों की परीक्षा की और उनके आलोक में अपने अभिमत जनता को समझाए। उनके विचारों का आलोचना पूर्वक विवेचन सूत्र कृतांग में मिलता है। वहाँ पंच महाभूतवाद[१३], एकात्मवाद[१४], तज्जीवतच्छरीरवाद[१५], अकारकवाद[१६], षष्ठात्मवाद[१७], नियतिवाद[१८], सृष्टिवाद[१९], कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छा-वाद, प्रकृतिवाद आदि अनेक विचारों की चर्चा और उन पर भगवान् का दृष्टिकोण मिलता है।

संघ-व्यवस्था और संस्कृति का उन्नयन

संस्कृति की साधना अकेले में हो सकती है पर उसका विकास अकेले में नहीं होता, उसका प्रयोजन ही नहीं होता, वह समुदाय में होता है। समुदाय मान्यता के बल पर बनते हैं। असमानताओं के उपरान्त भी कोई एक समानता आती है और लोग एक भावना में जुड़ जाते हैं।

जैन मनीषियों का चिन्तन साधना के पक्ष में जितना वैयक्तिक है, उतना ही साधना-संस्थान के पक्ष में सामुदायिक है। जैन तीर्थंकरों ने धर्म को एक ओर वैयक्तिक कहा, दूसरी ओर तीर्थ का प्रवर्तन किया—श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविकाओं के संघ की स्थापना की।

जैन साहित्य में चर्या या सामाचारी के लिए 'विनय' शब्द का प्रयोग होता है। उत्तराध्ययन के पहले और दशवैकालिक के नवें अध्ययन में विनय का सूक्ष्म-दृष्टि से निरूपण किया गया है। विनय एक तपस्या है। मन, वाणी और शरीर को संयत करना विनय है, यह संस्कृति है। इसका बाह्य रूप लोकोपचार विनय है। इसे सभ्यता का उन्नयन कहा जा सकता है। इसके सात रूप हैं:—

१—अभ्यासवर्तिता—अपने बड़ों के समीप रहने का मनोभाव।

२—परछन्दानुवर्तिता—अपने बड़ों की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना।

३—कार्यहेतु—गुरु के द्वारा दिये हुए ज्ञान आदि कार्य के लिए उनका सम्मान करना।

४—कृतप्रतिकर्तृता—कृतज्ञ होना, उपकार के प्रति कुछ करने का मनोभाव रखना।

५—आर्त्त-गवेषणता—आर्त्त व्यक्तियों की गवेषणा करना।

६—देश-कालज्ञता—देश और काल को समझ कर कार्य करना।

७—सर्वार्थ-प्रतिलोमता—सब अर्थों में प्रयोजनों के अनुकूल प्रवृत्ति करना[२०]।

सामाचारी

श्रमण-संघ के लिए दस प्रकार की सामाचारी का विधान है[२१]।

१–आवश्यकी—उपाश्रय से बाहर जाते समय आवश्यकी—आवश्यक कार्य के लिए जाता हूँ—कहे।

२–नैषेधिकी—कार्य से निवृत्त होकर आए तब नैषेधिकी—मैं निवृत्त हो चुका हूँ—कहे।

३–आपृच्छा—अपना कार्य करने की अनुमति लेना।

४–प्रतिपृच्छा—दूसरों का कार्य करने की अनुमति लेना।

५–छन्दना—भिक्षा में लाए आहार के लिए साधर्मिक साधुओं को आमंत्रित करना।

६–इच्छाकार—कार्य करने की इच्छा जताना, जैसे :—आप चाहें तो मैं आपका कार्य करूं?

७–मिथ्याकार—भूल हो जाने पर स्वयं उसकी आलोचना करना।

८–तथाकार—आचार्य के वचनों को स्वीकार करना।

९–अभ्युत्थान—आचार्य आदि गुरुजनों के आने पर खड़ा होना, सम्मान करना।

१०–उपसम्पदा—ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए गुरु के समीप विनीत भाव से रहना अथवा दूसरे साधुगणों में जाना।

जैसे शिष्य का आचार्य के प्रति कर्त्तव्य होता है, वैसे ही आचार्य का भी शिष्य के प्रति कर्त्तव्य होता है। आचार्य शिष्य को चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति सिखा कर उऋण होता है :—

१—आचार-विनय २—श्रुत-विनय ३–विक्षेपणा-विनय और ४—दोष-निर्घात-विनय[२२]।

आचार-विनय के चार प्रकार हैं :—

(१) संयम सामाचारी—संयम के आचरण की विधि।

(२) तप सामाचारी—तपश्चरण की विधि।

(३) गण सामाचारी—गण की व्यवस्था की विधि।

(४) एकाकी विहार सामाचारी—एकल विहार की विधि।

श्रुत-विनय के चार प्रकार हैं :—

(१) सूत्र पढ़ाना।

(२) अर्थ पढ़ाना।

(३) हितकर विषय पढ़ाना।

(४) निःशेष पढ़ाना—विस्तार पूर्वक पढ़ाना।

विक्षेपणा-विनय के चार प्रकार हैं :—

(१) जिसने धर्म नहीं देखा, उसे धर्म-मार्ग दिखा कर सम्यक्त्वी बनाना।

(२) जिसने धर्म देखा है, उसे साधर्मिक बनाना।

(३) धर्म से गिरे हुए को धर्म में स्थिर करना।

(४) धर्म-स्थित व्यक्ति के हित, सुख और मोक्ष के लिए तत्पर रहना।

दोष-निर्घात-विनय के चार प्रकार हैं :—

(१) कुपित के क्रोध को उपशान्त करना।

(२) दुष्ट के दोष को दूर करना।

(३) आकांक्षा का छेदन करना।

(४) आत्मा को श्रेष्ठ मार्ग में लगाना।

आचार्य के छह कर्त्तव्य

संघ की व्यवस्था के लिए आचार्य को निम्नलिखित छह बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

१—सूत्रार्थ स्थिरीकरण—सूत्र के विवादग्रस्त अर्थ का निश्चय करना अथवा सूत्र और अर्थ में चतुर्विध संघ को स्थिर करना।

२—विनय—सबके साथ नम्रता से व्यवहार करना।

३—गुरु-पूजा—अपने बड़े अर्थात् स्थविर साधुओं की भक्ति करना।

४—शैक्ष बहुमान—शिक्षा-ग्रहण करने वाले और नव दीक्षित साधुओं का सत्कार करना।

५—दानपति श्रद्धा वृद्धि—दान देने में दाता की श्रद्धा बढ़ाना।

६—बुद्धिबलवर्द्धन—अपने शिष्यों की बुद्धि तथा आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाना[२३]।

शिष्य के लिए चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति आवश्यक होती है। :—

१–उपकरण-उत्पादनता २–सहायता ३–वर्ण-संज्वलनता ४–भारप्रत्यवरोहणता।

उपकरण-उत्पादन के चार प्रकार हैं :—

(१) अनुत्पन्न उपकरणों का उत्पादन।

(२) पुराने उपकरणों का संरक्षण और संघ गोपन करना।

(३) उपकरण कम हो जांए तो उनका पुनरुद्धार करना।

(४) यथाविधि संविभाग करना।

सहायता के चार प्रकार हैं :—

(१) अनुकूल वचन बोलना।

(२) काया द्वारा अनुकूल सेवा करना।

(३) जैसे सुख मिले वैसे सेवा करना।

(४) अकुटिल व्यवहार करना।

वर्ण-संज्वलनता के चार प्रकार है :—

(१) यथार्थ गुणों का वर्णन करना।

(२) अवर्णवादी को निरुत्तर करना।

(३) यथार्थ गुण वर्णन करने वालों को बढ़ावा देना।

(४) अपने से वृद्धों की सेवा करना।

भारप्रत्यवरोहणता के चार प्रकार हैं :—

(१) निराधार या परित्यक्त साधुओं को आश्रय देना।

(२) नव दीक्षित साधु को आचार-गोचर की विधि सिखाना।

(३) साधर्मिक के रुग्ण हो जाने पर उसकी यथाशक्ति सेवा करना।

(४) साधर्मिकों में परस्पर कलह उत्पन्न होने पर किसी का पक्ष लिए

बिना मध्यस्थ भाव से उसके उपशमन, क्षमायाचना आदि का प्रयत्न करना, ये मेरे साधर्मिक किस प्रकार कलह-मुक्त होकर समाधि सम्पन्न हों, ऐसा चिन्तन करते रहना[२४]।

दिनचर्या

अपर रात्र में उठ कर आत्मालोचन व धर्म जागरिका करना—यह चर्या का पहला अंग है[२५]। स्वाध्याय, ध्यान आदि के पश्चात् आवश्यक कर्म करना[२६]। आवश्यक—अवश्य करणीय कर्म छह हैं :—

१—सामायिक—समभाव का अभ्यास, उसकी प्रतिज्ञा का पुनरावर्तन।

२—चतुर्विंशस्तव—चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति।

३—वन्दना—आचार्य को दशावर्त्त-वन्दना।

४—प्रतिक्रमण—कृत दोषों की आलोचना।

५—कार्योत्सर्ग–काया का स्थिरीकरण–स्थिर चिन्तन।

६—प्रत्याख्यान—त्याग करना।

इस आवश्यक कार्य से निवृत्त होकर सूर्योदय होते-होते मुनि भाण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन करे, उन्हें देखे। उसके पश्चात् हाथ जोड़ कर गुरु से पूछे—मैं क्या करूँ? आप मुझे आज्ञा दें—मैं किसी की सेवा में लगूँ या स्वाध्याय में? यह पूछने पर आचार्य सेवा में लगाए तो अग्लान-भाव से सेवा करे और यदि स्वाध्याय में लगाए तो स्वाध्याय करे[२७]। दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं—स्वाध्याय और ध्यान। कहा है :—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्याय मामनेत्।
ध्यान-स्वाध्याय-संपत्त्या, परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान करे और ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय। इस प्रकार ध्यान और स्वाध्याय के क्रम से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। आगमिक काल-विभाग इस प्रकार रहा है—दिन के पहले पहर में स्वाध्याय करें, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षा-चर्या और चौथे में फिर स्वाध्याय[२८]।

रात के पहले पहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद ले और चौथे में फिर स्वाध्याय करे[२९]।

पूर्व रात्र में भी आवश्यक कर्म करे[३०]। पहले प्रहर में प्रतिलेखन[३१] करे

वैसे चौथे प्रहर में भी करे[३२], यह मुनि की जागरुकतापूर्ण जीवन-चर्या है।

श्रावक-संघ

धर्म की आराधना में जैसे साधु-साध्वियाँ संघ के अंग हैं, वैसे श्रावक-श्राविकाएं भी हैं। ये चारों मिलकर ही चतुर्विध-संघ को पूर्ण बनाते हैं। भगवान् ने श्रावक-श्राविकाओं को साधु-साध्वियों के माता-पिता तुल्य कहा है[३३]।

श्रावक की धार्मिक चर्या यह है :—

१—सामायिक के अंगों का अनुपालन।

२—दोनों पक्षों में पौषधोपवास[३४]।

आवश्यक कर्म जैसे साधु-संघ के लिए हैं, वैसे ही श्रावक-संघ के लिए भी हैं।

श्रावक के छह गुण

देश विरति चारित्र का पालन करने वाला श्रद्धा-सम्पन्न-व्यक्ति श्रावक कहलाता है। इसके छह गुण हैं :—

१—व्रतों का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान।

व्रतों का अनुष्ठान चार प्रकार से होता है—

(क) विनय और बहुमान पूर्वक व्रतों को सुनना।

(ख) व्रतों के भेद और अतिचारों को सांगोपांग जानना।

(ग) गुरु के समीप कुछ काल के लिए अथवा सदा के लिए व्रतों को अंगीकार करना।

(घ) ग्रहण किये हुए व्रतों को सम्यक् प्रकार पालना।

२—शील (आचार)—इस के छह प्रकार हैं :—

(क) जहाँ बहुत से शीलवान् बहुश्रुत साधर्मिक लोग एकत्र हों, उस स्थान को आयतन कहते हैं, वहाँ आना-जाना रखना।

(ख) बिना कार्य दूसरे के घर न जाना।

(ग) चमकीला-भड़कीला वेष न रखते हुए सादे वस्त्र पहनना।

(घ) विकार उत्पन्न करने वाले बचन न कहना।

(ङ) बाल-क्रीड़ा अर्थात् जुआ आदि कुव्यसनों का त्याग करना।

(च) मधुर नीति से अर्थात् शान्तिमय मीठे वचनों से कार्य चलाना, कठोर वचन न बोलना।

३—गुणवत्ता—इसके पाँच प्रकार हैं :—

(१) वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा रूप पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना।

(२) तप, नियम, वन्दनादि अनुष्ठानों में तत्पर रहना।

(३) विनयवान् होना।

(४) दुराग्रह नहीं करना।

(५) जिनवाणी में रुचि रखना।

४—ऋजु व्यवहार करना—निष्कपट होकर सरल भाव से व्यवहार करना।

५—गुरु-सुश्रूषा।

६—प्रवचन अर्थात् शास्त्रों के ज्ञान में प्रवीणता [३५]।

शिष्टाचार

शिष्टाचार के प्रति जैन आचार्य बड़ी सूक्ष्मता से ध्यान देते हैं। वे आशातना को सर्वथा परिहार्य मानते हैं। किसी के प्रति अनुचित व्यवहार करना हिंसा है। आशातना हिंसा है। अभिमान भी हिंसा है। नम्रता का अर्थ है कषाय-विजय। अभ्युत्थान, अभिवादन, प्रियनिमन्त्रण, अभिमुखगमन, आसन-प्रदान, पहुँचाने के लिए जाना, प्रांजलीकरण आदि-आदि शिष्टाचार के अंग हैं। इनका विशद वर्णन उत्तराध्ययन के पहले और दशवैकालिक के नवें अध्ययन में है।

श्रावक व्यवहार-दृष्टि से दूसरे श्रावकों को भी वन्दना करते थे [३६]। धर्म-दृष्टि से उनके लिए वन्दनीय मुनि होते हैं। वन्दना की विधि यह है :—

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं (करेमि) वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।

जैन आचार्य आत्मा को तीन स्थितियों में विभक्त करते हैं :—

(१) बहिरात्मा—जिसे देह और आत्मा का भेद-ज्ञान न हो, मिथ्या-दृष्टि।

(२) अन्तरात्मा—जो देह और आत्मा को पृथक् जानता हो, सम्यग्-दृष्टि।

(३) परमात्मा—जो चारित्र-सम्पन्न हो।

नमस्कार महामन्त्र में पाँच परमात्माओं को नमस्कार किया जाता है।

यह आध्यात्मिक और त्याग-प्रधान संस्कृति का एक संक्षिप्त-सा रूप है। इसका सामाजिक जीवन पर भी प्रतिबिम्ब पड़ा है।

जैनपर्व

१—अक्षय तृतीया

२—पर्युषण व दसलक्षण

३—महावीर जयन्ती

४—दीपावली

पर्व अतीत की घटनाओं के प्रतीक होते हैं। जैनों के मुख्य पर्व इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया, पर्युषण व दस लक्षण, महावीर जयन्ती और दीपावली हैं।

अक्षय तृतीया का सम्बन्ध आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ से है। उन्होंने वैशाख सुदी तृतीया के दिन बारह महीनों की तपस्या का इक्षु-रस से पारणा किया। इसलिए वह इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया कहलाता है।

पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है। भाद्र बदी १२ या १३ से भाद्र सुदी ४ या ५ तक यह पर्व मनाया जाता है। इसमें तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान आदि आत्म-शोधक प्रवृत्तियों की आराधना की जाती है। इसका अन्तिम दिन सम्वत्सरी कहलाता है। वर्ष भर की भूलों के लिए क्षमा लेना और क्षमा देना इसकी स्वयंभूत विशेषता है। यह पर्व मैत्री और उज्ज्वलता का संदेशवाहक है।

दिगम्बर-परम्परा में भाद्र शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक दस लक्षण पर्व मनाया जाता है। इसमें प्रतिदिन क्षमा आदि दस धर्मों में एक-एक धर्म की आराधना की जाती है। इसलिए इसे दस लक्षण पर्व कहा जाता है।

महावीर जयन्ती चैत्र शुक्ला १३ को भगवान् महावीर के जन्म दिवस के उपलक्ष में मनाई जाती है।

दीपावली का संबंध भगवान् महावीर के निर्वाण से है। कार्तिकी अमा-

वस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ था। उस समय देवों ने और राजाओं ने प्रकाश किया था। उसी का अनुसरण दीप जला कर किया जाता है।

दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्ण के जो प्रसंग हैं वे केवल जन-श्रुति पर आधारित हैं, किन्तु इस त्योहार का जो सम्बन्ध जैनियों से है, वह इतिहास-सम्मत है। प्राचीनतम जैन ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट शब्दों में कही गई है कि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि तथा अमावस्या के दिन प्रभात के बीच सन्धि-वेला में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था तथा इस अवसर पर देवों तथा इन्द्रों ने दीपमालिका सजाई थी।

आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण में जिसका रचना-काल शक संवत् ५०७ माना गया है। स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि दीपावली का महोत्सव भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति में मनाया जाता है। दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही प्राचीनतम प्रमाण है[३७]।

दूसरा खण्ड

ज्ञान मीमांसा

ज्ञेय और ज्ञान-विभाग

ज्ञान की नियामक शक्ति

ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञान-दर्शन विषयक तीन मान्यताएँ

ज्ञेय और अज्ञेयवाद

पदार्थ की दृष्टि से

पर्याय की दृष्टि से

नियतिवाद

सर्वज्ञता का पारम्पर्य भेद

ज्ञान क्या है?

जो आत्मा है, वह जानता है। जो जानता है, वह आत्मा है[1]।

आत्मा और अनात्मा में अत्यन्ताभाव है। आत्मा कभी अनात्मा नहीं बनता और अनात्मा कभी आत्मा नहीं बनता।

आत्मा भी द्रव्य है और अनात्मा भी द्रव्य है[2]। दोनों अनन्तगुण और पर्यायों के अविच्छिन्न-समुदय हैं[3]। सामान्य गुण से दोनों अभिन्न भी हैं। वे भिन्न हैं विशेष गुण से। वह (विशेष गुण) चैतन्य है। जिसमें चैतन्य है, वह आत्मा है और जिसमें चैतन्य नहीं है, वह अनात्मा है[4]।

प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणों की दृष्टि से आत्मा चित्-स्वरूप नहीं है। वह चैतन्य की दृष्टि से ही चित्-स्वरूप है[5]। इसीलिए कहा है—आत्मा ज्ञान से भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है किन्तु भिन्नाभिन्न है—भिन्न भी है और अभिन्न भी है[6]। ज्ञान आत्मा ही है, इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है[7]। ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है—ज्ञान सरीखे अनन्त गुणों का समूह है, इसलिए गुणी और गुणी के रूप में ये भिन्न भी हैं।

आत्मा जानता है और ज्ञान जानने का साधन है। कर्त्ता और करण की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं[8]।

तात्पर्य की भाषा में आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है।

ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है?

ज्ञेय और ज्ञान दोनों स्वतन्त्र हैं। ज्ञेय हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। ज्ञान आत्मा का गुण है। न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय। हमारा ज्ञान जाने या न जाने फिर भी पदार्थ अपने रूप में अवस्थित हैं। यदि वे हमारे ज्ञान की ही उपज हों तो उनकी असत्ता में उन्हें जानने का हमारा प्रयत्न ही क्यों होगा? हम अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते।

पदार्थ ज्ञान के विषय बनें या न बनें फिर भी हमारा ज्ञान हमारी आत्मा में अवस्थित है। यदि हमारा ज्ञान पदार्थ की उपज हो तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा। हमारे साथ उसका तादात्म्य नहीं हो सकेगा।

वस्तु स्थिति यह है कि हम पदार्थ को जानते हैं, तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता किन्तु वह उसका प्रयोग है। ज्ञान या जानने की क्षमता हममें विकसित रहती है। किन्तु ज्ञान की आवृत-दशा में हम पदार्थ को माध्यम के बिना जान नहीं सकते। हमारे शारीरिक इन्द्रिय और मन अचेतन हैं। इनसे पदार्थ का सम्बन्ध या सामीप्य होता है, तब वे हमारे ज्ञान को प्रवृत्त करते हैं और ज्ञेय जान लिए जाते हैं। अथवा हमारे अपने संस्कार किसी पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को प्रेरित करते हैं। तब वे जाने जाते हैं। यह ज्ञान की उत्पत्ति नहीं किन्तु प्रवृत्ति है। शत्रु को देख कर बन्दूक चलाने की इच्छा हुई और चलाई—यह शक्ति की उत्पत्ति नहीं किन्तु उसका प्रयोग है। मित्र को देख कर प्रेम उमड़ आया—यह प्रेम की उत्पत्ति नहीं, उसका प्रयोग है। यही स्थिति ज्ञान की है। विषय के सामने आने पर वह उसे ग्रहण कर लेता है। यह प्रवृत्ति मात्र है। जितनी ज्ञान की क्षमता होती है, उसके अनुसार ही वह जानने में सफल हो सकता है।

हमारा ज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही ज्ञेय को जानता है। इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। वे अपने-अपने विषयों को मन के साथ सम्बन्ध स्थापित कर ही जान सकती हैं। मन का सम्बन्ध एक साथ एक इन्द्रिय से ही होता है। इसलिए एक काल में एक पदार्थ की एक ही पर्याय (रूप) जानी जा सकती है। इसलिए ज्ञान को ज्ञेयाकार मानने की भी आवश्यकता नहीं होती। उक्त सीमा आवृत्त-ज्ञान के लिए है। अनावृत-ज्ञान से एक साथ सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं।

सहज तर्क होगा कि एक साथ सभी को जानने का अर्थ है किसी को भी न जानना।

जिसे जानना है उसे ही न जाना जाय और सबके सब जाने जायं तो व्यवहार कैसे निभे ? यह ज्ञान का सांकर्य है।

जैन-दृष्टि के अनुसार इसका समाधान यों किया कि पदार्थ अपने-अपने रूप में हैं, वे संकर नहीं बनते। अनन्त पदार्थ हैं और ज्ञान के पर्याय भी अनन्त हैं। अनन्त के द्वारा अनन्त का ग्रहण होता है, यह सांकर्य नहीं है।

वाणी में एक साथ एक ही ज्ञेय के निरूपण की क्षमता है। उसके द्वारा

अनेक ज्ञेय के निरूपण की मान्यता को संकर कहा जा सकता है किन्तु ज्ञान की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। इसलिए ज्ञान की अनन्त पर्यायों के द्वारा अनन्त ज्ञेयों को जानने में कोई बाधा नहीं आती। विषय के स्थूल रूप या वर्तमान पर्याय का ज्ञान हमें इन्द्रियों से मिलता है, उसके सूक्ष्म-रूप या भूत और भावी पर्यायों की जानकारी मन से मिलती है। इन्द्रियों में कल्पना, संकलन और निष्कर्ष का ज्ञान नहीं होता। मन दो या उनसे अधिक बोधों को मिला कल्पना कर सकता है। अनेक अनुभवों को जोड़ सकता है और उनके निष्कर्ष निकाल सकता है। इसीलिए यह सत्य नहीं है कि ज्ञान विषय से उत्पन्न होता है या उसके आकार का ही होता है। इन्द्रिय का ज्ञान बाहरी विषय से प्राप्त होता है। मन का ज्ञान बाहरी विषय से भी प्राप्त होता है और उसके बिना भी। हमारा प्रयोजन ज्ञेय को जानना ही होता है तब पदार्थ ज्ञेय और हमारा ज्ञान उपयोग होता है और जब हमारा उपयोग प्राप्त बोध की आलोचना में लगता है, तब पदार्थ ज्ञेय नहीं होता। उस समय पहले का ज्ञान ही ज्ञेय बन जाता है और जब हमारे जानने की प्रवृत्ति नहीं होती, तब हमारा उपयोग वापस ज्ञान बन जाता है—ज्ञेय के प्रति उदासीन हो अपने में ही रम जाता है।

ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञान और ज्ञेय का 'विषय-विषयी-भाव' सम्बन्ध है।

जैन-दृष्टि के अनुसार:—

(१) ज्ञान अर्थ में प्रविष्ट नहीं होता, अर्थ ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता।

(२) ज्ञान अर्थाकार नहीं है।

(३) अर्थ से उत्पन्न नहीं है।

(४) अर्थ रूप नहीं है—तात्पर्य कि इनमें पूर्ण अभेद नहीं है। प्रमाता ज्ञान-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषयी है अर्थ ज्ञेय-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषय है। दोनों स्वतन्त्र हैं। फिर भी ज्ञान में अर्थ को जानने की और अर्थ में ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने की क्षमता है। वही दोनों के कथंचित् अभेद की हेतु है।

ज्ञान दर्शन और सम्वेदना

चैतन्य के तीन प्रधान रूप हैं—जानना, देखना और अनुभूति करना। चक्षु के द्वारा देखा जाता है, शेष इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है। यह हमारा व्यवहार है।

सिद्धान्त कहता है—जैसे चक्षु का दर्शन है, वैसे अचक्षु (शेष इन्द्रिय और मन) का भी दर्शन है। अवधि और केवल का भी दर्शन है [९]।

शेष इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है, वैसे चक्षु के द्वारा भी जाना जाता है। चक्षु का ज्ञान भी है।

दर्शन का अर्थ देखना नहीं है। दर्शन का अर्थ है एकता या अभेद का ज्ञान। ज्ञान का अर्थ अपने आप सीमित हो गया। अनेकता या भेद को जानना ज्ञान है। ज्ञान पांच हैं[१०] और दर्शन चार [११]। मनः पर्याय ज्ञान भेद को ही जानता है, इसलिए उसका दर्शन नहीं होता।

विश्व न तो सर्वथा विभक्त है और न सर्वथा अविभक्त। गुण और पर्याय से विभक्त भी है, द्रव्यगत-एकता से अविभक्त भी है। आवृत ज्ञान की क्षमता कम होती है, इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य का सामान्य रूप जाना जाता है, फिर उसके विभिन्न परिवर्तन और उनकी क्षमता जानी जाती है।

अनावृत (केवल) ज्ञान की क्षमता असीम होती है। इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य के परिवर्तन और उनकी क्षमता जानी जाती है फिर उनकी एकता।

केवली पहले क्षण में अनन्त शक्तियों का पृथक्-पृथक् आकलन करते हैं और दूसरे क्षण में उन्हें द्रव्यत्व की सामान्य-सत्ता में गुंथे हुए पाते हैं। इस प्रकार केवल ज्ञान और केवल दर्शन का क्रम चलता रहता है।

हम लोग एक क्षण में कुछ भी नहीं जान सकते। ज्ञान का सूक्ष्म प्रयत्न होते-होते असंख्य क्षणों में द्रव्य की सामान्य-सत्ता तक पहुँच पाते हैं और उसके बाद क्रमशः उसकी एक-एक विशेषता को जानते हैं—इस प्रकार हमारा चक्षु-अचक्षु दर्शन पहले होता है और मति-श्रुत बाद में। विशेष को जान कर सामान्य को जानना ज्ञान और दर्शन है। सामान्य को जान कर विशेष को जानना दर्शन और ज्ञान है।

ज्ञान और वेदना-अनुभूति

स्पर्शन, रसन और घ्राण—ये तीन इन्द्रियाँ भोगी तथा चक्षु और श्रोत्र—ये दो कामी हैं [१२]। कामी इन्द्रियों के द्वारा सिर्फ विषय जाना जाता है, उसकी अनुभूति नहीं होती। भोगी इन्द्रियों के द्वारा विषय का ज्ञान और अनुभूति दोनों होते हैं।

इन्द्रियों के द्वारा हम बाहरी वस्तुओं को जानते हैं। जानने की प्रक्रिया सब की एक-सी नहीं है। चक्षु की ज्ञान-शक्ति शेष इन्द्रियों से अधिक पटु है, इसलिए वह अस्पृष्ट रूप को जान लेता है।

श्रोत्र की ज्ञान-शक्ति चक्षु से कम है। वह स्पृष्ट शब्द को ही जान सकता है। शेष तीन इन्द्रियों की क्षमता श्रोत्र से भी कम है। वे अपने विषय को बद्ध-स्पृष्ट हुए बिना नहीं जान सकते [१३]।

बाहरी विषय का स्पर्श किये बिना या उसके स्पर्श मात्र से जो ज्ञान होता है, वहाँ अनुभूति नहीं होती। अनुभूति वहाँ होती है, जहाँ इन्द्रिय और विषय का निकटतम सम्बन्ध स्थापित होता है। स्पर्शन, रसन और घ्राण अपने-अपने विषय के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित होने पर उसे जानते हैं, इसलिए उन्हें ज्ञान भी होता है और अनुभूति भी।

अनुभूति मानसिक भी होती है पर वह बाहरी विषयों के गाढ़तम सम्पर्क से नहीं होती। किन्तु वह विषय के अनुरूप मन का परिणमन होने पर होती है [१४]।

मानसिक अनुभव की एक उन्नतम दशा भी है। बाहरी विषय के बिना भी जो सत्य का भास होता है, वह शुद्ध मानसिक ज्ञान भी नहीं है और शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान भी नहीं है। वह इन दोनों के बीच की स्थिति है [१५]।

वेदना के दो रूप

(सुख-दुख)

बाह्य जगत् की जानकारी हमें इन्द्रियों द्वारा मिलती है। उसका संवर्धन मन से होता है। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप पदार्थ के मौलिक गुण हैं, शब्द उसकी पर्याय (अनियत-गुण) है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को जानती है। इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान का विस्तार मन से होता है। दुख और

दुख जो बाह्य वस्तुओं के योग-वियोग से उत्पन्न होते हैं, वे शुद्ध ज्ञान नहीं हैं और उनकी अनुभूति अचेतन को नहीं होती, इसलिए वे अज्ञान भी नहीं हैं। वेदना ज्ञान और बाह्य पदार्थ—इन दोनो का संयुक्त कार्य है।

सुख-दुख की अनुभूति इन्द्रिय और मन दोनों को होती है। इन्द्रियों को सुख की अनुभूति पदार्थ के निकट-संयोग से होती है।

इन्द्रियो द्वारा प्राप्त अनुभूति और कल्पना—ये दोनों मानसिक अनुभूति के निमित्त हैं।

आत्म-रमण, जो चैतन्य की विशुद्ध परिणति है, आनन्द या सहज सुख कहलाता है। वह वेदना नहीं है। वेदना शरीर और मन के माध्यम से प्राप्त होने वाली अनुभूति का नाम है। अमनस्क जीवों में केवल शारीरिक वेदना होती है। समनस्क जीवों में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की वेदना होती है[१६]। एक साथ सुख-दुख दोनो की वेदना नहीं होती।

ज्ञान के विभाग

अनावृत ज्ञान एक है। आवृत-दशा में उसके चार विभाग होते हैं। दोनों को एक साथ गिने तो ज्ञान पांच होते हैं। उनके नाम हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल।

मति और श्रुत—ये दो ज्ञान सब जीवों में होते हैं। अवधि होने पर तीन और मनःपर्याय होने पर चार ज्ञान एक व्यक्ति में एक साथ (क्षमता की दृष्टि से) हो सकते हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के पांच विकल्प बनते हैं :—

एक साथ :—मति, श्रुत

,, ,, मति, श्रुत, अवधि

,, ,, मति, श्रुत, मनः पर्याय

,, ,, मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय

,, ,, केवल

ज्ञान की तरतमता को देखा जाए तो उसके असंख्य विभाग हो सकते हैं। ज्ञान के पर्याय अनन्त हैं[१७] :—

मनः पर्याय के पर्याय सबसे थोड़े हैं।

अवधि के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक।

श्रुत के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक।

मति के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक।

केवल के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक।

यह अन्तर एक दूसरे की तुलना में है। केवल-ज्ञान में कोई तरतमभाव नहीं है। शेष ज्ञानों में बहुत बड़ा तारतम्य हो सकता है। एक व्यक्ति का मति-ज्ञान दूसरे व्यक्ति के मति-ज्ञान से अनन्तगुण हीनाधिक हो सकता है[१८]। किन्तु इसके आधार पर किये गए ज्ञान के विभाग उपयोगी नहीं बनते।

विभाग करने का मतलब ही उपयोगिता है। संग्रह-नय द्रव्य, गुण और पर्यायों का एकीकरण करता है। वह हमारे व्यवहार का साधक नहीं है। हमारी उपयोगिता व्यवहार-नय पर आधारित है। वह द्रव्य, गुण और पर्यायों को विभक्त करता है। ज्ञान के विभाग भी उपयोगिता की दृष्टि से किये गए हैं।

ज्ञेय और ज्ञान—ये दो नहीं होते तो ज्ञान के कोई विभाजन की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता है और वह मूर्त्त और अमूर्त्त—इन दो भागों में विभक्त है। आत्मा साधनों के बिना भी जान सकता है और आवरण की स्थिति के अनुसार साधनों के माध्यम से भी जानता है।

जानने के साधन दो हैं—इन्द्रिय और मन। इनके द्वारा ज्ञेय को जानने की आत्मिक क्षमता को मति और श्रुत कहा गया[१९]।

इन्द्रिय और मन के माध्यम के बिना ही केवल मूर्त्त ज्ञेय को जानने की क्षमता को अवधि और मनः पर्याय कहा गया[२०]।

मूर्त्त और अमूर्त्त सबको जानने की आत्मिक क्षमता (या ज्ञान की क्षमता के पूर्ण विकास) को केवल कहा गया[२१]।

इन्द्रिय

प्राणी और अप्राणी में स्पष्ट भेद-रेखा खींचने वाला चिह्न इन्द्रिय है। प्राणी असीम ऐश्वर्य सम्पन्न होता है, इसलिए वह 'इन्द्र' है। इन्द्र के चिह्न का नाम है—'इन्द्रिय'। वे पांच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

इनके विषय भी पांच हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, और शब्द। इसीलिए इन्द्रिय को प्रतिनियत—अर्थ-ग्राही कहा जाता है। जैसे—

(१) स्पर्श-ग्राहक इन्द्रिय·· ······स्पर्शन।

(२) रस-ग्राहक इन्द्रिय·········रसन।

(३) गन्ध-ग्राहक इन्द्रिय······घ्राण।

(४) रूप-ग्राहक इन्द्रिय·········चक्षु।

(५) शब्द-ग्राहक इन्द्रिय·········श्रोत्र।

१—जिस प्राणी के चक्षु का आकार नहीं होता, वह रूप को नहीं जान सकता।

२—आंख का आकार ठीक होते हुए भी कई मनुष्य रूप को नहीं देख पाते।

३—तत्काल-मृत व्यक्ति आंख की रचना और शक्ति दोनों के होते हुए भी रूप को नहीं जान पाता।

४—अन्यमनस्क व्यक्ति सामने आये हुए रूप को भी नहीं देखता।

इन्द्रियों के बारे में ये चार समस्याएं हैं। इनको सुलझाने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के 'चतुष्टय' पर विचार करना आवश्यक होता है वह है:—

(१) निर्वृत्ति (द्रव्य-इन्द्रिय) पौद्‌गलिक इन्द्रिय।

(२) उपकरण···शरीराधिष्ठान—इन्द्रिय।

(३) लब्धि (भाव-इन्द्रिय)—चेतन-इन्द्रिय।

(४) उपयोग···आत्माधिष्ठान—इन्द्रिय।

निर्वृत्ति—इन्द्रिय की रचना—शारीरिक संस्थान।

उपकरण—विषय ज्ञान में सहायक—उपकारक सूक्ष्मतम पौद्‌गलिक अवयव

लब्धि—ज्ञान-शक्ति।

उपयोग—ज्ञान-शक्ति का व्यापार।

प्रत्येक इन्द्रिय-ज्ञान के लिए ये चार बातें अपेक्षित होती हैं:—

(१) इन्द्रिय की रचना।

(२) इन्द्रिय की ग्राहक-शक्ति।

(३) इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति।

(४) इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति का व्यापार।

१—चक्षु का आकार हुए बिना रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—उस प्राणी के चक्षु की 'निर्वृ ति-इन्द्रिय' नहीं है।

२—चक्षु का आकार ठीक होते हुए भी रूप का दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—उस मनुष्य की 'उपकरण-इन्द्रिय' विकृत है।

३—आकार और ग्राहक शक्ति दोनों के होते हुए भी तत्काल—मृत व्यक्ति को रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—उसमें अब 'ज्ञान-शक्ति' नहीं रही।

४—अन्यमनस्क व्यक्ति को आकार, विषय-ग्राहक-शक्ति और ज्ञान-शक्ति के होने पर भी रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—वह रूप-दर्शन के प्रति प्रयत्न नहीं कर रहा है।

इन्द्रिय-प्राप्ति का क्रम

इन्द्रिय-विकास सब प्राणियों में समान नहीं होता। पांच इन्द्रिय के पांच विकल्प मिलते हैं :—

(१) एकेन्द्रिय प्राणी।

(२) द्वीन्द्रिय प्राणी।

(३) त्रीन्द्रिय प्राणी।

(४) चतुरिन्द्रिय प्राणी।

(५) पंचेन्द्रिय प्राणी।

जिस प्राणी के शरीर में जितनी इन्द्रियों का अधिष्ठान—आकार-रचना होती है, वह प्राणी उतनी इन्द्रिय वाला कहलाता है। प्रश्न यह होता है कि प्राणियों में यह आकार-रचना का वैषम्य क्यों? इसका समाधान है कि जिस प्राणी के जितनी ज्ञान-शक्तियां—लब्धि-इन्द्रियां निरावरण—विकसित होती हैं, उस प्राणी के शरीर में उतनी ही इन्द्रियों की आकृतियां बनती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रिय के अधिष्ठान, शक्ति और व्यापार का मूल लब्धि-इन्द्रिय है। उसके होने पर निर्वृ त्ति, उपकरण और उपयोग होते हैं।

लब्धि के बाद दूसरा स्थान निर्वृ त्ति का है। इसके होने पर उपकरण और उपयोग होते हैं। उपकरण के होने पर उपयोग होता है।

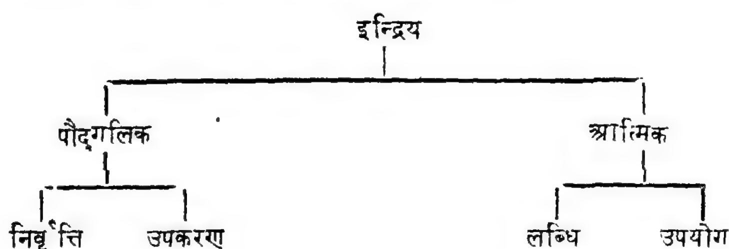
इन्द्रिय-व्याप्ति

लब्धि······निर्वृत्ति······उपकरण······उपयोग।

निर्वृत्ति······उपकरण······उपयोग।

उपकरण······उपयोग।

उपयोग के बिना उपकरण, उपकरण के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना लब्धि हो सकती है किन्तु लब्धि के बिना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के बिना उपकरण, उपकरण के बिना उपयोग नहीं हो सकता।



मन

मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है [२२]। मन भी इन्द्रिय की भांति पौद्गलिक-शक्ति-सापेक्ष होता है, इसलिए उसके दो भेद बनते हैं—द्रव्य-मन और भाव-मन।

मनन के आलम्बन-भूत या प्रवर्तक पुद्गल-द्रव्य—मनोवर्गणा-द्रव्य जब मन रूप में परिणत होते हैं, तब वे द्रव्य-मन कहलाते हैं। यह मन अजीव है—आत्मा से भिन्न है [२३]।

विचारात्मक मन का नाम भाव-मन है। मन मात्र ही जीव नहीं,[२४] किन्तु मन जीव भी है—जीव का गुण है, जीव से सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए इसे आत्मिक—मन कहते हैं [२५]। इसके दो भेद होते हैं—लब्धि और उपयोग। पहला मानस ज्ञान का विकास है और दूसरा उसका व्यापार। मन को नो इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और दीर्घकालिक संज्ञा कहा जाता है।

इन्द्रिय के द्वारा गृहीत विषयों को वह जानता है, इसलिए वह नो इन्द्रिय—ईषत् इन्द्रिय या इन्द्रिय जैसा कहलाता है। इन्द्रिय की भांति वह बाहरी साधन नहीं है (आन्तरिक साधन है) और उसका कोई नियत आकार नहीं है,

इसलिए वह अनिन्द्रिय है। मन अतीत की स्मृति, वर्तमान का ज्ञान या चिन्तन और भविष्य की कल्पना करता है, इसलिए यह 'दीर्घकालिक संज्ञा' है। जैन आगमों में मन की अपेक्षा 'संज्ञा' शब्द का व्यवहार अधिक हुआ है। समनस्क प्राणी को 'संज्ञी' कहते हैं। उसका लक्षण बतलाते हुए लिखा है—जिसमें (१) सत्-अर्थ का पर्यालोचन—ईहा (२) निश्चय-अपोह (३) अन्वय-धर्म का अन्वेषण—मार्गणा (४) व्यतिरेक-धर्म का स्वरूपा-लोचन—गवेषणा (५) यह कैसे हुआ? यह कैसे करना चाहिए? यह कैसे होगा? इस प्रकार का पर्यालोचन—चिंता (६) यह इसी प्रकार हो सकता है—यह इसी प्रकार हुआ है—यह इसी प्रकार होगा—ऐसा निर्णय-विमर्श होता है, वह 'संज्ञी' कहलाता है[२६]।

मन का लक्षण

सब अर्थों को जानने वाला ज्ञान 'मन' है। इस विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त। इन्द्रियां सिर्फ मूर्त्त-द्रव्य की वर्तमान पर्याय को ही जानती हैं, मन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, इसलिए मन को सर्वार्थ-ग्राही कहा गया है[२७]।

मन का कार्य

मन का कार्य है—चिन्तन करना। वह इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तुओं के बारे में भी सोचता है और उससे आगे भी[२८]। मन इन्द्रिय-ज्ञान का प्रवर्तक है। मन को सब जगह इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। केवल इन्द्रिय द्वारा ज्ञात रूप, रस आदि का विशेष पर्यालोचन करता है, तब ही वह इन्द्रिय-सापेक्ष होता है। इन्द्रिय की गति सिर्फ पदार्थ तक है, मन की गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक है।

इन्द्रिय···पदार्थ।

मन···पदार्थ, इन्द्रिय-गृहीत पदार्थ।

मन···पदार्थ।

ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, आगम आदि-आदि मानसिक चिन्तन के विविध पहलू हैं।

मन का अस्तित्व

न्याय सूत्रकार—'एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते'—इस अनुमान से मन की सत्ता बतलाते हैं[२९]।

वात्स्यायन भाष्यकार कहते हैं—"स्मृति आदि ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता और विभिन्न इन्द्रिय तथा उनके विषयों के रहते हुए भी एक साथ सबका ज्ञान नहीं होता, इससे मन का अस्तित्व अपने आप उतर आता है[३०]।"

अन्नभट्ट ने सुखादि की प्रत्यक्ष उपलब्धि को मन का लिंग माना है[३१]।

जैन-दृष्टि के अनुसार संशय, प्रतिभा, स्वप्न-ज्ञान, वितर्क, सुख-दुख, क्षमा, इच्छा आदि-आदि मन के लिङ्ग हैं[३२]।

मन का विषय

मन का विषय 'श्रुत' है। श्रुत का अर्थ है—शब्द, संकेत आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान। कान से 'देवदत्त' शब्द सुना, आंख से पढ़ा फिर भी कान और आंख को शब्द मात्र का ज्ञान होगा किन्तु 'देवदत्त' शब्द का अर्थ क्या है?—यह ज्ञान उन्हें नहीं होगा। यह मन को होगा। अंगुली हिलती है, यह चक्षु का विषय है किन्तु वह किस वस्तु का संकेत करती है, यह चक्षु नहीं जान पाता। उसके संकेत को समझना मन का काम है[३३]। वस्तु के सामान्य रूप का ग्रहण, अवग्रह, ज्ञान-धारा का प्राथमिक अल्प अंश अनक्षर ज्ञान होता है। उसमें शब्द-अर्थ का सम्बन्ध, पूर्वापर का अनुसन्धान, विकल्प एवं विशेष धर्मों का पर्यालोचन नहीं होता।

ईहा से साक्षात् चिन्तन शुरू हो जाता है। इसका कारण यह है कि अवग्रह में पर्यालोचन नहीं होता। आगे पर्यालोचन होता है। यावन्मात्र पर्यालोचन है, वह अक्षर-आलम्बन से ही होता है और यावन्मात्र साभिलाप या अन्तर्जल्पाकार ज्ञान होता है, वह सब मन का विषय है[३४]।

प्रश्न हो सकता है कि ईहा, अवाय, धारणा इन्द्रिय-परिधि में भी सम्मिलित किये गए हैं वह फिर कैसे? उत्तर साफ है—इन भेदों का आधार ज्ञान-धारा का प्रारम्भिक अंश है। वह जिस इन्द्रिय से आरम्भ होता है, उसकी अन्त तक वही संज्ञा रहती है।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—यह ज्ञानधारा का एक क्रम है। इसका मूल है अवग्रह। वह मन-संपृक्त इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ के सम्पर्क या सामीप्य में होता है। आगे स्थिति बदल जाती है। ईहा आदि ज्ञान इन्द्रिय-संपृक्त मन के द्वारा पदार्थ की असम्बद्ध दशा में होता है फिर भी उत्पत्ति-स्रोत की मुख्यता के कारण ये अपनी-अपनी परिधि से बाहर नहीं जाते।

मनोमूलक अवग्रह के बाद होने वाले ईहा आदि मन के होते हैं। मन मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान दोनों का साधन है। यह जैसे श्रुत शब्द के माध्यम से पदार्थ को जानता है, वैसे ही शब्द का सहारा लिए बिना शब्द आदि की कल्पना से रहित शुद्ध अर्थ को भी जानता है फिर भी अर्थाश्रयी-ज्ञान (शुद्ध अर्थ का ज्ञान) इन्द्रिय और मन दोनों को होता है, शब्दाश्रयी (शब्द का अनुसारी ज्ञान) केवल मन को ही होता है, इसलिए स्वतन्त्र रूप में मन का विषय 'श्रुत' ही है।

इन्द्रिय और मन

मन के व्यापार में इन्द्रिय का व्यापार होता भी है और नहीं भी। इन्द्रिय के व्यापार में मन का व्यापार अवश्य होता है। मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। वह पटुतर है, पदार्थ के साथ सम्बन्ध होते ही पदार्थ को जान लेता है, उसका अनुपलब्धि-काल नहीं होता, इसलिए उसे व्यञ्जनावग्रह की आवश्यकता नहीं होती।

इन्द्रिय के साथ भी मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। सब इन्द्रियों के साथ मन युगपत् सम्बन्ध नहीं कर सकता, एक काल में एक इन्द्रिय के साथ ही करता है। आत्मा उपयोगमय है। वह जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मनोयोग कर जिस वस्तु में उपयोग लगाता है, तब वह तन्मयोपयोग हो जाता है। इसलिए युगपत् क्रिया-द्वय का उपयोग नहीं होता[३५]। देखना, चखना, सूंघना—ये भिन्न-भिन्न क्रियाएं हैं। इनमें एक साथ मन की गति नहीं होती, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। पैर की गर्मी और सिर की ठंडक दोनों एक स्पर्शन इन्द्रिय की क्रियाएं हैं, उनमें भी मन एक साथ नहीं दौड़ता।

ककड़ी को खाते समय उसके रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द, सबका ज्ञान एक साथ होता सा लगता है किन्तु वास्तव में वैसा नहीं होता। उनका

ज्ञान-काल पृथक्-पृथक् होता है। मन की ज्ञान-शक्ति अति तीव्र होती है, इसलिए उसका क्रम जाना नहीं जाता। युगपत् सामान्य-विशेष आदि अनेक धर्मात्मक वस्तु का ग्रहण हो सकता है, किन्तु दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते[३६]।

मन का स्थान

मन समूचे शरीर में व्यापक है। इन्द्रिय और चैतन्य की पूर्ण व्याप्ति 'जहाँ-जहाँ चैतन्य, वहाँ-वहाँ इन्द्रिय' का नियम नहीं होता। मन की चैतन्य के साथ पूर्ण व्याप्ति होती है, इसलिए मन शरीर के एक देश में नहीं रहता उसका कोई नियत स्थान नहीं है। जहाँ जहाँ चैतन्य की अनुभूति है, वहाँ मन अपना आसन बिछाए हुए है।

इन्द्रिय-ज्ञान के साथ भी मन का साहचर्य है। स्पर्शन-इन्द्रिय समूचे शरीर में व्याप्त है[३७]। उसे अपने ज्ञान में मन का साहचर्य अपेक्षित है। इसलिए मन का भी सकल शरीर व्याप्त होना सहज सिद्ध है। योग-परम्परा में यही तथ्य मान्य समझा जाता है। जैसे—'मनो यत्र मरुत्तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः। अतस्तुल्यक्रियावेतौ संवीतौ क्षीरनीरवत्[३८]।'

'यत्र पवनस्तत्र मनः'—इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार जहाँ पवन है, वहाँ मन है। पवन समूचे शरीर में है, यही बात मन के लिए है।

दिगम्बर आचार्य द्रव्य-मन का स्थान नाभि-कमल मानते हैं। श्वेताम्बर आचार्य इसे स्वीकार नहीं करते। मन का एक मात्र नियत स्थान भले ही न हो, किन्तु उसके सहायक कई विशेष केन्द्र होने चाहिए। मस्तिष्क के संतुलन पर मानसिक चिन्तन बहुत निर्भर है, इसलिए सामान्य अनुभूति के अतिरिक्त अथवा इन्द्रिय साहचर्य के अतिरिक्त उसके चिन्तन का साधनभूत कोई शारीरिक अवयव प्रमुख केन्द्र माना जाए, उसमें आपत्ति जैसी कोई बात नहीं लगती।

ज्ञान-शक्ति की दृष्टि से इन्द्रियां भी सर्वात्मव्यापी हैं, विषय-ग्रहण की अपेक्षा एक देशी हैं, इसलिए वे नियत देशाश्रयी कहलाती हैं। इन्द्रिय और मन—ये दोनों 'क्षायोपशमिक-आवरण-विलय-जन्य' विकास हैं। आवरण-

विलय सर्वात्म-देशों का होता है[३९]। मन विषय-ग्रहण की अपेक्षा से भी शरीर व्यापी है।

नैयायिक मन को अणु मानते हैं—इसे मनोणुत्ववाद कहा जाता है[४०]। बौद्ध मन को ही जीव मानते हैं—यह मनोजीववाद कहलाता है[४१]। जैन सम्मत मन न अणु है और न वही मात्र जीव किन्तु जीव के चैतन्य गुण की एक स्थिति है और जीव की व्याप्ति के साथ उसकी व्याप्ति का नियम है—'जहाँ जीव वहाँ मन।'

श्रुत या शब्दार्थ योजना

अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है, इस प्रकार जो वाच्य-वाचक की सम्बन्ध-योजना होती है, वह श्रुत है। शब्द में अर्थ-ज्ञान कराने की शक्ति होती है पर प्रयोग किए बिना वह अर्थ का ज्ञान नहीं कराता। श्रुत शब्द की प्रयोग-दशा है। 'घड़ा'—इस दो अक्षर वाले शब्द का अर्थ दो प्रकार से जाना जा सकता है—(१) या तो बना बनाया घड़ा सामने हो अथवा (२) घट-स्वरूप की व्याख्या पढ़ने या सुनने को मिले। इनमें पहला श्रुत का अननुसारी किन्तु श्रुत-निश्रित ज्ञान है। घट सामने आया और जलादि आहरण क्रिया समर्थ मृन्मयादि घट को जान लिया। यहाँ ज्ञान-काल में श्रुत का सहारा नहीं लिया गया। इसलिए यह श्रुत का अनुसारी नहीं है, किन्तु इससे पूर्व 'घट' शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है—यह जाना हुआ था, इसलिए वह श्रुत-निश्रित है[४२]। 'घट' शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है, ऐसा पहले जाना हुआ न हो तो घट के सामने आने पर भी 'यह घट शब्द का वाच्यार्थ है'—ऐसा ज्ञान नहीं होता।

दूसरा श्रुतानुसारी ज्ञान है—'घट अमुक-अमुक लक्षण वाला पदार्थ होता है'—यह या तो कोई बताए अथवा किसी श्रुत ग्रन्थ का लिखित प्रकरण मिले तब जाना जाता है। बताने वाले का वचन और लिखित शब्दावली को द्रव्य-श्रुत—श्रुत-ज्ञान का साधन कहा जाता है, और उसके अनुसार पढ़ने-सुनने वाले व्यक्ति को जो ज्ञान होता है, वह भाव-श्रुत—श्रुत-ज्ञान कहलाता है।

श्रुत ज्ञान की प्रक्रिया

(१) भाव-श्रुत···वक्ता के वचनाभिमुख विचार।

(२) वचन···वक्ता के लिए वचन-योग और श्रोता के लिए द्रव्य-श्रुत।

(३) मति····श्रुत-ज्ञान के प्रारम्भ में होने वाला मत्यंश—इन्द्रिय-ज्ञान।

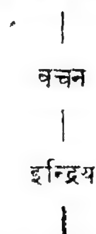
(४) भाव-श्रुत····इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा हुए शब्द-ज्ञान और संकेत-ज्ञान के द्वारा होने वाला अर्थ-ज्ञान।

वक्ता बोलता है वह उसकी अपेक्षा वचन योग है। श्रोता के लिए वह भाव-श्रुत का साधन होने के कारण द्रव्य-श्रुत है[43]। वक्ता भी भाव-श्रुत को—वचनाभिमुख ज्ञान को वचन के द्वारा व्यक्त करता है। वह एक व्यक्ति का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के पास पहुँचता है, वह श्रुत-ज्ञान है।

श्रुत-ज्ञान, श्रुत ज्ञान तक पहुँचे उसके बीच की प्रक्रिया के दो अंश हैं—(१) द्रव्य-श्रुत (२) मत्यंश।

एक व्यक्ति के विचार को दूसरे व्यक्ति तक ले जाने वाला 'वचन' है, संकेत है। वचन और संकेत को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां हैं। श्रोता अपनी इन्द्रियों से उन्हें ग्रहण करता है फिर उनके द्वारा वक्ता के अभिप्राय को समझता है। इसका रूप यों बनता है :—

वक्ता का भाव-श्रुत



श्रोता का भाव-श्रुत

मति-श्रुत की साक्षरता और अनक्षरता

(१) श्रुत-अननुसारी साभिलाप (शब्द सहित) ज्ञान—मति-ज्ञान।

(२) श्रुत-अनुसारी साभिलाप (शब्द सहित) ज्ञान—श्रुत-ज्ञान।

मति-ज्ञान साभिलाप और अनभिलाप (शब्द रहित) दोनों प्रकार का होता है। श्रुत-ज्ञान केवल साभिलाप होता है [44]। अर्थावग्रह साभिलाप नहीं होता। मति के शेष सब प्रकार ईहा से अनुमान तक साभिलाप होते हैं। श्रुत-ज्ञान अनभिलाप नहीं होता किन्तु साभिलाप ज्ञान मात्र श्रुत होना

चाहिए—यह बात नहीं है। कारण कि ज्ञान साक्षर होने मात्र से श्रुत नहीं कहलाता [४५]। जब तक वह स्वार्थ रहता है तब तक साक्षर होने पर भी मति कहलाएगा। साक्षर ज्ञान परार्थ या परोपदेश क्षम या वचनाभिमुख होने की दशा में श्रुत बनता है। ईहा से लेकर स्वार्थानुमान तक के ज्ञान परार्थ नहीं होते—वचनात्मक नहीं होते, इसलिए 'मति' कहलाते हैं। शब्दावली के माध्यम से मनन या विचार करना और शब्दावली के द्वारा मनन या विचार का प्रतिपादन करना—व्यक्त करना, ये दो बातें हैं। मति-ज्ञान साक्षर हो सकता है किन्तु वचनात्मक या परोपदेशात्मक नहीं होता। श्रुत-ज्ञान साक्षर होने के साथ-साथ वचनात्मक होता है [४६]।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—अर्थाश्रयी और श्रुताश्रयी। पानी को देख कर आंख को पानी का ज्ञान होता है, यह अर्थाश्रयी ज्ञान है। 'पानी' शब्द के द्वारा जो 'पानी द्रव्य' का ज्ञान होता है, वह श्रुताश्रयी ज्ञान है। इन्द्रियों को सिर्फ अर्थाश्रयी ज्ञान होता है। मन को दोनो प्रकार का होता है। श्रोत्र 'पानी' शब्द मात्र को सुन कर जान लेगा किन्तु पानी का अर्थ क्या है? पानी शब्द किस वस्तु का वाचक है?—यह श्रोत्र नहीं जान सकता। 'पानी' शब्द का अर्थ 'यह पानी द्रव्य है'—ऐसा ज्ञान मन को होता है। इस वाच्य-वाचक के सम्बन्ध से होने वाले ज्ञान का नाम श्रुत-ज्ञान, शब्द-ज्ञान या आगम है। श्रुत-ज्ञान का पहला अंश—जैसे, शब्द सुना या पढ़ा, वह मति-ज्ञान है और दूसरा अंश—जैसे, शब्द के द्वारा अर्थ को जाना, यह श्रुत ज्ञान है। इसीलिए श्रुत को मति पूर्वक—'मइ पुव्वं सुयं' कहा जाता है [४७]।

मति-ज्ञान का विषय—वस्तु अवग्रहादि काल में उसके प्रत्यक्ष होता है। श्रुत-ज्ञान का विषय उसके प्रत्यक्ष नहीं होता। 'मेरु' शब्द के द्वारा 'मेरु' अर्थ का ज्ञान करते समय वह मेरु अर्थ प्रत्यक्ष नहीं होता—मेरु शब्द प्रत्यक्ष होता है, जो श्रुत-ज्ञान का विषय नहीं है।

श्रुत-ज्ञान अवग्रहादि मतिपूर्वक होता है और अवग्रहादि मति श्रुत-निश्रित होती है। इससे इनका अन्योन्यानुगत-भाव जान पड़ता है। कार्य-क्षेत्र में ये एक नहीं रहते। मति का कार्य है, उसके सम्मुख आये हुए स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द आदि अर्थों को जानना और उनकी विविध अवस्थाओं पर विचार

करना। श्रुत का कार्य है—शब्द के द्वारा उसके वाच्य अर्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को फिर से शब्द के द्वारा प्रतिपादित करने में समर्थ होना। मति को कहना चाहिए—अर्थ-ज्ञान और श्रुत को शब्दार्थ-ज्ञान।

कार्य-कारण-भाव

मति और श्रुत का कार्य-कारण सम्बन्ध है। मति कारण है और श्रुत कार्य। श्रुत ज्ञान शब्द, संकेत और स्मरण से उत्पन्न अर्थ-बोध है। अमुक अर्थ का अमुक संकेत होता है, यह जानने के बाद ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का बोध होता है। संकेत को मति जानती है। उसके अवग्रहादि होते हैं। फिर श्रुत-ज्ञान होता है।

द्रव्य-श्रुत मति (श्रोत्र) ज्ञान का कारण बनता है किन्तु भाव-श्रुत उसका कारण नहीं बनता, इसलिए मति को श्रुतपूर्वक नहीं माना जाता। दूसरी दृष्टि से द्रव्य-श्रुत श्रोत्र का कारण नहीं, विषय बनता है। कारण तब कहना चाहिए जब कि श्रूयमाण शब्द के द्वारा श्रोत्र को उसके अर्थ की जानकारी मिले। वैसा होता नहीं। श्रोत्र को केवल शब्द मात्र का बोध होता है। श्रुत-निश्रित मति भी श्रुत-ज्ञान का कार्य नहीं होती। 'अमुक लक्षण वाला कम्बल होता है'—यह परोपदेश या श्रुत ग्रन्थ से जाना और वैसे संस्कार बैठ गए। कम्बल को देखा और जान लिया कि यह कम्बल है। यह ज्ञान पूर्व-संस्कार से उत्पन्न हुआ, इसलिए इसे श्रुत-निश्रित कहा जाता है[४८]। ज्ञान-काल में यह 'शब्द' से उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिए इसे श्रुत का कार्य नहीं माना जाता।

अवधि ज्ञान

यह मूर्त्त द्रव्यों को साक्षात् करने वाला ज्ञान है। मूर्त्तिमान् द्रव्य ही इसके ज्ञेय विषय की मर्यादा है। इसलिए यह अवधि कहलाता है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा इसकी अनेक इयत्ताएं बनती हैं। जैसे—इतने क्षेत्र और काल में इतने द्रव्य और इतने पर्यायों का ज्ञान करता है, इसलिए इसे अवधि कहा जाता है।

अवधि ज्ञान का विषय[४९]

(१) द्रव्य की अपेक्षा—जघन्य—अनन्त मूर्त्तिमान् द्रव्य, उत्कृष्ट—मूर्त्तिमान् द्रव्य मात्र।

(२) क्षेत्र की अपेक्षा—जघन्य—कम से कम अंगुल का असंख्यातवां भाग। उत्कृष्ट—अधिक से अधिक असंख्य क्षेत्र (लोकाकाश) तथा शक्ति की कल्पना करें तो लोकाकाश जैसे और असंख्य खण्ड इसके विषय बन सकते हैं।

(३) काल की अपेक्षा—जघन्य—एक आवलिका का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट—असंख्य काल (असंख्य अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी)

(४) भाव-पर्याय की अपेक्षा—जघन्य—अनन्त भाव-पर्याय। उत्कृष्ट—अनन्त भाव—सब पर्यायों का अनन्त भाग।

अवधि ज्ञान के छह प्रकार हैं[५०]—

(१) अनुगामी—जिस क्षेत्र में अवधि-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अतिरिक्त क्षेत्र में भी बना रहे—वह अनुगामी है।

(२) अननुगामी—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र में बना न रहे—वह अननुगामी है।

(३) वर्धमान—उत्पत्ति-काल में कम प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः बढ़े—वह वर्धमान है।

(४) हीयमाण—उत्पत्ति-काल में अधिक प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः घटे—वह हीयमाण है।

(५) अप्रतिपाती—आजीवन रहने वाला अथवा केवल-ज्ञान उत्पन्न होने तक रहने वाला—अप्रतिपाती है।

(६) प्रतिपाती—उत्पन्न होकर जो वापिस चला जाए, वह प्रतिपाती है।

मनः पर्याय ज्ञान[५१] :—

यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिन्तक जो सोचता है, उसीके अनुरूप चिन्तन प्रवर्तक पुद्गल द्रव्यों की आकृतियां—पर्यायें बन जाती हैं। वे मनः पर्याय के द्वारा जानी जाती हैं,

इसीलिए इसका नाम हुआ—मन की पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान।

मनः पर्याय ज्ञान का विषय

(१) द्रव्य की अपेक्षा—मन रूप में परिणत पुद्गल-द्रव्य—मनोवर्गणा।

(२) क्षेत्र की अपेक्षा—मनुष्य-क्षेत्र में।

(३) काल की अपेक्षा—असंख्य काल तक का (पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग) अतीत और भविष्य।

(४) भाव की अपेक्षा—मनोवर्गणा की अनन्त अवस्थाएं।

अवधि और मनः पर्याय की स्थिति

मानसिक वर्गणाओं की पर्याय अवधि-ज्ञान का भी विषय बनती हैं फिर भी मनः पर्याय मानसिक पर्यायों का स्पेशेलिस्ट (specialist) है। एक डॉक्टर वह है, जो समूचे शरीर की चिकित्सा-विधि जानता है और एक वह है जो आंख का, दांत का, एक अवयव का विशेष अधिकारी होता है। यही स्थिति अवधि और मनः पर्याय की है।

विश्व के मूल में दो श्रेणी के तत्त्व हैं—पौद्गलिक और अपौद्गलिक। पौद्गलिक मूर्त इन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के क्षायोपशमिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है[५२]। अपौद्गलिक—अमूर्त केवल क्षायिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है[५३]।

चिन्तक मूर्त के बारे में सोचता है, वैसे अमूर्त के बारे में भी। मनः पर्याय ज्ञानी अमूर्त पदार्थ को साक्षात् नहीं कर सकता। वह द्रव्य-मन के साक्षात्कार के द्वारा जैसे आत्मीय चिन्तन को जानता है, वैसे ही उसके द्वारा चिन्तनीय पदार्थों को जानता है[५४]। इसमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है फिर भी वह परोक्ष नहीं होता। कारण कि मनः पर्याय ज्ञान का मूल विषय मनो-द्रव्य की पर्यायें हैं। उनका साक्षात्कार करने में उसे अनुमान आदि किसी भी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं होती।

केवल ज्ञान

केवल शब्द का अर्थ एक या असहाय होता है[५५]। ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान के अवान्तर भेद मिट कर ज्ञान एक हो जाता है। फिर उसे

इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए वह केवल कहलाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! केवली इन्द्रिय और मन से जानता और देखता है ?

भगवान्—गौतम ! नहीं जानता-देखता।

गौतम—भगवन् ! ऐसा क्यों होता है ?

भगवान्—गौतम ! केवली पूर्व-दिशा (या आगे) में मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है। वह इन्द्रिय का विषय नहीं है[५६]।

केवल का दूसरा अर्थ शुद्ध है[५७]। ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान में अशुद्धि का अंश भी शेष नहीं रहता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का तीसरा अर्थ सम्पूर्ण है[५८], ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान की अपूर्णता मिट जाती है, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का चौथा अर्थ असाधारण है[५९]। ज्ञानावरण का विलय होने पर जैसा ज्ञान होता है, वैसा दूसरा नहीं होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का पांचवां अर्थ 'अनन्त' है[६०]। ज्ञानावरण का विलय होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह फिर कभी आवृत नहीं होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल शब्द के चार अर्थ 'सर्वज्ञता' से संबन्धित नहीं हैं। आवरण का क्षय होने पर ज्ञान एक, शुद्ध, असाधारण और अप्रतिपाती होता है। इसमें कोई लम्बा-चौड़ा विवाद नहीं है। विवाद का विषय है ज्ञान की पूर्णता। कुछ तार्किक लोग ज्ञान की पूर्णता का अर्थ बहु-श्रुतता करते हैं और कुछ सर्वज्ञता।

जैन-परम्परा में सर्वज्ञता का सिद्धान्त मान्य रहा है। केवल ज्ञानी केवल-ज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है[६१]।

केवल-ज्ञान का विषय सब द्रव्य और पर्याय हैं। श्रुत-ज्ञान के विषय को देखते हुए वह अयुक्त भी नहीं लगता। मति को छोड़ शेष चार ज्ञान के अधिकारी केवली कहलाते हैं। श्रुत-केवली[६२], अवधि-ज्ञान-केवली, मनः पर्याय-ज्ञान केवली और केवल-ज्ञान-केवली[६३]। इनमें श्रुत-केवली और केवल-

ज्ञान-केवली का विषय समान है। दोनों सब द्रव्यों और सब पर्यायों को जानते हैं। इनमें केवल जानने की पद्धति का अन्तर रहता है। श्रुत-केवली शास्त्रीय ज्ञान के माध्यम से व क्रमशः जानता है और केवल-ज्ञान-केवली उन्हें साक्षात् व एक साथ जानता है।

ज्ञान की कुशलता बढ़ती है, तब एक साथ अनेक विषयों का ग्रहण होता है। एक क्षण में अनेक विषयों का ग्रहण नहीं होता किन्तु ग्रहण का काल इतना सूक्ष्म होता है कि वहाँ काल का क्रम नहीं निकाला जा सकता। केवल-ज्ञान ज्ञान के कौशल का चरम-रूप है। वह एक क्षण में भी अनेक विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। हम अपने ज्ञान के क्रम से उसे नापें तो वह अवश्य ही विवादास्पद बन जाएगा। उसे संभावना की दृष्टि से देखें तो वह विवाद-मुक्त भी है।

निरूपण एक ही विषय का हो सकता है। यह भूमिका दोनों की समान है। सहज स्थिति में सांकर्य नहीं होता। वह क्रियमाण कार्य में होता है। ज्ञान आत्मा की सहज स्थिति है। वचन एक कार्य है। कार्य में केवली और अकेवली का कोई भेद नहीं है। केवल-ज्ञान की विशेषता सिर्फ जानने में ही है।

ज्ञेय और ज्ञान-विभाग

ज्ञेय का विचार चार दृष्टिकोणों से किया जाता है :—

१—द्रव्य-दृष्टि से—मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सब द्रव्य जाने जा सकते हैं, देखे नहीं जा सकते।

,, ,, ,, श्रुत-ज्ञान द्वारा सब द्रव्य जाने और देखे जा सकते हैं।

,, ,, ,, अवधि-ज्ञान द्वारा अनन्त या सब मूर्त द्रव्य जाने और देखे जा सकते हैं।

,, ,, ,, मनः पर्याय-ज्ञान द्वारा मानसिक अणुओं के अनन्तावयवी स्कन्ध जाने-देखे जा सकते हैं।

,, ,, ,, केवल ज्ञान द्वारा सर्व द्रव्य जाने-देखे जा सकते हैं।

२—क्षेत्र-दृष्टि से—मति-ज्ञान द्वारा सर्व क्षेत्र सामान्य रूप से जाना जा सकता है, देखा नहीं जा सकता।

" " " श्रुत ज्ञान द्वारा सर्व क्षेत्र जाना-देखा जा सकता है।

" " " अवधि-ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण लोक जाना-देखा जा सकता है।

" " " मनः पर्याय-ज्ञान द्वारा मनुष्य-क्षेत्रवर्ती मानसिक अणु जाने-देखे जा सकते हैं।

" " " केवल-ज्ञान द्वारा सर्व-क्षेत्र जाना-देखा जा सकता है।

३—काल-दृष्टि से—मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सर्व काल जाना-देखा नहीं जा सकता।

" " " श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्व काल जाना-देखा जा सकता है।

" " " अवधि-ज्ञान द्वारा असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी परिमित अतीत और भविष्य काल जाना-देखा जा सकता है।

" " " मनः पर्याय ज्ञान द्वारा पल्योपम का असंख्यातवें भाग परिमित अतीत और भविष्यत् काल जाना-देखा जा सकता है।

" " " केवल ज्ञान द्वारा सर्व काल जाना-देखा जा सकता है।

४—भाव दृष्टि से मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सर्व पर्याय जाने जा सकते हैं, देखे नहीं जा सकते हैं।

" " " श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्व-पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

" " " अवधि-ज्ञान द्वारा अनन्त पर्याय (सब द्रव्यों का अनन्तवां भाग) जाने-देखे जा सकते हैं।

" " " मनः पर्याय ज्ञान द्वारा मानसिक अणुओं के अनन्त-पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

" " " केवल-ज्ञान द्वारा सर्व पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

ज्ञेय के आधार पर ज्ञान के दो वर्ग बनते हैं—एक वर्ग है—श्रुत और केवल का, दूसरा है मति, अवधि और मनःपर्याय का। पहले वर्ग का ज्ञेय सर्व है और दूसरे वर्ग का ज्ञेय असर्व।

ज्ञेय को जानने की पद्धति के आधार पर भी ज्ञान के दो वर्ग होते हैं—एक वर्ग में मति और श्रुत आते हैं; दूसरे में अवधि, मनःपर्याय और केवल।

पहले वर्ग का ज्ञेय इन्द्रिय और मन के माध्यम से जाना जाता है और दूसरे का ज्ञेय इनके बिना ही जाना जाता है। ज्ञेय की द्विविधता के आधार पर भी ज्ञान दो वर्गों में विभक्त हो सकता है। पहले वर्ग में मति, अवधि, और मनःपर्याय हैं; दूसरे में श्रुत और केवल।

पहले वर्ग के द्वारा सिर्फ मूर्त द्रव्य ही जाना जा सकता है। दूसरे के द्वारा मूर्त और अमूर्त—दोनों प्रकार के ज्ञेय जाने जा सकते हैं।

ज्ञान की नियामक शक्ति

हम आंख से देखते हैं, तब कान से नहीं सुनते। कान से सुनते हैं, तब इसका अनुभव नहीं करते—संक्षेप में यह कि एक साथ दो ज्ञान नहीं करते—यह हमारे ज्ञान की इयत्ता है—सीमा है। भिन्न-भिन्न दर्शनों ने ज्ञान की इयत्ता के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न प्रस्तुत किये हैं। ज्ञान अर्थोत्पन्न और अर्थाकार नहीं होता, इसलिए वे उसकी इयत्ता के नियामक नहीं बनते[६४]। मन अणु नहीं, इसलिए वह भी ज्ञान की इयत्ता का नियामक नहीं बन सकता[६५]। जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान की इयत्ता का नियामक तत्त्व उसके आवरण-विलय से उत्पन्न होने वाली आत्मिक योग्यता है। आवरण-विलय आंशिक होता है (क्षायोपशमिक भाव) होता है। तब एक साथ अनेक विषयों को जानने की योग्यता नहीं होती। योग्यता की कमी के कारण जिस समय जिस विषय में आत्मा व्यापृत होती है, उस समय उसी विषय को जान सकती है। वस्तु को जानने का अव्यवहित साधन इन्द्रिय और मन का व्यापार (उपयोग) है। वह योग्यता के अनुरूप होता है। यही कारण है कि हम एक साथ अनेक विषयों को नहीं जान सकते। चेतना की निरावरण दशा में सब पदार्थ युगपत् जाने जा सकते हैं।

ज्ञान आत्मा का अक्षर आलोक है। वह सब आत्माओं में समान है। वह स्वयं प्रकाशी है, सदा जानता रहता है। यह सिद्धान्त की भाषा है। हमारा दर्शन इसके विपरीत है। ज्ञान कभी न्यून होता है और कभी अधिक। सब जीवों में ज्ञान की तरतमता है। वह बाहरी साधनों के अभाव में नहीं जानता और कभी जानता है और कभी नहीं जानता।

सिद्धान्त और हमारे प्रत्यक्ष-दर्शन में जो विरोध है, उसका समाधान इन शब्दों में है। आत्मा और ज्ञान की स्थिति वही है, जो सिद्धान्त की भाषा में निरूपित हुई है। जो विरोध दीखता है, वह भी सही है। दोनों के पीछे दो दृष्टियाँ हैं।

आत्मा के दो रूप हैं—आवृत और अनावृत। आत्मा ज्ञानावरण के परमाणुओं से आवृत होता है, तब वही स्थिति बनती है जो हमें दीखती है। वह ज्ञानावरण के परमाणुओं से अनावृत होता है, तब वही स्थिति बनती है, जो हमें विपरीत लगती है।

ज्ञान एक है, इसलिए उसे केवल कहा जाता है। वह सर्व ज्ञानावरण से आवृत रहता है, उस स्थिति में आत्मा निर्बाध ज्ञानमय नहीं होता। आत्मा और अनात्मा की भेद-रेखा मिट जाय, वैसा आवरण कभी नहीं होता। केवल ज्ञान का अल्पतम भाग सदा अनावृत रहता है [६६]। आत्मा का आत्मत्व यही है कि वह कभी भी ज्ञान-शक्ति से शून्य नहीं होता।

विशुद्ध प्रयत्न से आवरण जितना क्षीण होता है, उतना ही ज्ञान विकसित हो जाता है। ज्ञान के विकास की न्यूनतम मात्रा और अनावृत ज्ञान के मध्यवर्ती ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-परमाणु 'देश-ज्ञानावरण' कहलाते हैं [६७]।

सर्व ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान का कोई भेद नहीं रहता, आत्मा ज्ञानमय बन जाता है। यह वह दशा है, जहाँ ज्ञान और उपयोग दो नहीं रहते।

देश-ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार ज्ञान का विकास होता है, वहाँ ज्ञान के विभाग बनते हैं, ज्ञान और उपयोग का भेद भी रहता है।

केवली (जिनके सर्व ज्ञानावरण का विलय हो चुका हो) सदा जानते हैं, और सब पर्यायों को जानते हैं।

छद्मस्थ (जिनके देश-ज्ञानावरण का विलय हुआ हो) जानने को तत्पर होते हैं तभी जानते हैं और जिस पर्याय को जानने का प्रयत्न करते हैं, उसीको जानते हैं।

ज्ञान-शक्ति का पूर्ण विकास होने पर जानने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है।

ज्ञान-शक्ति के अपूर्ण विकास की दशा में जानने का प्रयत्न किए बिना जाना नहीं जाता। इसलिए वहाँ जानने की क्षमता और जानने की प्रवृत्ति दो बन जाते हैं।

छद्मस्थ ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार जान सकता है, इसलिए क्षमता की दृष्टि से वह अनेक पर्यायों का ज्ञाता है किन्तु उसका ज्ञान निरावरण नहीं होता, इसलिए वह एक काल में एक पर्याय को ही जान सकता है।

ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञाता ज्ञान-स्वभाव है और अर्थ ज्ञेय-स्वभाव। दोनों स्वतन्त्र हैं। एक का अस्तित्व दूसरे से भिन्न है। इन दोनों में विषय-विषयीभाव सम्बन्ध है। अर्थ ज्ञान-स्वरूप नहीं है, ज्ञान ज्ञेय-स्वरूप नहीं है—दोनों अन्योन्य-वृत्ति नहीं हैं।

ज्ञान ज्ञेय में प्रविष्ट नहीं होता, ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता—दोनों का परस्पर प्रवेश नहीं होता।

ज्ञाता की ज्ञायक-पर्याय और अर्थ की ज्ञेय-पर्याय के सामर्थ्य से दोनों का सम्बन्ध जुड़ता है [१८]।

ज्ञान-दर्शन विषयक तीन मान्यताएँ

आत्मा को आवृत-दशा में ज्ञान होते हुए भी उसकी सतत प्रवृत्ति (उपयोग) नहीं होती। और जो होती है उसका एक क्रम है—पहले दर्शन की प्रवृत्ति होती है फिर ज्ञान की।

गौतम ने पूछा—"भगवन् ! छद्मस्थ मनुष्य परमाणु को जानता है पर देखता नहीं, यह सच है ? अथवा जानता भी नहीं देखता भी नहीं, यह सच है ?"

भगवान्—गौतम ! कई छद्मस्थ विशिष्ट श्रुत-ज्ञान से परमाणु को जानते हैं पर दर्शन के अभाव में देख नहीं सकते और कई जो सामान्य श्रुत-ज्ञानी होते हैं, वे न तो उसे जानते हैं और न देखते हैं।

गौतम—भगवन् ! परम अवधि-ज्ञानी और परमाणु को जिस समय जानते हैं, उस समय देखते हैं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते हैं ?

भगवान्—गौतम ! नहीं, वे जिस समय परमाणु को जानते हैं, उस समय देखते नहीं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं।

गौतम—भगवन् ! ऐसा क्यों नहीं होता ?

भगवान्—गौतम ! "ज्ञान साकार होता है और दर्शन अनाकार," इसलिए दोनों एक साथ नहीं हो सकते [६९]। यह केवल ज्ञान-और केवल-दर्शन की क्रमिक मान्यता का आगमिक पक्ष है। अनावृत आत्मा में ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है और छद्मस्थ को ज्ञान की प्रवृत्ति करनी पड़ती है [७०]। छद्मस्थ को ज्ञान की प्रवृत्ति करने में असंख्य समय लगते हैं और केवली एक समय में ही अपने ज्ञेय को जान लेते हैं [७१]। इस पर से यह प्रश्न उठा कि केवल एक समय में समूचे ज्ञेय को जान लेते हैं तो दूसरे समय में क्या जानेंगे ? वे एक समय में जान सकते हैं, देख नहीं सकते या देख सकते हैं, जान नहीं सकते तो उनका सर्वज्ञत्व ही टूट जाएगा ?

इस प्रश्न के उत्तर में तर्क आगे बढ़ा। दो धाराएँ और बन गईं। मल्लवादी ने केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के युगपत् होने और सिद्धसेन दिवाकर ने उनके अभेद का पक्ष प्रस्तुत किया [७२]।

दिगम्बर-परम्परा में केवल युगपत्-पक्ष ही मान्य रहा [७३]। श्वेताम्बर-परम्परा में इसकी क्रम, युगपत् और अभेद—ये तीन धाराएं बन गईं ?

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के महान् तार्किक यशोविजयजी ने इसका नय-दृष्टि से समन्वय किया है [७४]। ऋजु-सूत्र नय की दृष्टि से क्रमिक पक्ष संगत है। यह दृष्टि वर्तमान समय को ग्रहण करती है। पहले समय का ज्ञान कारण है और दूसरे समय का दर्शन उसका कार्य है। ज्ञान और दर्शन में कारण और कार्य का क्रम है। व्यवहार-नय भेदस्पर्शी है। उसकी दृष्टि से युगपत्-पक्ष भी संगत है। संग्रह नय अभेद-स्पर्शी है। उसकी दृष्टि से अभेद-पक्ष भी संगत है। इन तीनों धाराओं को तर्क-दृष्टि से देखा जाय तो इनमें अभेद-पक्ष ही संगत लगता है। जानने और देखने का भेद परोक्ष या अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में होता है। वहाँ वस्तु के पर्यायों को जानते समय

उसका सामान्य रूप नहीं देखा जा सकता। और उसके सामान्य रूप को देखते समय उसके विभिन्न पर्याय नहीं जाने जा सकते। प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान की दशा में ज्ञेय का प्रति समय सर्वथा साक्षात् होता है। इसलिए वहाँ यह भेद न होना चाहिए।

दूसरा दृष्टिकोण आगमिक है, उसका प्रतिपादन स्वभाव-स्पर्शी है। पहले समय में वस्तु गत-भिन्नताओं को जानना और दूसरे समय में भिन्नतागत-अभिन्नता को जानना स्वभाव-सिद्ध है। ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है। भेदोन्मुखी ज्ञान सबको जानता है और अभेदोन्मुखी दर्शन सबको देखता है। भेद में अभेद और अभेद में भेद समाया हुआ है। फिर भी भेद-प्रधान ज्ञान और अभेद-प्रधान दर्शन का समय एक नहीं होता।

ज्ञेय-अज्ञेयवाद

ज्ञेय और अज्ञेय की मीमांसा (१) द्रव्य (वस्तु या पदार्थ) (२) क्षेत्र (३) काल (४) भाव (पर्याय या अवस्था) इन चार दृष्टियों से होती है[७५]। सर्वज्ञ के लिए सब कुछ ज्ञेय है। असर्वज्ञ—छद्मस्थ के लिए कुछ ज्ञेय है और कुछ अज्ञेय—सापेक्ष है।

पदार्थ की दृष्टि से

पदार्थ दो प्रकार के हैं—(१) अमूर्त्त (२) मूर्त्त। मूर्त्त पदार्थ का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा विकल-परमार्थ-प्रत्यक्ष (अवधि तथा मनः पर्याय) से साक्षात्कार होता है। इसलिए वह ज्ञेय है, अमूर्त्त-पदार्थ अज्ञेय है[७६]।

मानस ज्ञान—श्रुत या शब्द-ज्ञान परोक्षतया अमूर्त्त और मूर्त्त सभी पदार्थों को जानता है, अतः उसके ज्ञेय सभी पदार्थ हैं[७७]।

पर्याय की दृष्टि से

तीन काल की सभी पर्यायें अज्ञेय हैं। त्रैकालिक कुछ पर्यायें ज्ञेय हैं[७८]।

संक्षेप में छद्मस्थ के लिए दस वस्तुएं अज्ञेय हैं। सर्वज्ञ के लिए वे ज्ञेय हैं[७९]। ज्ञेय भी अनन्त और ज्ञान भी अनन्त—यह कैसे बन सकता है ? ज्ञान में अनन्त ज्ञेय को जानने की क्षमता नहीं है, यदि है तो ज्ञेय सीमित हो जाएगा। दो असीम विषय-विषयी-भाव में नहीं बंध सकते। अज्ञेयवाद या असर्वज्ञतावाद की ओर से ऐसा प्रश्न उपस्थित किया जाता रहा है।

जैन दर्शन सर्वज्ञतावादी है। उसके अनुसार ज्ञानावरण का विलय (ज्ञान को ढाँकने वाले परमाणुओं का वियोग) होने पर आत्मा के स्वभाव का प्रकाश होता है। अनन्त, निरावरण, कृत्स्न, परिपूर्ण, सर्वद्रव्य-पर्याय साक्षात्कारी ज्ञान का उदय होता है, वह निरावरण होता है, इसीलिए वह अनन्त होता है। ज्ञान का सीमित भाव आवरण से बनता है। उसका आवरण हटता है, तब उसकी सीमितता भी मिट जाती है। फिर केवली (निरावरण ज्ञानी) अनन्त को अनन्त और सान्त को सान्त साक्षात् जानने लगता है। अनुमान से जैसे अनन्त जाना जाता है, वैसे प्रत्यक्ष से भी अनन्त जाना जा सकता है। अनन्तता अनुमान और प्रत्यक्ष दोनों का ज्ञेय है। उनकी अनन्त विषयक जानकारी में कोई अन्तर नहीं है, अन्तर सिर्फ जानकारी के रूप में है। अनुमान से अनन्त का अस्पष्ट आकलन होता है और प्रत्यक्ष से उसका स्पष्ट दर्शन। अनन्त ज्ञान से अनन्त वस्तु अनन्त ही जानी जाती है। इसीलिए उसकी अनन्तता का अन्त नहीं होता—असीमता सीमित नहीं होती। सर्वज्ञ जैसे को वैसा ही जानता है। जो जैसे नहीं है, उसे वैसे नहीं जानता। सान्त को अनन्त और अनन्त को सान्त जानना अयथार्थ-ज्ञान है। यथार्थ-ज्ञान वह है, जो सान्त को सान्त और अनन्त को अनन्त जाने। सर्वज्ञ अनन्त को अनन्त जानता है। इसमें दो असीम तत्त्वों का परस्पराकलन है[८०]। ज्ञान और ज्ञेय एक दूसरे से आबद्ध नहीं हैं। ज्ञान की असीमता का हेतु उसका निरावरण भाव है। ज्ञेय की असीमता उसकी सहज स्थिति है। ज्ञान और ज्ञेय का आपस में प्रतिबन्धकभाव नहीं है। अनन्त ज्ञेय अनन्तानन्त ज्ञान से ही जाना जाता है।

ज्ञेय अनन्त हैं। निरावरण ज्ञान अनन्तानन्त हैं, अनन्त—अनन्त ज्ञेय को जानने की क्षमता वाला है। परमावधि ज्ञान का विषय (ज्ञेय) समूचा लोक है। क्षमता की दृष्टि से ऐसे लोक असंख्य और हों तो भी वह उसे साक्षात् कर सकता है। यह सावरण ज्ञान की स्थिति है। निरावरण ज्ञान की क्षमता इससे अनन्त गुण अधिक है।

नियतिवाद

सर्वज्ञता निश्चय-दृष्टि या वस्तु-स्थिति है। सर्वज्ञ जो जानता है, वह वैसे ही होता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता।

परिवर्तन व्यवहार-दृष्टि का विषय है। पुरुषार्थ का महत्त्व निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से है। निश्चय-दृष्टि का पुरुषार्थ आवश्यकतानुरूप और निश्चित दिशा-गामी होता है। व्यवहार दृष्टि स्थूल-समझ पर आश्रित होती है। इसलिए उसका पुरुषार्थ भी वैसा ही होता है। ज्ञानमात्र से क्रिया सिद्ध नहीं होती। इसलिए ज्ञान की निश्चितता और अनिश्चितता दोनो स्थितियों में पुरुषार्थ अपेक्षित होता है। ज्ञान और क्रिया का पूर्ण सामञ्जस्य भी नहीं है। इनकी कारण-सामग्री भिन्न होती है। सर्वज्ञ सब कुछ जान लेते हैं, पर सब कुछ कर नहीं पाते।

गौतम ने पूछा—भगवन् ! केवली अभी जिस आकाश-खण्ड में हाथ-पैर रखते हैं, उसी आकाश-खण्ड में फिर हाथ-पैर रखने में समर्थ हैं ?

भगवान्—गौतम ! नहीं हैं।

गौतम—यह कैसे भगवन् ?

भगवान्—गौतम ! केवली वीर्य, योग और पौद्‌गलिक द्रव्य-युक्त होते हैं, इसलिए उनके उपकरण हाथ-पैर आदि चल होते हैं। वे चल होते हैं, इसलिए केवली जिन आकाश प्रदेशों पर हाथ-पैर रखते हैं, उन्हीं आकाश प्रदेशों पर दुबारा हाथ-पैर रखने में समर्थ नहीं होते [८१]।

ज्ञान का कार्य जानना है। क्रिया शरीर-सापेक्ष है। शारीरिक स्पन्दन के कारण पूर्व अवगाह-क्षेत्र का फिर अवगाहन नहीं किया जा सकता। इसमें ज्ञान की कोई त्रुटि नहीं है। वह शारीरिक चलभाव की विचित्रता है। नियति एक तत्त्व है। वह मिथ्यावाद नहीं है। नियतिवाद जो नियति का ही एकान्त आग्रह रखता है, वह मिथ्या है। सर्वज्ञता के साथ नियतिवाद की बात जोड़ी जाती है। वह कोरा आग्रह है। असर्वज्ञ के निश्चित ज्ञान के साथ भी वह जुड़ती है। सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण निर्णीत समय पर होते हैं। ज्योतिर्विदों के द्वारा किया हुआ निर्णय उनकी स्वयंभावी क्रिया में विघ्न नहीं डालता। मनुष्यों के भाग्य के बारे में भी उन्हीं के जैसे (असर्वज्ञ) मनुष्यों द्वारा किये गए निर्णय उनके प्रयत्नों में विघ्न नहीं बनते। नियतिवाद के काल्पनिक भय से सर्वज्ञता पर कटाक्ष नहीं किया जा सकता। गोशालक के

नियतिवाद का हेतु भगवान् महावीर का निश्चित ज्ञान है। भगवान् महावीर साधना-काल में विहार कर रहे थे। सर्वज्ञता का लाभ हुआ नहीं था।

शरद् ऋतु का पहला महीना चल रहा था। गरमी और सरदी की संधि-वेला में बरसात चल बसी थी। काती की कड़ी धूप मिट रही थी और सरदी मृगसर की गोद में खेलने को उत्सुक हो रही थी। उस समय भगवान् महावीर सिद्धार्थ-ग्राम नगर से विहार कर कूर्मग्राम नगर को जा रहे थे। उनका एक मात्र शिष्य मंखलीपुत्र गोशालक उनके साथ था। सिद्धार्थ ग्राम से वे चल पड़े। कूर्मग्राम अभी आया नहीं। बीच में एक घटना-चक्र बनता है।

मार्ग के परिपार्श्व में एक खेत लहलहा रहा था। उसमें था एक तिल का पौधा। पत्ते और फूल उसकी श्री को बढ़ा रहे थे। उसकी नयनाभिराम हरियाली वरबस पथिकों की दृष्टि अपनी ओर खींच लेती थी। गोशालक की दृष्टि सहसा उस पर जा पड़ी। वह रुका, झुका, वन्दना की और नम्र स्वर में बोला—भगवन्! देखिए, यह तिल का पौधा जो सामने खड़ा है, क्या पकेगा या नहीं? इसके सात फूलों में रहे हुए सात जीव मर कर कहाँ जाएंगे, कहाँ पैदा होंगे?

भगवान् बोले—"गोशालक! यह तिल-गुच्छ पकेगा, नहीं पकेगा ऐसा नहीं। इसके सात फूलो के सात जीव मर कर इसी की एक फली (तिल-संकुलिका या तिल-फलिका) में सात तिल बनेंगे।"

गोशालक ने भगवान् को सुना, पर जो सुना उसमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई, प्रतीति नहीं हुई, वह रुचा नहीं। उसकी अश्रद्धा, अप्रतीति और अरुचि ने उसे परीक्षा की संकरी पगडंडी में ला पटका। उसकी प्रयोग-बुद्धि में केवल अश्रद्धा ही नहीं किन्तु नैसर्गिक तुच्छता भी थी। वैसी तुच्छता जो सत्यान्वेषी के जीवन में अभिशाप बन कर आती है।

भगवान् आगे बढ़ चले। गोशालक धीमी गति से पीछे सरका, मन के तीव्र वेग ने गति में और शिथिलता ला दी। उसकी प्रयोग-दृष्टि में सत्य की शुद्ध जिज्ञासा नहीं थी। वह अपने धर्माचार्य के प्रति सद्भावनाशील भी अब नहीं रहा था। वह भगवान् को मिथ्यावादी ठहराने पर तुला हुआ था।

विचारों का तुमुल-संघर्ष सर पर लिए वह उस तिल-स्तम्ब के पास जा पहुँचा। उसे गहरी दृष्टि से देखा। गोशालक के हाथ उसकी ओर बढ़े। कुछ ही क्षणों में तिल स्तम्ब जमीन से ऊपर उठ आया। गोशालक ने उसे उखाड़ कर ही सन्तोष नहीं माना। वह उसे हाथ में लिए चला और कुछ आगे जा एकान्त में डाल आया। महावीर आगे चले जा रहे थे। वे निश्छल थे। इसीलिए अपने सत्य पर निश्चल थे। उनकी निरपेक्षता उन्हें स्वयं सहारा दे रही थी आगे बढ़ने के लिए। गोशालक भगवान् की ओर चल पड़ा।

परिस्थिति का मोड़ कब कहाँ कैसा होता है, इसे जानना सहज नहीं। विश्व की समूची घटनावलियाँ और कार्य-कारण भाव की शृंखलाएं ऐसी बनती जुड़ती हैं, जो अनहोने जैसे को बना डालती हैं और जो होने को है, उसे बिखेर डालती हैं। केवल परिस्थिति की दासता जैसे निरा धोखा है, वैसे ही केवल पौरुष का अभिमान भी निरा अज्ञान है। परिस्थिति और पुरुषार्थ अनुकूल क्षेत्र-काल में मिलते हैं, व्यक्ति की पूर्व-क्रिया से प्रेरित हो चलते हैं तभी कुछ बनने का बनता है और बिगड़ने का बिगड़ता है। गोशालक के पैर भगवान् महावीर की ओर आगे बढ़े, पवन की गति में परिवर्तन आया। खाली आकाश बादलों से छा गया। खाली बादल पानी से भर गए। गाज की गड़गड़ाहट और बिजली की कौंध ने वातावरण में खिचाव-सा ला दिया। देखते-देखते धरती गीली हो गई। धीमे-धीमे गिरी बून्दों ने रज रेणु को थाम लिया। कीचड़ उनसे बढ़ा नहीं। तत्काल उखाड़ फेंका हुआ वह तिल-स्तम्ब अनुकूल सामग्री पा फिर अंकुरित हो उठा, बद्धमूल हो उठा, जहाँ गिरा था वहीं प्रतिष्ठित हो गया। सात तिल-फूलों के सात जीव मरे। उसी तिल-स्तम्ब की एक फली में सात तिल बन गए।

भगवान् महावीर जनपद-विहार करते-करते फिर कूर्म-ग्राम आये। वहाँ से फिर सिद्धार्थ-ग्राम नगर की ओर चले। मार्ग वही था। वे ही थे दोनों गुरु शिष्य। समय वह नहीं था। ऋतु-परिवर्तन हुआ। परिस्थिति भी बदल चुकी थी। किन्तु मनुष्य बात का पक्का होता है। आग्रह कब जल्दी से छूटता है। गोशालक की गति ही अधीर नहीं थी, मन भी अधीर था। प्रतीक्षा के क्षण लम्बे होते हैं, फिर भी कटते हैं। वह खेत आ गया। गोशालक

बोला—"भगवन्! ठहरिए। यह वही खेत है, जहाँ हमने इससे पूर्व विहार में कुछ क्षण बिताए थे। यह वही खेत है, जहाँ हमने तिल-स्तम्भ देखा था। यह वही खेत है जहाँ भगवान् ने मुझे कहा था—'यह तिल स्तम्ब पकेगा'? किन्तु भगवन्! वह भविष्यवाणी अफल हो गई। वह तिल-स्तम्ब नहीं पका, नहीं पका और नहीं पका। वे सात-फूलों के सात जीव मर कर नए सिरे से एक फली में सात तिल नहीं बने, नहीं बने और नहीं बने। सच कह रहा हूँ मैं मेरे धर्माचार्य! प्रत्यक्ष से बढ़ कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं होता। भगवान् सब सुनते रहे। वे शान्त, मौन और अविचलित थे। गोशालक की भवितव्यता ने प्रेरित किया भगवान् को बोलने के लिए, कुछ कहने के लिए, रहस्य को सामने ला रखने के लिए। भगवान् बोले—गोशालक! मैं जानता हूँ, तूने मेरी बात पर विश्वास नहीं किया था। तू आकुल था मेरी भविष्यवाणी को मिथ्या ठहराने के लिए। मुझे मालूम है गोशालक! उसके लिए तू जो करना चाहता था, वह कर चुका। किन्तु परिस्थिति ने तेरा साथ नहीं दिया। तिल स्तम्ब के उखाड़ फेंकने से लेकर उसके फिर से पकने तक की सारी कहानी भगवान् ने सुना डाली। इसके साथ-साथ परिवर्तवाद का सिद्धान्त भी समझा डाला। भगवान् बोले—"गोशालक! वनस्पति में परिवृत्य-परिहार (पउट्ट परिहार) होता है। वनस्पति के जीव एक शरीर से मर कर फिर उसी शरीर में जन्म ले लेते हैं।" गोशालक नियति के हाथों खेल रहा था। उसे भगवान् की वाणी में विश्वास नहीं हुआ। वह धीरज की बांध तोड़ कर चला। उस जगह गया, जहाँ तिल-स्तम्ब तोड़ फेंका था। उसने देखा, आश्चर्य भरी दृष्टि से देखा—वह तिल-स्तम्ब फिर से खड़ा हो गया है। उसने नजदीकी से देखा उसके गुच्छों में एक फली भी निकल आई है। संशय की आतुरता ने भुला दिया—"वनस्पति चेतन होती है, उसे स्पर्शमात्र से वेदना होती है, उसे छूना जैन-मुनि की मर्यादा के अनुकूल नहीं है आदि आदि।" उसके हाथ आगे बढ़े, फली को तोड़ा। अन्दर तिल निकले। उन्हें गिना, वे सात थे। गोशालक स्तब्ध-सा रह गया। उसके दिल में आया (ऐसा अध्यवसाय बना) "बस पीछे का सब बेकार। अब मुझे तत्त्व मिल गया है। सत्य है नियतिवाद और सत्य है परिवर्तवाद। मनुष्य के लाख

प्रयत्न करने पर भी जो होने का है वह नहीं बदलता। यह सारा घटना-चक्र नियति के अधीन है। भवितव्यता ही सब कुछ बनाती बिगाड़ती है। मनुष्य उसी महाशक्ति की एक रेखा है जो उसी से कर्तृत्व पा कुछ करने का दम भरता है।"

परिवर्तवाद भी वैसा ही व्यापक है जैसा कि नियतिवाद। सब जीव परिवृत्य-परिहार करते हैं। इस एक घटना ने गोशालक की दिशा बदल दी। अब गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य नहीं रहा। वह आजीवक-सम्प्रदाय का आचार्य बन गया, नियतिवाद और परिवर्तवाद का प्रचारक बन गया। अब वह 'जिन' कहलाने लगा।

सर्वज्ञता का पारम्पर्य-भेद

जैन-परम्परा में सर्वज्ञता के बारे में प्रायः एक मत रहा है। कहीं-कहीं मत-भेद भी मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में बताया है—"केवली व्यवहार-दृष्टि से सब कुछ जानते देखते हैं और निश्चय-दृष्टि से अपनी आत्मा को ही देखते हैं [८२]।" किन्तु सर्वज्ञता का यह विचार जैन-दृष्टि को पूर्णांशतया मान्य नहीं है। सर्वज्ञता का अर्थ है—लोक-अलोकवर्ती सब द्रव्य और सब पर्यायों का साक्षात्कार।

यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिकी वेदना (इच्छा-स्वीकृत प्रयत्नो) द्वारा भोगेगा और यह जीव इस कर्म को औपक्रमिकी वेदना (कर्मोदय-कृत वेदना) द्वारा भोगेगा, प्रदेश वेद्य या विपाक-वेद्य के रूप में जैसा कर्म बन्धा है वैसे भोगेगा, जिस देश-काल आदि में जिस प्रकार, जिस निमित्त से, जिन कर्मों के फल भोगने हैं—यह सब अर्हत को ज्ञात होता है। भगवान् ने जो कर्म जैसे-जैसे देखा है; वह वैसे वैसे ही परिणत होगा [८३]। हमारी क्रियाएं विशिष्ट ज्ञान की निश्चितता से मुक्त नहीं हैं, फिर भी ज्ञान आलोक है। सूर्य का आलोक जैसे प्रतिबन्धक नहीं होता, वैसे ही ज्ञान भी क्रिया का प्रतिबन्धक नहीं होता।

केवली पूर्व दिशा में मित (परिणामवाली वस्तु) को भी जानता है, और अमित (परिणाम-रहित वस्तु) को भी जानता है। इसी प्रकार दक्षिण,

पश्चिम और उत्तर दिशा में वह मित और अमित दोनों को जानता है। केवली सबको जानता-देखता है, सर्वतः जानता-देखता है, सर्व काल में सर्व भावों (पर्यायों या अवस्थाओं) को जानता-देखता है। वह अनन्त-ज्ञानी और अनन्त-दर्शनी होता है। उसका ज्ञान और दर्शन निरावरण होता है, इसलिए वह सब पदार्थों को सदा, सर्वतः, सर्व-पर्यायों सहित जानता-देखता है।

परिग्रह-संज्ञा
ओघ-संज्ञा
कषाय
नो कषाय
उपयोग के दो प्रकार
अव्यक्त और व्यक्त चेतना
मानसिक विकास
बुद्धि का तरतम भाव
मानसिक योग्यता के तत्त्व
चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियाँ
स्वप्न-विज्ञान
भावना
श्रद्धान
लेश्या
ध्यान

मनोविज्ञान का आधार

जैन मनोविज्ञान आत्मा, कर्म और नो-कर्म की त्रिपुटी-मूलक है। मन की व्याख्या और प्रवृत्तियों पर विचार करने से पूर्व इस त्रिपुटी पर संक्षिप्त विचार करना होगा। कारण, जैन-दृष्टि के अनुसार मन स्वतन्त्र पदार्थ या गुण नहीं, वह आत्मा का ही एक विशेष गुण है। मन की प्रवृत्ति भी स्वतन्त्र नहीं, वह कर्म और नो कर्म की स्थिति-सापेक्ष है। इसलिए इनका स्वरूप समझे बिना मन का स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

त्रपुटी का स्वरूप [आत्मा]

चैतन्य-लक्षण, चैतन्य-स्वरूप या चैतन्य-गुण पदार्थ का नाम आत्मा है [1]। ऐसी आत्माएं अनन्त हैं [2]। उनकी सत्ता स्वतन्त्र है [3]। वे किसी दूसरी आत्मा या परमात्मा के अंश नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा की चेतना अनन्त होती है— अनन्त प्रमेयों को जानने में क्षम होती है [4]। चैतन्य-स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माएं समान होती हैं, किन्तु चेतना का विकास सब में समान नहीं होता [5]। चैतन्य-विकास के तारतम्य का निमित्त कर्म है [6]।

कर्म

आत्मा की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट और उसके साथ एक-रसीभूत पुद्गल 'कर्म' कहलाते हैं [7]। कर्म आत्मा के निमित्त से होने वाला पुद्गल-परिणाम है। भोजन, औषध, विष और मद्य आदि पौद्गलिक पदार्थ परिपाक-दशा में प्राणियों पर प्रभाव डालते हैं, वैसे ही कर्म भी परिपाक-दशा में प्राणियों को प्रभावित करते हैं [8]। भोजन आदि का परमाणु-प्रचय स्थूल होता है, इसलिए उनकी शक्ति स्वल्प होती है। कर्म का परमाणु-प्रचय सूक्ष्म होता है, इसलिए इनकी सामर्थ्य अधिक होती है। भोजन आदि के ग्रहण की प्रवृत्ति स्थूल होती है, इसलिए उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। कर्म-ग्रहण की प्रवृत्ति सूक्ष्म होती है, इसलिए इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। भोजन आदि के परिणामों को जानने के लिए शरीर-शास्त्र है, कर्म के परिणामों को समझने के लिए कर्म-शास्त्र। भोजन आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर होता है और परोक्ष प्रभाव आत्मा पर। कर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव आत्मा पर होता है और परोक्ष प्रभाव शरीर पर।

पथ्य भोजन से शरीर का उपचय होता है, अपथ्य भोजन से अपचय। दोनों प्रकार का भोजन न होने से मृत्यु। ऐसे ही पुण्य-कर्म से आत्मा को सुख, पाप-कर्म से दुःख और दोनों के विलय से मुक्ति होती है। कर्म के आंशिक विलय से आंशिक मुक्ति—आंशिक विकास होता है और पूर्ण-विलय से पूर्ण मुक्ति—पूर्ण विकास। भोजन आदि का परिपाक जैसे देश, काल-सापेक्ष होता है, वैसे ही कर्म का विपाक नो कर्म सापेक्ष होता है [९]।

नो कर्म

कर्म-विपाक की सहायक सामग्री को नो कर्म कहा जाता है [१०]। आज की भाषा में कर्म को आन्तरिक परिस्थिति या आन्तरिक वातावरण कहें तो इसे बाहरी वातावरण या बाहरी परिस्थिति कह सकते हैं। कर्म प्राणियों को फल देने में क्षम है किन्तु उसकी क्षमता के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, भव-जन्म, पुद्‌गल, पुद्‌गल-परिणाम आदि-आदि बाहरी स्थितियों की अपेक्षाएं जुड़ी रहती हैं [११]।

कर्म के आंशिक विलय से होने वाले आंशिक विकास का उपयोग भी बाह्य स्थिति-सापेक्ष होता है।

चेतना का पूर्ण विकास होने और शरीर से मुक्ति मिलने के बाद आत्मा को बाह्य स्थितियों की कोई अपेक्षा नहीं होती।

चेतना का स्वरूप और विभाग

आत्मा सूर्य की तरह प्रकाश-स्वभाव होती है। उसके प्रकाश-चेतना के दो रूप बनते हैं—आवृत और अनावृत। अनावृत-चेतना अखण्ड, एक विभाग-शून्य और निरपेक्ष होती है [१२]। कर्म से आवृत्त चेतना के अनेक विभाग बन जाते हैं। उनका आधार ज्ञानावरण कर्म के उदय और विलय का तारतम्य होता है। वह अनन्त प्रकार का होता है, इसलिए चेतना के भी अनन्त रूप बन जाते हैं किन्तु उसके वर्गीकृत रूप चार हैं :—

(१) मति (२) श्रुत (३) अवधि (४) मनःपर्याय।

मति····इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान—वार्तमानिक ज्ञान।

श्रुत····शास्त्र और परोपदेश-शब्द के माध्यम से होने वाला त्रैकालिक मानस ज्ञान।

अवधि'''इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्म-शक्ति से होने वाला ज्ञान।

मनः पर्याय'''परचित्त-ज्ञान।

इनमें पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं और अन्तिम दो प्रत्यक्ष। ज्ञान स्वरूपतः प्रत्यक्ष ही होता है। बाह्यार्थ ग्रहण के समय वह प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दो धाराओं में बंट जाता है।

ज्ञाता ज्ञेय को किसी माध्यम के बिना जाने तब उसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और माध्यम के द्वारा जाने तब परोक्ष।

आत्मा प्रकाश-स्वभाव है, इसलिए उसे अर्थ-बोध में माध्यम की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। किन्तु चेतना का आवरण बलवान होता है, तब वह हुए बिना नहीं रहती। मति-ज्ञान पौद्‌गलिक इन्द्रिय और पौद्‌गलिक मन के माध्यम से होता है। श्रुत-ज्ञान शब्द और संकेत के माध्यम से होता है, इसलिए ये दोनों परोक्ष हैं।

अवधि-ज्ञान इन्द्रिय और मन का सहारा लिए बिना ही पौद्‌गलिक पदार्थों को जान लेता है। आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान में सामीप्य और दूरी, भींत आदि का आवरण, तिमिर और कुहासा—ये बाधक नहीं बनते।

मनः पर्याय ज्ञान दूसरों की मानसिक आकृतियों को जानता है [१३]। समनस्क प्राणी जो चिन्तन करते हैं, उसकी चिन्तन के अनुरूप आकृतियां बनती हैं [१४]। इन्द्रिय और मन उन्हें साक्षात् नहीं जान सकते। इन्हें चेतोवृत्ति का ज्ञान सिर्फ आनुमानिक होता है [१५]। परोक्ष ज्ञानी शरीर की स्थूल चेष्टाओं को देख कर अन्तरवर्त्ती मानस प्रवृत्तियों को समझने का यत्न करता है। मनः पर्यवज्ञानी उन्हें साक्षात् जान जाता है [१६]।

मनः पर्यवज्ञानी को इस प्रयत्न में अनुमान करने के लिए मन का सहारा लेना पड़ता है। वह मानसिक आकृतियों का साक्षात्कार करता है। किन्तु मानसिक विचारों का साक्षात्कार नहीं करता। इसका कारण यह है—पदार्थ दो प्रकार के होते हैं :—मूर्त्त और अमूर्त [१७]। पुद्‌गल मूर्त्त हैं और आत्मा अमूर्त्त [१८]। अनावृत चेतना को इन दोनों का साक्षात्कार होता है। आवृत्त चेतना सिर्फ मूर्त पदार्थ का ही साक्षात्कार कर सकती है। मनः पर्याय

ज्ञान आवृत्त चेतना का एक विभाग है, इसलिए वह आत्मा की अमूर्त मानसिक परिणति को साक्षात् नहीं जान सकता। वह इस (आत्मिक-मन) के निमित्त से होने वाली मूर्त मानसिक परिणति (पौद्गलिक मन की परिणति) को साक्षात् जानता है और मानसिक विचारों को उसके द्वारा अनुमान से जानता है [१९]। मानसिक विचार और उनकी आकृतियों के अविनाभाव से यह ज्ञान पूरा बनता है। इसमें मानसिक विचार अनुमेय होते हैं। फिर भी यह ज्ञान परोक्ष नहीं है। कारण कि मानसिक विचारों को साक्षात् जानना मनः पर्याय ज्ञान का विषय नहीं। उसका विषय है मानसिक आकृतियों को साक्षात् जानना। उन्हें जानने के लिए इसे दूसरे पर निर्भर नहीं होना पड़ता। इसलिए यह आत्म-प्रत्यक्ष ही है। मनः पर्याय ज्ञान जैसे मानसिक पर्यायों—ज्ञेय-विषयक अध्यवसायों को अनुमान से जानता है, वैसे ही मन द्वारा चिन्तनीय विषय को भी अनुमान से जानता है [२०]।

शरीर और चेतना का सम्बन्ध

शरीर और चेतना दोनों भिन्न धर्मक हैं। फिर भी इनका अनादि—प्रवाही सम्बन्ध है। चेतन और अचेतन चैतन्य की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए वे सर्वथा एक नहीं हो सकते। किन्तु सामान्य गुण की दृष्टि से वे अभिन्न भी हैं। इसलिए उनमें सम्बन्ध हो सकता है। चेतन शरीर का निर्माता है। शरीर उसका अधिष्ठान है। इसलिए दोनों पर एक दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। शरीर की रचना चेतन-विकास के आधार पर होती है। जिस जीव के जितने इन्द्रिय और मन विकसित होते हैं, उसके उतने ही इन्द्रिय और मन के ज्ञान-तन्तु बनते हैं। वे ज्ञान-तन्तु ही इन्द्रिय और मानस ज्ञान के साधन होते हैं। जब तक ये स्वस्थ रहते हैं, तब तक इन्द्रियां स्वस्थ रहती हैं। इन ज्ञान-तन्तुओं को शरीर से निकाल लिया जाए तो इन्द्रियों में जानने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती [२१]।

शरीर की बनावट और चेतना का विकास

चेतना-विकास के अनुरूप शरीर की रचना होती है और शरीर-रचना के अनुरूप चेतना की प्रवृत्ति होती है। शरीर-निर्माण-काल में आत्मा उसका

निमित्त बनती है और ज्ञान-काल में शरीर के ज्ञान-तन्तु चेतना के सहायक बनते हैं।

पृथ्वी यावत् वनस्पति का शरीर अस्थि, मांस रहित होता है। विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का शरीर अस्थि, मांस, शोणित-बद्ध होता है।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य का शरीर अस्थि, मांस, शोणित, स्नायु, शिरा-बद्ध होता है [२२]।

आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं होती, इसलिए आत्मा की परिणति का शरीर पर और शरीर की परिणति का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। देह-मुक्त होने के बाद आत्मा पर उसका कोई असर नहीं होता किन्तु दैहिक स्थितियों से जकड़ी हुई आत्मा के कार्य-कलाप में शरीर सहायक व बाधक बनता है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिए जैसे दैहिक इन्द्रियों की अपेक्षा होती है, वैसे ही पूर्व-प्रत्यक्ष की स्मृति के लिए दैहिक ज्ञानतन्तु-केन्द्रों—मस्तिष्क या अन्य अवयवों की अपेक्षा रहती है।

शरीर की वृद्धि के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है, तब फिर शरीर से आत्मा भिन्न कैसे? यह सहज शंका उठती है किन्तु यह नियम पूर्ण व्याप्त नहीं है। बहुत सारे व्यक्तियों के देह का पूर्ण विकास होने पर भी बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं होता और कई व्यक्तियों के देह के अपूर्ण विकास में भी बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है। देह की अपूर्णता में बौद्धिक विकास पूर्ण नहीं होता, इसका कारण यह है कि वस्तु-विषय का ग्रहण शरीर की सहायता से होता है। जब तक देह पूर्ण विकसित नहीं होता, तब तक वस्तु-विषय का ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ नहीं बनता। मस्तिष्क और इन्द्रियों की न्यूनाधिकता होने पर भी ज्ञान की मात्रा में न्यूनाधिकता होती है, उसका भी यही कारण है—सहकारी अवयवों के बिना ज्ञान का उपयोग नहीं हो सकता। देह, मस्तिष्क और इन्द्रियों के साथ ज्ञान का निमित्त कारण और कार्य भाव सम्बन्ध है। इसका फलित यह नहीं होता कि आत्मा और वे एक हैं।

मन क्या है ?

समतात्मक भौतिकवाद के अनुसार मानसिक क्रियाएं स्वभाव से ही भौतिक हैं।

कारणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का कार्य है।

गुणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का गुण है।

जैन-दृष्टि के अनुसार मन दो प्रकार के होते हैं—एक चेतन और दूसरा पौद्गलिक।

पौद्गलिक मन ज्ञानात्मक मन का सहयोगी होता है। उसके बिना ज्ञानात्मक मन अपना कार्य नहीं कर सकता, उसमें अकेले में ज्ञान-शक्ति नहीं होती। दोनों के योग से मानसिक क्रियाएं होती हैं।

ज्ञानात्मक मन चेतन है। वह पौद्गलिक परमाणुओं से नहीं बन सकता। वह पौद्गलिक वस्तु का रस नहीं है। पौद्गलिक वस्तु का रस भी पौद्गलिक ही होगा। पित्त का निर्माण यकृत् में होता है, यह पौद्गलिक है। चेतना न मस्तिष्क का रस है और न मस्तिष्क की आनुषङ्गिक उपज भी। यह कार्यक्षम और शरीर का नियामक है। आनुषङ्गिक उपज में यह सामर्थ्य नहीं होती।

चेतना शरीर-घटक धातुओं का गुण होता तो शरीर से वह कभी लुप्त नहीं होती। चेतना आत्मा का गुण है। आत्म-शून्य-शरीर में चेतना नहीं होती और शरीर-शून्य आत्मा की चेतना हमें प्रत्यक्ष नहीं होती। हमें शरीर-युक्त आत्मा की चेतना का ही बोध होता है।

वस्तु का स्वगुण कभी भी वस्तु से पृथक् नहीं होता। दो वस्तुओं के संयोग से तीसरी नई वस्तु बनती है, तब उसका गुण भी दोनों के सम्मिश्रण से बनता है, किन्तु बाहर से नहीं आता। उसका विघटन होने पर पुनः दोनों वस्तुओं के अपने-अपने गुण स्वतन्त्र हो जाते हैं। गन्धक के तेजाब में हाँइड्रोजन, (Hydrogen) गन्धक और ऑक्सीजन (Oxygen) का सम्मिश्रण रहता है। इसके भी अपने विशेष गुण होते हैं। इसको बनाने वाली मूल धातुएँ पृथक्-पृथक् कर दी जाएं, तब वे अपने मूल गुणों के साथ ही पायी जाती हैं।

आत्मा का गुण चैतन्य और जड़ का गुण अचैतन्य है। ये भी इनके साथ

सदा लगे रहते हैं। इन दोनों के संयोग से नए गुण पैदा होते हैं, जिन्हें जैन परिभाषा में 'वैभाविक-गुण' कहा जाता है। ये गुण मुख्य रूप में चार हैं :—

(१) आहार (२) श्वास-उच्छ्वास (३) भाषा और (४) पौद्गलिक मन। ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के। ये दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। दोनों के वियोग में ये भी मिट जाते हैं।

शरीर और मन का पारस्परिक प्रभाव

शरीर पर मन का और मन पर शरीर का असर कैसे होता है? अब इस पर हमें विचार करना है। आत्मा अरूपी है, उसको हम देख नहीं सकते। शरीर में आत्मा की क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि आत्मा विद्युत् है और शरीर बल्व (लट्टू) है। ज्ञान-शक्ति आत्मा का गुण है और उसके साधन शरीर के अवयव हैं। बोलने का प्रयत्न आत्मा का है, उसका साधन शरीर है। इसी प्रकार पुद्गल ग्रहण एवं हलन-चलन आत्मा करती है और उसका साधन शरीर है। आत्मा के बिना चिन्तन, जल्प और बुद्धिपूर्वक गति-आगति नहीं होती तथा शरीर के बिना उनका प्रकाश (अभिव्यक्ति) नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि "द्रव्यनिमित्तं हि संसारिणां वीर्यमुपजायते"—अर्थात् संसारी-आत्माओं की शक्ति का प्रयोग पुद्गलों की सहायता से होता है। हमारा मानस चिन्तन में प्रवृत्त होता है और उसे पौद्गलिक मन के द्वारा पुद्गलों का ग्रहण करना ही पड़ता है, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। हमारे चिन्तन में जिस प्रकार के इष्ट या अनिष्ट भाव आते हैं, उसी प्रकार के इष्ट या अनिष्ट पुद्गलों को द्रव्य-मन [पौद्गलिक मन] ग्रहण करता चला जाता है। मन-रूप में परिणत हुए अनिष्ट-पुद्गलों से शरीर की हानि होती है और मन रूप में परिणत इष्ट पुद्गलों से शरीर को लाभ पहुँचता है[२३]। इस प्रकार शरीर पर मन का असर होता है। यद्यपि शरीर पर असर उसके सजातीय पुद्गलों के द्वारा ही होता है, तथापि उन पुद्गलों का ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर है। इसलिए इस प्रक्रिया को हम शरीर पर मानसिक असर कह सकते हैं। देखने की शक्ति ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का गुण है। फिर भी आंख के

बिना मनुष्य देख नहीं सकता। आंख में रोग होता है, दर्शन-क्रिया नष्ट हो जाती है। रोग की चिकित्सा की और दीखने लग जाता है। यही बात मस्तिष्क और मन की क्रिया के बारे में है। इस प्रकार आत्मा पर शरीर का असर होता है।

इन्द्रिय और मन का ज्ञानक्रम

मति ज्ञान और श्रुत-ज्ञान--दोनों के साधन हैं—इन्द्रिय और मन। फिर भी दोनों एक नहीं है। मति द्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता मात्र से अर्थ का ज्ञान हो जाता है। श्रुत को शब्द या संकेत की और अपेक्षा होती है। जहाँ हम घट को देखने मात्र से जान लेते हैं, वह मति है और जहाँ घट शब्द के द्वारा घट को जानते हैं, वह श्रुत है [२४]। मति ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ के बीच इन्द्रिय और मन का व्यवधान होता है, इसलिए वह परोक्ष है किन्तु उस (श्रुत ज्ञान) में इन्द्रिय मन और ज्ञेय वस्तु के बीच कोई व्यवधान नहीं होता, इसलिए उसे लौकिक प्रत्यक्ष भी कहा जाता है [२५]। श्रुत ज्ञान में इन्द्रिय, मन और ज्ञेय वस्तु के बीच शब्द का व्यवधान होता है, इसलिए वह सर्वतः परोक्ष ही होता है।

लौकिक प्रत्यक्ष आत्म-प्रत्यक्ष की भाँति समर्थ प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए इसमें क्रमिक ज्ञान होता है। वस्तु के सामान्य दर्शन से लेकर उसकी धारणा तक का क्रम इस प्रकार है :—

ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का उचित सन्निधान······व्यञ्जन।

वस्तु के सर्व सामान्य रूप का बोध············दर्शन।

वस्तु के व्यक्तिनिष्ठ सामान्य रूप का बोध······अवग्रह।

वस्तु-स्वरूप के बारे में अनिर्णायक विकल्प······संशय।

वस्तु-स्वरूप का परामर्श-वस्तु में प्राप्त और अप्राप्त धर्मों का पर्यालोचन। } ·········ईहा, (निर्णय की चेष्टा)

वस्तु-स्वरूप का निर्णय······अवाय (निर्णय)

वस्तु-स्वरूप का स्थिर-अवगति या स्थिरीकरण···धारणा (निर्णय की धारा)

यह क्रम अमनस्क दशा में अपूर्ण हो सकता है किन्तु इसका विपर्यास नहीं हो सकता। अवग्रह हो जाता है, ध्यान बदलने पर 'ईहा' नहीं भी होती। किन्तु ईहा से पहले अवग्रह का यानी वस्तु के विशेष-स्वरूप के परामर्श से पहले उसके सामान्य रूप का ग्रहण होना अनिवार्य है। यह नियम धारणा तक समान है।

इस क्रम में व्यञ्जन अचेतन होता है, दर्शन विशेष-स्वरूप का अनिर्णायक, और संशय अयथार्थ। निर्णायक ज्ञान की भूमिकाएं चार हैं :—

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

वस्तुवृत्त्या निर्णय की भूमि 'अवाय' है। अवग्रह और ईहा निर्णयोन्मुख या स्वरूपांश के निर्णायक होते हैं। धारणा निर्णय का स्थिर रूप है। इसलिए वह भी निर्णायक होती है। धारणा के तीन प्रकार हैं :— (१) अविच्युति (२) वासना (३) स्मृति।

अविच्युति

निर्णीत विषय में ज्ञान की प्रवृत्ति निरन्तर चलती रहे, उपयोग की धारा न टूटे, उस धारणा का नाम 'अविच्युति' है। इस अविच्युति की अपेक्षा ही धारणा लौकिक प्रत्यक्ष है। इसके उत्तरवर्ती दो प्रकार प्रत्यक्ष नहीं हैं।

वासना

निर्णय में वर्तमान ज्ञान की प्रवृत्ति-उपयोग का सातत्य छूटने पर प्रस्तुत ज्ञान का व्यक्त रूप चला जाता है। उसका अव्यक्तरूप संस्कार रह जाता है और यही पूर्व-ज्ञान की स्मृति का कारण बनता है। इस संस्कार-ज्ञान का नाम है 'वासना'।

स्मृति

संस्कार उद्बुद्ध होने पर अनुभूत अर्थ का पुनर्बोध होता है। वह 'स्मृति' है।

वासना व्यक्त ज्ञान नहीं, इसलिए वह प्रमाण की कोटि में नहीं आती। स्मृति परोक्ष प्रमाण है। धारणा तक मति लौकिक प्रत्यक्ष होती है। स्मृति से लेकर अनुमान तक उसका रूप परोक्ष बन जाता है।

चक्षु और मन का ज्ञान-क्रम पटु होता है। इसलिए उनका व्यञ्जन नहीं

होता—ज्ञेय वस्तु से सन्निकर्ष नहीं होता। जिन इन्द्रियों का व्यञ्जन होता है, उन्हें व्यञ्जन का अस्पष्ट बोध होता है। अपने और ज्ञेय वस्तु के संश्लेष का अव्यक्त ज्ञान होता है, इसे 'व्यञ्जन-अवग्रह' कहा जाता है। यह अपटु ज्ञान-क्रम है। इससे ज्ञेय अर्थ का बोध नहीं होता। वह इसके उत्तरवर्त्ती अवग्रह से होता है, इसलिए उसका नाम 'अर्थ-अवग्रह' है।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये पांच इन्द्रिय और मन—इन छहों के होते हैं।

स्पर्शन······अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन·········,,	,,	,,	,,
घ्राण·········,,	,,	,,	,,
चक्षु·········,,	,,	,,	,,
श्रोत्र·········,,	,,	,,	,,
मनस्·········,,	,,	,,	,,

इन्द्रिय और मन की सापेक्ष-निरपेक्ष वृत्ति

इन्द्रिय प्रतिनियत अर्थग्राही है [२६]। पांच इन्द्रियों—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र—के पांच विषय हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द [२७]। मन सर्वार्थग्राही है [२८]। वह इन पांचों अर्थों को जानता है। इसके सिवाय मन का मुख्य विषय श्रुत है [२९]। 'पुस्तक' शब्द सुनते ही या पढ़ते ही मन को 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान हो जाता है। मन को शब्द-संस्पृष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है। इन्द्रिय को पुस्तक देखने पर 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान होता है और 'पुस्तक' शब्द सुनने पर उस शब्द मात्र का ज्ञान होता है। किन्तु 'पुस्तक' शब्द का यह पुस्तक वाच्यार्थ है—यह ज्ञान इन्द्रिय को नहीं होता। इन्द्रियों में मात्र विषय की उपलब्धि—अवग्रहण की शक्ति होती है, ईहा—गुण दोष विचारणा, परीक्षा या तर्क की शक्ति नहीं होती [३०]। मन में ईहापोह शक्ति होती है [३१]। इन्द्रिय मति और श्रुत—दोनों में वार्तमानिक बोध करती है, पार्श्ववर्त्ती विषय को जानती है। मन मति-ज्ञान में भी ईहा के अन्वय-व्यतिरेकी धर्मों का परामर्श करते समय त्रैकालिक बन जाता है और श्रुत में त्रैकालिक होता ही है [३२]।

मन इन्द्रिय है या नहीं ?

नैयायिक मन को इन्द्रिय से पृथक् मानते हैं [33]। सांख्य मन का इन्द्रिय में अन्तर्भाव करते हैं [34]। जैन मन को अन-इन्द्रिय मानते हैं। इसका अर्थ है मन इन्द्रिय की तरह प्रतिनियत अर्थ को जानने वाला नहीं है, इसलिए वह इन्द्रिय नहीं और वह इन्द्रिय के विषयों को उन्हीं के माध्यम से जानता है, इसलिए वह कथंचित् इन्द्रिय नहीं यह भी नहीं। वह शक्ति की अपेक्षा इन्द्रिय नहीं भी है और इन्द्रिय-सापेक्षता की दृष्टि से इन्द्रिय है भी।

मानसिक-अवग्रह

इन्द्रियां जैसे मति ज्ञान की निमित्त हैं, वैसे श्रुत-ज्ञान की भी। मन की भी यही बात है। वह भी दोनों का निमित्त है। किन्तु श्रुत—शब्द द्वारा ग्राह्य वस्तु, केवल मन का ही विषय है, इन्द्रियों का नहीं[35]। शब्द-संस्पर्श के बिना प्रत्यक्ष वस्तु का ग्रहण इन्द्रिय और मन दोनों के द्वारा होता है। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दात्मक वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है, उनकी विशेष अवस्थाओं और बुद्धि जन्य काल्पनिक वृत्तों का तथा पदार्थ के उपयोग का ज्ञान मन के द्वारा होता है। इस प्राथमिक ग्रहण—अवग्रह में सामान्य रूप से वस्तु-पर्यायों का ज्ञान होता है। इसमें आगे पीछे का अनुसंधान, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, विशेष विकल्प आदि नहीं होते। इन्द्रियां इन विशेष पर्यायों को नहीं जान सकतीं। इसलिए मानसिक अवग्रह में वे संयुक्त नहीं होतीं, जैसे ऐन्द्रियिक अवग्रह में मन संयुक्त होता है। अवग्रह के उत्तरवर्त्ती ज्ञान क्रम पर तो मन का एकाधिकार है ही।

मन की व्यापकता

[क] विषय की दृष्टि से :—

इन्द्रियों के विषय केवल प्रत्यक्ष पदार्थ बनते हैं। मन का विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के पदार्थ बनते हैं। शब्द, परोपदेश या आगम-ग्रन्थ के माध्यम से अस्पृष्ट, अरसित, अघ्रात, अदृष्ट, अश्रुत, अननुभूत, मूर्त्त और अमूर्त्त सब पदार्थ जाने जाते हैं। यह श्रुत-ज्ञान है। श्रुत-ज्ञान केवल मानसिक होता है। कहना यह चाहिए कि मन का विषय सब पदार्थ हैं किन्तु यह नहीं कहा जाता, उसका भी एक अर्थ है। सब पदार्थ मन के ज्ञेय बनते हैं, किन्तु

प्रत्यक्ष रूप से नहीं श्रुत के माध्यम से बनते हैं, इसलिए मन का विषय श्रुत है [३६]।

श्रुतमनोविज्ञान इन्द्रिय-निमित्तक भी होता है और मनोनिमित्तक भी। इन्द्रिय के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है, इसलिए इन्द्रियां उसका निमित्त बनती हैं। मन के द्वारा सामान्य पर्यालोचन होता है, इसलिए वह भी उसका निमित्त बनता है। श्रुत-मनोविज्ञान विशेष पर्यालोचनात्मक होता है—यह उन दोनों का कार्य है।

[ख] काल की दृष्टि से :—

इन्द्रियां सिर्फ वर्तमान अर्थ को जानती हैं। मन त्रैकालिक ज्ञान है। स्वरूप की दृष्टि से मन वर्तमान ही होता है। मन मन्यमान होता है—मनन के समय ही मन होता है [३७]। मनन से पहले और पीछे मन नहीं होता। वस्तु-ज्ञान की दृष्टि से वह त्रैकालिक होता है। उसका मनन वार्तमानिक होता है, स्मरण अतीतकालिक, संज्ञा उभयकालिक, कल्पना भविष्यकालिक, चिन्ता—अभिनिबोध और शब्द-ज्ञान त्रैकालिक।

विकास का तरतमभाव

प्राणीमात्र में चेतना समान होती है, उसका विकास समान नहीं होता। ज्ञानावरण मन्द होता है, चेतना अधिक विकसित होती है। वह तीव्र होता है, चेतना का विकास स्वल्प होता है। अनावरण दशा में चेतना पूर्ण विकसित रहती है। ज्ञानावरण के उदय से चेतना का विकास ढक जाता है किन्तु वह पूर्णतया आवृत कभी नहीं होती। उसका अल्पांश सदा अनावृत्त रहता है। यदि वह पूरी आवृत्त हो जाए तो फिर जीव और अजीव के विभाग का कोई आधार ही नहीं रहता [३८]। बादल कितने गहरे ही क्यों न हों, सूर्य की प्रभा रहती है। उसका अल्पांश दिन और रात के विभाग का निमित्त बनता है [३९]। चेतना का न्यूनतम विकास एकेन्द्रिय जीवों में होता है [४०]। उनमें सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान होता है। स्त्यानर्द्धि-निद्रा—गाढ़तम नींद जैसी दशा उनमें हमेशा रहती है, इससे उनका ज्ञान अव्यक्त होता है [४१]। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय-सम्मूर्च्छिम और पञ्चेन्द्रिय गर्भज में क्रमशः ज्ञान की मात्रा बढ़ती है [४२]।

द्वीन्द्रिय..................स्पर्शन और रसन

त्रीन्द्रिय..................स्पर्शन, रसन और घ्राण

चतुरिन्द्रिय.........स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु।

पञ्चेन्द्रिय सम्मूर्छिम.........स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

पञ्चेन्द्रिय गर्भज.........स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन-अतीन्द्रिय ज्ञान-अवधि-मूर्त्त पदार्थ का साक्षात् ज्ञान।

पञ्चेन्द्रिय गर्भज मनुष्य...पूर्व के अतिरिक्त परचित्त-ज्ञान और केवल ज्ञान-चेतना की अनावृत्त-दशा।

ज्ञानावरण का पूर्ण विलय [क्षय] होने पर चेतना निरुपाधिक हो जाती है। उसका आंशिक विलय (क्षयोपशम) होता है, तब उसमें अनन्त गुण तरतमभाव रहता है। उसके वर्गीकृत चार भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय। इनमें भी अनन्तगुण तारतम्य होता है। एक व्यक्ति के मति-ज्ञान से दूसरे व्यक्ति का मति-ज्ञान अनन्तगुण हीन या अधिक हो जाता है [४३]। यही स्थिति शेष तीनों की है।

निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति—उपयोग, सब विषयो पर निरन्तर होता रहता है। सोपाधिक चेतना (आंशिक विलय से विकसित चेतना) की प्रवृत्ति—उपयोग निरन्तर नहीं रहता। जिस विषय पर जब ध्यान होता है—चेतना की विशेष प्रवृत्ति होती है, तभी उसका ज्ञान होता है। प्रवृत्ति छूटते ही उस विषय का ज्ञान छूट जाता है। निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति सामग्री-निरपेक्ष होती है, इसलिए वह स्वतः प्रवृत्त होती है, उसकी विशेष प्रवृत्ति करनी नहीं पड़ती। सोपाधिक चेतना सामग्री-सापेक्ष होती है, इसलिए वह सब विषयों को निरन्तर नहीं जानती, जिस पर विशेष प्रवृत्ति करती है, उसीको जानती है [४४]।

सोपाधिक चेतना के दो रूप—(१) मूर्त्त-पदार्थ-ज्ञान (अवधि) (२) पर-चित्त-ज्ञान [मनः पर्याय] विशद होते हैं और बाह्य सामग्री-निरपेक्ष होते हैं। इसलिए ये अव्यक्त नहीं होते, क्रमिक नहीं होते और संशय-विपर्यय-दोष-मुक्त होते हैं। ऐन्द्रियिक और मानसज्ञान (मति और श्रुत) बाह्य-सामग्री-

सापेक्ष होते हैं, इसलिए वे अव्यक्त, क्रमिक और संशय-विपर्यय-दोषयुक्त भी होते हैं[४५]। इसका मुख्य कारण ज्ञानावरण का तीव्र सद्भाव ही है। ज्ञानावरण कर्म आत्मा पर छाया हुआ रहता है। चेतना का सीमित विकास—जानने की आंशिक योग्यता [क्षायोपशमिक-भाव] होने पर भी जब तक आत्मा का व्यापार नहीं होता, तब तक ज्ञानावरण उस पर पर्दा डाले रहता है। पुरुषार्थ चलता है, पर्दा दूर हो जाता है। पदार्थों की जानकारी मिलती है। पुरुषार्थ निवृत्त होता है, ज्ञानावरण फिर छा जाता है। उदाहरण के लिए समझिए—पानी पर शैवाल बिछा हुआ है। कोई उसे दूर हटाता है, पानी प्रगट हो जाता है, उसे दूर करने का प्रयत्न बन्द होता है, तब वह फिर पानी पर छा जाता है[४६]। ज्ञानावरण का भी यही क्रम है।

(१) आत्मा चैतन्यमय है, इसलिए उसमें विस्मृति नहीं होनी चाहिए, फिर विस्मृति क्यों ?

(२) ज्ञान का स्वभाव है ज्ञेय को जानना, फिर अव्यक्त बोध क्यों ?

(३) ज्ञान का स्वभाव है, पदार्थ का निश्चय करना, फिर संशय, भ्रम आदि क्यों ?

(४) ज्ञान असीम है, इसलिए उससे अपरिमित पदार्थों का ग्रहण होना चाहिए, फिर वह सीमित क्यों ?

इनका सामुदयिक समाधान यह है :—

इन विचित्र स्थितियों के कारण कर्म पुद्गल हैं, ये विचित्रताएं कर्म पुद्गल-प्रभावित चेतना में होती हैं।

क्रमिक समाधान यों है :—

(१) आवृत चैतन्य अस्थिर स्वभाव वाला होता है, पदार्थों को क्रम पूर्वक जानता है, इसलिए—वह अव्यवस्थित और उद्भ्रान्त होता है। इसलिए एक पदार्थ में चिरकाल तक उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। अन्तर्-मुहूर्त्त से अधिक एक विषय में प्रवृत्ति नहीं होती[४७]। प्रस्तुत विषय में ज्ञान की प्रवृत्ति रुकती है, दूसरे में प्रारम्भ होती है, तब पूर्व ज्ञात अर्थ की विस्मृति हो जाती है, वह संस्कार रूप बन जाता है।

(२) सूर्य का स्वभाव है, पदार्थों को प्रकाशमान् करना। किन्तु मेघाच्छन्न

सूर्य उन्हें स्पष्टतया प्रकाशित नहीं करता—यही स्थिति चैतन्य की है। कर्म-पुद्गलों से आवृत चैतन्य पदार्थों को व्यक्त रूप में नहीं जान पाता। अव्यक्तता का मात्राभेद आवरण के तरतम भाव पर निर्भर है।

(३) चेतना आवृत होती है और ज्ञान की सहायक-सामग्री दोषपूर्ण होती है, तब संशय, भ्रम आदि होते हैं [४८]।

(४) ससीम ज्ञान का कारण चैतन्य का आवरण है ही।

इन्द्रिय और मन का विभाग क्रम तथा प्राप्ति क्रम

ज्ञान का आवरण हटता है, तब लब्धि होती है[४९]—वीर्य का अन्तराय दूर होता है, तब उपयोग होता है [५०]। ये दो ज्ञानेन्द्रिय और ज्ञान मन के विभाग हैं—आत्मिक चेतना के विकास अंश हैं।

इन्द्रिय के दो विभाग और हैं—निर्वृत्ति-आकार-रचना और उपकरण-विषय-ग्रहण-शक्ति। ये दोनों ज्ञान की सहायक इन्द्रिय—पौद्गलिक इन्द्रिय के विभाग हैं—शरीर के अंश हैं। इन चारों के समुदय का नाम इन्द्रिय है। चारों में से एक अंश भी विकृत हो तो ज्ञान नहीं होता। ज्ञान का अर्थ-ग्राहक अंश उपयोग है [५१]। उपयोग (ज्ञान की प्रवृत्ति) उतना ही हो सकता है, जितनी लब्धि (चेतना की योग्यता) होती है। लब्धि होने पर भी उपकरण न हो तो विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। उपकरण निर्वृति के बिना काम नहीं कर सकता। इसलिए ज्ञान के समय इनका विभाग-क्रम यूं बनता है :—

(१) निर्वृत्ति (२) उपकरण (३) लब्धि (४) उपयोग।

इनका प्राप्तिक्रम इससे भिन्न है। उसका रूप इस प्रकार बनता है—(१) लब्धि (२) निर्वृत्ति (३) उपकरण (४) उपयोग [५२]। अमुक प्राणी में इतनी इन्द्रियां बनती हैं, न्यूनाधिक नहीं बनती, इसका नियामक इनका प्राप्ति-क्रम है। इसमें लब्धि की मुख्यता है। जिस प्राणी में जितनी इन्द्रियों की लब्धि होती है, उसके उतनी ही इन्द्रियों के आकार, उपकरण और उपयोग होते हैं [५३]।

हम जब एक वस्तु का ज्ञान करते हैं तब दूसरी का नहीं करते—हमारे ज्ञान में यह विप्लव नहीं होता, इसका नियामक विभाग-क्रम है। इसमें

उपयोग की मुख्यता है। उपयोग निर्वृत्ति आदि निरपेक्ष नहीं होता किन्तु इन तीनों के होने पर भी उपयोग के बिना ज्ञान नहीं हो सकता। उपयोग ज्ञानावरण के विलय की योग्यता और वीर्य-विकास—दोनों के संयोग से बनता है। इसलिए एक वस्तु को जानते समय दूसरी वस्तुओं को जानने की शक्ति होने पर भी उनका ज्ञान इसलिए नहीं होता कि वीर्य-शक्ति हमारी ज्ञान-शक्ति को ज्ञायमान वस्तु की ओर ही प्रवृत्त करती है [५४]।

इन्द्रिय-प्राप्ति की दृष्टि से प्राणी पांच भागों में विभक्त होते हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। किन्तु इन्द्रिय ज्ञान-उपयोग की दृष्टि से सब प्राणी एकेन्द्रिय ही होते हैं। एक साथ एक ही इन्द्रिय का व्यापार हो सकता है। एक इन्द्रिय का व्यापार भी स्व-विषय के किसी विशेष अंश पर ही हो सकता है सर्वांशतः नहीं [५५]।

उपयोग

उपयोग दो प्रकार का होता है [५६]। (१) संविज्ञान और (२) अनुभव। वस्तु की उपलब्धि (ज्ञान) को 'संविज्ञान' और सुख-दुख के संवेदन को 'अनुभव' कहा जाता है [५७]।

(१) कई जीव ज्ञान-युक्त होते हैं, वेदना-युक्त नहीं; जैसे—मुक्त आत्माएं।

(२) कई जीव ज्ञान (स्पष्ट ज्ञान) युक्त नहीं होते, वेदना-युक्त होते हैं; जैसे—एकेन्द्रिय जीव।

(३) त्रस जीव दोनों युक्त होते हैं।

(४) अजीव में दोनों नहीं होते।

एकेन्द्रिय से मनस्क पञ्चेन्द्रिय तक के जीव शारीरिक वेदना का अनुभव करते हैं। उनमें मन नहीं होता, इसलिए मानसिक वेदना उनके नहीं होती [५८]। ज्ञान के मति, श्रुत आदि पांच प्रकार हैं, जो पहले बताये जा चुके हैं। ज्ञान ज्ञानावरण के विलय से होता है। ज्ञान की दृष्टि से जीव विज्ञ कहलाता है। संज्ञा दस या सोलह हैं [५९]। वे कर्मों के सन्निपात—सम्मिश्रण से बनती हैं। इनमें कई संज्ञाएं ज्ञानात्मक भी हैं, फिर भी वे प्रवृत्ति-संवलित हैं, इसलिए शुद्ध-ज्ञान रूप नहीं हैं।

संज्ञाएँ[10]

१—आहार	६—मान
२—भय	७—माया
३—मैथुन	८—लोभ
४—परिग्रह	९—ओघ
५—क्रोध	१०—लोक

संज्ञा की दृष्टि से जीव 'वेद' कहलाता है[11]। इनके अतिरिक्त तीन संज्ञाएं और हैं :—[नं० सू०]

(१) हेतुवादोपदेशिकी

(२) दीर्घकालिकी

(३) सम्यग्-दृष्टि……

ये तीनों ज्ञानात्मक हैं। संज्ञा का स्वरूप समझने से पहले कर्म का कार्य समझना उपयोगी होगा। संज्ञाएं आत्मा और मन की प्रवृत्तियां हैं। वे कर्म द्वारा प्रभावित होती हैं। कर्म आठ हैं। उन सब में 'मोह' प्रधान है। उसके दो कार्य हैं :—तत्त्व-दृष्टि या श्रद्धा को विकृत करना और चरित्र को विकृत करना। दृष्टि को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'दृष्टि मोह' और चरित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'चारित्र मोह' कहलाते हैं। चारित्र मोह के द्वारा प्राणी में विविध मनोवृत्तियां बनती हैं—(आज का मनोविज्ञान जिन्हें स्वाभाविक मनोवृत्तियां कहता है) जैसे—भय, घृणा, हंसी, सुख, कामना, संग्रह, झगड़ालूपन, भोगासक्ति यौन सम्बन्ध आदि-आदि।

तीन एषणाएं :—(१) मैं जीवित रहूँ, (२) धन बढ़े, (३) परिवार बढ़े; तीन प्रधान मनोवृत्तियां :—(१) सुख की इच्छा (२) किसी वस्तु को पसन्द करना या उससे घृणा करना। (३) विजयाकाँक्षा अथवा नया काम करने की भावना[12]—ये सभी चारित्र मोह द्वारा सृष्ट होते हैं। चारित्र-मोह परिस्थितियों द्वारा उत्तेजित हो अथवा परिस्थितियों से उत्तेजित हुए बिना ही प्राणियों में भावना या अन्तः क्षोभ पैदा करता है—जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि। मोह के सिवाय शेष कर्म आत्म-शक्तियों को आवृत करते हैं विकृत नहीं।

(१) ज्ञानावरण के पुद्गल ज्ञान—सविकल्प या साकार चेतना को आवृत करते हैं।

(२) दर्शनावरण के पुद्गल दर्शन—निर्विकल्प या निराकार चेतना को आवृत करते हैं।

(३) अन्तराय के पुद्गल सामर्थ्य में विघ्न डालते हैं।

(४) वेदनीय के पुद्गल आत्मिक आनन्द को दबाते हैं, पौद्गलिक सुख और दुःख के कारण बनते हैं।

(५) नाम के पुद्गल अमूर्तिकता को दबाते हैं, मूर्तिकता—अच्छे, बुरे, शरीरादि के कारण बनते हैं।

(६) गोत्र के पुद्गल अगुरुलघुता—आत्म-साम्य को दबाते हैं, वैषम्य—छुटपन, बड़प्पन के कारण होते हैं।

(७) आयुष्य के पुद्गल शाश्वतिक स्थिति को दबाते हैं, जीवन और मरण के कारण बनते हैं।

(१) आहार संज्ञा

—खाने की अभिलाषा वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। यह मूल कारण है। इसको उत्तेजित करने वाले तीन गौण कारण और हैं :—

(१) रिक्त-कोष्ठता।

(२) आहार के दर्शन आदि से उत्पन्न मति।

(३) आहार सम्बन्धी चिन्तन।

(२) भय संज्ञा

भय की वृत्ति मोह कर्म के उदय से बनती है।

भय की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं :—

(१) हीन-सत्वता।

(२) भय के दर्शन आदि से उत्पन्न मति।

(३) भय सम्बन्धी चिन्तन।

(३) मैथुन संज्ञा

मैथुन की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है—

मैथुन की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

(१) मांस और रक्त का उपचय।

(२) मैथुन-सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति।

(३) मैथुन-सम्बन्धी चिन्तन।

(४) परिग्रह संज्ञा

परिग्रह की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है।

परिग्रह की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं :—

(१) अविमुक्तता।

(२) परिग्रह-सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति।

(३) परिग्रह-सम्बन्धी चिन्तन।

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ—ये सभी वृत्तियां मोह से बनती हैं। वीतराग-आत्मा में—ये वृत्तियां नहीं होतीं। ये आत्मा के सहज गुण नहीं किन्तु मोह के योग से होने वाले विकार हैं।

(५) ओघ संज्ञा

अनुकरण की प्रवृत्ति अथवा अव्यक्त चेतना या सामान्य-उपयोग, जैसे—लताएं वृक्ष पर चढ़ती हैं, यह वृक्षारोहण का ज्ञान 'ओघ-संज्ञा' है। लोक-संज्ञा—लौकिक कल्पनाएं अथवा व्यक्त चेतना या विशेष उपयोग [६३]।

आहार भय परिग्गह, मे हूण सुख दुःख मोह वितिगिच्छा।
कोह माण माय लोहे, सोगे लोगे य धम्मो हे॥—

(आचाराङ्ग निर्युक्ति ३९ गाथा १।१।१।१)

(१) आहार-संज्ञा	(६) मोह-संज्ञा	(११) लोभ-संज्ञा
(२) भय-संज्ञा	(७) विचिकित्सा-संज्ञा	(१२) शोक-संज्ञा
(३) परिग्रह-संज्ञा	(८) क्रोध-संज्ञा	(१३) लोक-संज्ञा
(४) मैथुन-संज्ञा	(९) मान-संज्ञा	(१४) धर्म-संज्ञा
(५) सुख-दुःख-संज्ञा	(१०) माया-संज्ञा	

ये संज्ञाएं एकेन्द्रिय जीवों से लेकर समनस्क पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों में होती हैं।

संवेदन दो प्रकार का होता है—इन्द्रिय-संवेदन और आवेग। इन्द्रिय

संवेदन दो प्रकार का होता है।

(१) सात-संवेदन·········सुखानुभूति

(२) असात-संवेदन······दुःखानुभूति[१४]

आवेग दो प्रकार का होता है :—

(१) कषाय (२) नो कषाय [१५]।

कषाय

आत्मा को रंगने वाली वृत्तियां—क्रोध, मान, माया, लोभ। ये तीव्र आवेग हैं। इनकी उत्पत्ति सहेतुक और निर्हेतुक दोनों प्रकार की होती है। जिस व्यक्ति ने प्रिय वस्तु का वियोग किया, करता है, करने वाला है, उसे देख क्रोध उभर आता है—यह सहेतुक क्रोध है [१६]। किसी बाहरी निमित्त के बिना केवल क्रोध-वेदनीय-पुद्गलों के प्रभाव से क्रोध उत्पन्न होता है, वह निर्हेतुक है [१७]।

नो कषाय

कषाय को उत्तेजित करने वाली वृतियां—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, घृणा, स्त्री-वेद (स्त्री-सम्बन्धी अभिलाषा), पुरुष-वेद, नपुंसक वेद। कई आवेग 'संज्ञा' में वर्गीकृत हैं और कई उनसे भिन्न हैं। ये सामान्य आवेग हैं—इनमें से हास्य आदि की उत्पत्ति सकारण और अकारण दोनों प्रकार की होती है। एक समय में एक ज्ञान और एक संवेदन होता है। समय की सूक्ष्मता से भिन्न-भिन्न संवेदनों के क्रम का पता नहीं चलता किन्तु दो संवेदन दो भिन्न काल में होते हैं।

उपयोग के दो प्रकार

चेतना दो प्रकार की होती है—साकार और अनाकार [१८]। वस्तुमात्र को जानने वाली चेतना अनाकार और उसकी विविध परिणतियों को जानने वाली चेतना साकार होती है। चेतना के—ये दो रूप उसके स्वभाव की दृष्टि से नहीं किन्तु विषय-ग्रहण की दृष्टि से बनते हैं। हम पहले अभेद, स्थूल रूप या अवयवी को जानते हैं, फिर भेदों को, सूक्ष्म रूपों या अवयवों को जानते हैं। अभेदग्राही चेतना में आकार, विकल्प या विशेष नहीं होते, इसलिए वह अनाकार या दर्शन कहलाती है। भेदग्राही चेतना में आकार, विकल्प या

विशेष होते हैं, इसलिए उसका नाम साकार या ज्ञान होता है।

अव्यक्त और व्यक्त चेतना

अनावृत चेतना व्यक्त ही होती है। आवृत चेतना दोनों प्रकार की होती है—मन रहित इन्द्रिय ज्ञान अव्यक्त होता है और मानस ज्ञान व्यक्त। सुप्त—मूर्च्छित आदि दशाओं में मन का ज्ञान भी अव्यक्त होता है, चंचल-दशा में वह अर्ध-व्यक्त भी होता है।

अव्यक्त चेतना को अध्यवसाय, परिणाम आदि कहा जाता है। अर्ध-व्यक्त चेतना का नाम है—हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा[६९]। यह दो इन्द्रियों वाले जीवों से लेकर अगर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में होती है। इसके द्वारा उनमें इष्ट-अनिष्ट की प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। व्यक्त मन के बिना भी इन प्राणियों में सम्मुख आना, वापिस लौटना, सिकुड़ना, फैलना, बोलना, करना और दौड़ना आदि-आदि प्रवृत्तियां होती हैं[७०]।

गर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में दीर्घकालिकी संज्ञा या मन होता है। वे त्रैकालिक और आलोचनात्मक विचार कर सकते हैं। सत्य की श्रद्धा या सत्य का आग्रह रखने वालों में सम्यग्-दृष्टि संज्ञा होती है। मानसिक ज्ञान का यथार्थ और पूर्ण विकास इन्हीं को होता है।

मानसिक विकास

मानसिक विकास चार प्रकार से होता है :—

(१) प्रतिभा, सहज बुद्धि या औत्पत्तिकी बुद्धि से।

(२) आत्म-संयम का अनुशासन—गुरु शुश्रूषा से उत्पन्न बुद्धि—'वैनयिकी बुद्धि' से।

(३) कार्य करते-करते मन का कौशल बढ़ता है—इसे 'कार्मिकी बुद्धि' कहा जाता है; इस बुद्धि से।

(४) आयु बढ़ने के साथ ही मन की योग्यता बढ़ती है। युवावस्था बीत जाने के बाद भी मानसिक उन्नति होती रहती है—इसका नाम है 'पारिणा-मिकी बुद्धि'; इस बुद्धि से।

मानसिक विकास सब समनस्क प्राणियों में समान नहीं होता। उसमें अनन्तगुण तरतमभाव होता है। दो समनस्क व्यक्तियों का ज्ञान परस्पर

अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण अधिक हो सकता है। इसका कारण उनकी आन्तरिक योग्यता, ज्ञानावरण के विलय का तारतम्य है।

बुद्धि का तरतमभाव

जिसमें शिक्षात्मक और क्रियात्मक अर्थ को ग्रहण करने की क्षमता होती है, वह 'समनस्क' होता है [७१]। बुद्धि समनस्कों में ही होती है। उसके सात प्रधान अङ्ग हैं :—

१—ग्रहण-शक्ति
२—विमर्श "
३—निर्णय "
४—धारणा[७२] "
५—स्मृति "
६—विश्लेषण "
७—कल्पना[७३] "

मन का शारीरिक ज्ञान-तन्तु के केन्द्रों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। ज्ञान-तन्तु प्रौढ़ नहीं बनते, तब तक बौद्धिक विकास पूरा नहीं होता। जैसे—शक्ति-प्रयोग के लिए शारीरिक विकास अपेक्षित होता है, वैसे ही बौद्धिक विकास के लिए ज्ञान-तन्तुओं की प्रौढ़ता। वह सोलह वर्ष तक पूरा हो जाता है। बाद में साधारणतया बौद्धिक विकास नहीं होता, केवल जानकारी बढ़ती है।

बुद्धि-शक्ति सबकी समान नहीं होती। उसमें विचित्र न्यूनाधिक्य होता है। विचित्रता का कारण अपना-अपना आवरण-विलय होता है। सब विचित्रताएँ बतायी नहीं जा सकतीं। उनके वर्गीकृत रूप बारह हैं, जो प्रत्येक बुद्धि-शक्ति के साथ सम्बन्ध रखते हैं :—

(१) बहु	ग्रहण	(५) क्षिप्र	ग्रहण
(२) अल्प	"	(६) चिर	"
(३) बहुविध	"	(७) निश्रित	"
(४) अल्पविध	"	(८) अनिश्रित	"

(९) संदिग्ध	"	(११) ध्रुव	"
(१०) असंदिग्ध	"	(१२) अध्रुव	"

इसी प्रकार विमर्श, निर्णय आदि के भी ये रूप बनते हैं। अवस्था के साथ बुद्धि का सम्बन्ध नहीं है। वृद्ध, युवा और बालक—ये भेद अवस्थाकृत हैं, बुद्धिकृत नहीं। जैसा कि आचार्य जिनसेन ने लिखा है—

"वर्षीयांसो यवीयांस, इति भेदो वयस्कृतः।"
न बोधवृद्धिर्वार्धक्ये, न यून्यपचयोधियः[७४]।

तुलना—फ्रेंच मनोवैज्ञानिक आल्फ्रेड बीने की बुद्धि माप की प्रणाली के अनुसार सात वर्ष का बच्चा जो बीस से एक तक गिनने में असमर्थ है, छह वर्ष की उम्र के बच्चों के निमित्त बनाये गए प्रश्नों का सही उत्तर दे सकता है तो उसकी बौद्धिक उम्र छह वर्षों की मानी जाएगी। इसके प्रतिकूल सात वर्ष की उम्र वाला बच्चा ९ वर्ष के बच्चों के लिए बनाये गए प्रश्नों का उत्तर दे सके तो उसकी बौद्धिक उम्र अवश्य ही नौ वर्ष की आंकी जाएगी।

मानसिक योग्यता के तत्त्व

मानसिक योग्यता या क्रियात्मक मन के चार तत्त्व हैं :—

(१) बुद्धि (२) उत्साह-इच्छा-शक्ति या संकल्प (३) उद्योग (४) भावना।

(१) बुद्धि[७५] :—इन्द्रिय और अर्थ के सहारे होने वाला मानसिक ज्ञान।

(२) उत्साह :—लब्धि—वीर्यान्तिराय—कार्यक्षमता की योग्यता में बाधा डालने वाले कर्म पुद्गल, के विलय से उत्पन्न सामर्थ्य—क्रिया-क्षमता।

(३) उद्योग :—करण-वीर्यान्तराय से उत्पन्न क्रियाशीलता।

(४) भावना :—पर-प्रभावित दशा।

बुद्धि का कार्य है विचार करना, सोचना, समझना, कल्पना करना, स्मृति, पहिचान, नये विचारों का उत्पादन, अनुमान करना आदि-आदि।

उत्साह का कार्य है—आवेश, स्फूर्ति या सामर्थ्य उत्पन्न करना।

उद्योग का कार्य है—सामर्थ्य का कार्यरूप में परिणमन।

भावना का कार्य है :—तन्मयता उत्पन्न करना।

चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियाँ

चेतना का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी सर्व मान्य दो प्रवृत्तियां हैं—इन्द्रिय और मन। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक और अनालोचनात्मक होता है। इसलिए उसकी प्रवृत्तियां बहुमुखी नहीं होतीं। मनस् का ज्ञान त्रैकालिक और आलोचनात्मक होता है। इसलिए उसकी अनेक अवस्थाएं बनती हैं :—

संकल्प :—बाह्य पदार्थों में ममकार।

विकल्प :—हर्ष-विषाद का परिणाम—मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी आदि।

निदान :—भौतिक सुख के लिए उत्कट अभिलाषा या प्रार्थना।

स्मृति :—दृष्ट श्रुत और अनुभूति आदि विषयों की याद।

जाति-स्मृति :—पूर्व जन्म की याद।

प्रत्यभिज्ञा :—पहिचान।

कल्पना :—तर्क, अनुमान, भावना, कषाय, स्वप्न।

श्रद्धान :—सम्यक् या मिथ्या मानसिक रुचि।

लेश्या :—शुभ या अशुभ मानसिक परिणाम।

ध्यान[७६] :— मानसिक एकाग्रता आदि-आदि।

इनमें स्मृति, जाति-स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान—ये विशुद्ध ज्ञान की दशाएं हैं। शेष दशाएं कर्म के उदय या विलय से उत्पन्न होती हैं। संकल्प, विकल्प, निदान, कषाय और स्वप्न—ये मोह-प्रभावित चेतना के चिन्तन हैं। भावना, श्रद्धान, लेश्या और ध्यान—ये मोह-प्रभावित चेतना में उत्पन्न होते हैं तब असत् और मोह-शून्य चेतना में उत्पन्न होते हैं तब सत् बन जाते हैं।

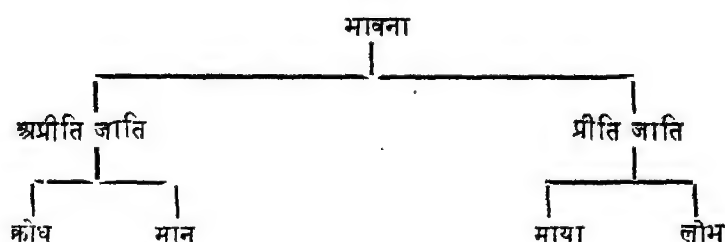
स्वप्न-विज्ञान

फ्रायड के अनुसार स्वप्न मन में की हुई इच्छाओं के परिणाम हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार स्वप्न मोह-कर्म और पूर्व-संस्कार के उद्‌बोध के परिणाम हैं। वे यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के होते हैं[७७]। समाधि और असमाधि—इन दोनों के निमित्त बनते हैं[७८]। किन्तु वे मोह प्रभावित चैतन्य-दशा में ही उत्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं[७९]।

स्वप्न-ज्ञान का विषय पहले दृष्ट, श्रुत, अनुभूत वस्तु ही होती है।

स्वप्न अर्ध-निद्रित दशा में आता है[८०]। यह नींद का परिणाम नहीं किन्तु इसे नींद के साहचर्य की आवश्यकता होती है। जागृत दशा में जैसे वस्तु—अनुसारी ज्ञान और कल्पना दोनों होते हैं, वैसे ही स्वप्न-दशा में भी अतीत की स्मृति, भविष्य की सत्-कल्पना और असत्-कल्पना ये सब होते हैं। स्वप्न-विज्ञान मानसिक ही होता है।

भावना



भावना की दो जातियां हैं—(१) अप्रीति (२) प्रीति।

अप्रीति के दो भेद हैं—क्रोध, मान।

प्रीति के दो भेद हैं—माया, लोभ।

अप्रीति जाति की सामान्य दृष्टि से क्रोध और मान द्वेष है। प्रीति जाति की सामान्य दृष्टि से माया और लोभ राग है।

व्यवहार की दृष्टि से क्रोध और मान द्वेष है। दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए माया का प्रयोग होता है, वह भी द्वेष है। लोभ मूर्च्छात्मक है, इसलिए वह राग है

ऋजुसूत्र की दृष्टि से क्रोध अप्रीतिरूप है, इसलिए द्वेष है। मान, माया और लोभ कदाचित् राग और कदाचित् द्वेष होते हैं। मान अहंकारोपयोगात्मक होता है, अपने बहुमान की भावना होती है, तब वह प्रीति की कोटि में जाकर राग बन जाता है और पर गुण-द्वेषोपयोगात्मक होता है, तब अप्रीति की कोटि में जा वही द्वेष बन जाता है। दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए माया और लोभ प्रयुक्त होते हैं, तब वे अप्रीति रूप बन द्वेष की कोटि में चले जाते हैं। अपने धन, शरीर आदि की सुरक्षा या पोषण के लिए प्रयुक्त होते हैं, तब वे मूर्च्छात्मक होने के कारण राग बन जाते हैं।

शाब्दिक दृष्टि से दो ही वृत्तियां हैं[८१] (१) लोभ या राग, (२) क्रोध या द्वेष।

मान और माया जब स्वहित-उपयोगात्मक होते हैं, तब मूर्च्छात्मक होने से लोभ और लोभ होने से राग बन जाते हैं। वे परोपघात-उपयोगात्मक होते हैं, तब घृणात्मक होने से क्रोध और क्रोध होने से द्वेष बन जाते हैं[८२]।

यह वैभाविक या मोह-प्रभावित भावना का रूप है। मोहशून्य या स्वाभाविक भावना के सोलह प्रकार हैं—

(१) अनित्य-चिन्तन	(९) निर्जरा-चिन्तन
(२) अशरण-चिन्तन	(१०) धर्म-चिन्तन
(३) भव-चिन्तन	(११) लोक-व्यवस्था चिन्तन
(४) एकत्व-चिन्तन	(१२) बोधि दुर्लभता-चिन्तन
(५) अन्यत्व-चिन्तन	(१३) मैत्री-चिन्तन
(६) अशौच चिन्तन	(१४) प्रमोद-चिन्तन
(७) आस्रव-चिन्तन	(१५) कारुण्य-चिन्तन
(८) संवर-चिन्तन	(१६) माध्यस्थ्य-चिन्तन[८३]

श्रद्धान

श्रद्धा को विकृत करने वाले कर्म-पुद्गल चेतना को प्रभावित करते हैं, तब तात्विक धारणाएं मिथ्या बन जाती हैं। असत्य का आग्रह[८४] या आग्रह के बिना भी असत्य की धारणाएं जो बनती हैं[८५], वे सहज ही नहीं होतीं। केवल वातावरण से ही वे नहीं बनतीं। उनका मूल कारण श्रद्धा मोहक पुद्गल हैं। जिसकी चेतना इन पुद्गलों से प्रभावित नहीं होती, उनमें असत्य का आग्रह नहीं होता। यह स्थिति नैसर्गिक और शिक्षा-लभ्य दोनों प्रकार की होती है।

लेश्या

हमारे कार्य विचारों के अनुरूप और विचार चारित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गलों के प्रभाव और अप्रभाव के अनुरूप बनते हैं। कर्म-पुद्गल हमारे कार्यों और विचारों को भीतर से प्रभावित करते हैं, तब बाहरी पुद्गल उनके सहयोगी बनते हैं। ये विविध रंग वाले होते हैं। कृष्ण, नील और कापोत—इन

तीन रंगों वाले पुद्गल विचारों की अशुद्धि के निमित्त बनते हैं। तेजस्, पद्म और श्वेत—ये तीन पुद्गल विचारों की शुद्धि में सहयोग देते हैं। पहले वर्ग के रंग विचारों की अशुद्धि के कारण बनते हैं, यह प्रधान बात नहीं है किन्तु चारित्र मोह-प्रभावित विचारों के सहयोगी जो बनते हैं, वे कृष्ण, नील और कापोत रंग के पुद्गल ही होते हैं—प्रधान बात यह है। यही बात दूसरे वर्ग के रंगों के लिए है।

ध्यान

मन या वृत्तियों के केन्द्रीकरण की भी दो स्थितियाँ होती हैं :—

(१) विभावोन्मुख (२) स्वभावोन्मुख

(क) प्रिय वस्तु का वियोग होने पर फिर उसके संयोग के लिए

(ख) अप्रिय वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए—जो एकाग्रता होती है, वह व्यक्ति को आर्त्त—दुःखी बनाती है।

(ग) विषय—वासना की सामग्री के संरक्षण के लिए—

(घ) हिंसा के लिए—

(ङ) असत्य के लिए—

(च) चौर्य के लिए—

—होने वाली एकाग्रता व्यक्ति को क्रूर बनाती है—इसलिए मन का यह केन्द्रीकरण विभावोन्मुख है।

(क) सत्यासत्य विवेक के लिए :—

(ख) दोष-मुक्ति के लिए :—

(ग) कर्म-मुक्ति के लिए :—

—होने वाली एकाग्रता व्यक्ति को आत्म निष्ठ बनाती है—इसलिए वह स्वभावोन्मुख है।

तीसरा खण्ड

प्रमाण मीमांसा

न्याय और न्याय शास्त्र

मीमांसा की व्यवस्थित पद्धति अथवा प्रमाण की मीमांसा का नाम न्याय—तर्क विद्या है।

न्याय का शाब्दिक अर्थ[1] है—प्राप्ति' और पारिभाषिक अर्थ है—"युक्ति के द्वारा पदार्थ—प्रमेय—वस्तु की परीक्षा करना[2]।" एक वस्तु के बारे में अनेक विरोधी विचार सामने आते हैं, तब उनके बलाबल का निर्णय करने के लिए जो विचार किया जाता है, उसका नाम परीक्षा है[3]।

'क' के बारे में इन्द्र का विचार सही है और चन्द्र का विचार गलत है, यह निर्णय देने वाले के पास एक पुष्ट आधार होना चाहिए। अन्यथा उसके निर्णय का कोई मूल्य नहीं हो सकता। 'इन्द्र' के विचार को सही मानने का आधार यह हो सकता है कि उसकी युक्ति (प्रमाण) में साध्य-साधन की स्थिति अनुकूल हो, दोनों (साध्य-साधन) में विरोध न हो। 'इन्द्र' की युक्ति के अनुसार 'क' एक अक्षर (साध्य) है क्योंकि उसके दो टुकड़े नहीं हो सकते।

'चन्द्र' के मतानुसार 'ए' भी अक्षर है। क्योंकि वह वर्ण-माला का एक अंग है, इसलिए 'चन्द्र' का मत गलत है। कारण, इसमें साध्य-साधन की संगति नहीं है। 'ए' वर्ण-माला का अंग है फिर भी अक्षर नहीं है। वह 'अ+इ' के संयोग से बनता है, इसलिए संयोगज वर्ण है।

न्याय-पद्धति की शिक्षा देने वाला शास्त्र 'न्याय-शास्त्र' कहलाता है। इसके मुख्य अंग चार हैं[4]—

१—तत्त्व की मीमांसा करने वाला—प्रमाता (आत्मा)

२—मीमांसा का मानदण्ड—प्रमाण (यथार्थ ज्ञान)

३—जिसकी मीमांसा की जाए—प्रमेय (पदार्थ)

४—मीमांसा का फल—प्रमिति (हेय उपादेय-मध्यस्थ-बुद्धि)

न्याय शास्त्र की उपयोगिता

प्राणी मात्र में अनन्त चैतन्य होता है। यह सत्तागत समानता है। विकास की अपेक्षा उसमें तारतम्य भी अनन्त होता है। सब से अधिक

विकासशील प्राणी मनुष्य है। वह उपयुक्त सामग्री मिलने पर चैतन्य विकास की चरम सीमा केवल-ज्ञान तक पहुँच सकता है। इससे पहली दशाओं में भी उसे बुद्धि-परिष्कार के अनेक अवसर मिलते हैं।

मनुष्य जाति में स्पष्ट अर्थ बोधक भाषा और लिपि-संकेत—ये दो ऐसी विशेषताएं हैं, जिनके द्वारा उसके विचारों का स्थिरीकरण और विनिमय होता है।

स्थिरीकरण का परिणाम है साहित्य-वाङ्मय और विनिमय का परिणाम है आलोचना।

ज्यों-ज्यों मनुष्य की ज्ञान, विज्ञान की परम्परा आगे बढ़ती है, त्यों-त्यों साहित्य अनेक दिशागामी बनता चला जाता है।

जैन वाङ्मय में साहित्य की शाखाएं चार हैं—

(१) चरणकरणानुयोग—आचार-मीमांसा—उपयोगितावाद या कर्तव्य-वाद (कर्तव्य-अकर्तव्य-विवेक) यह आध्यात्मिक पद्धति है।

(२) धर्मकथानुयोग—आत्म-उद्‌बोधनशिक्षा (रूपक, दृष्टान्त और उपदेश)

(३) गणितानुयोग···गणितशिक्षा।

(४) द्रव्यानुयोग···अस्तित्ववाद या वास्तविकतावाद।

तर्क-मीमांसा और वस्तु-स्वरूप-शास्त्र आदि का समावेश इसमें होता है। यह दार्शनिक पद्धति है। यह दस प्रकार का है—

(१) द्रव्यानुयोग—द्रव्य का विचार।

जैसे—द्रव्य गुण-पर्यायवान् होता है। जीव में ज्ञान, गुण और सुख दुःख आदि पर्याय मिलते हैं, इसलिए वह द्रव्य है।

(२) मातृकानुयोग—सत् का विचार।

जैसे—द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त होने के कारण सत् होता है। जीव-स्वरूप की दृष्टि से ध्रुव होते हुए भी पर्याय की दृष्टि से उत्पाद-व्यय-धर्म वाला है, इसलिए वह सत् है।

(३) एकार्थिकानुयोग—एक अर्थ वाले शब्दों का विचार।

जैसे—जीव, प्राणी, भूत, सत्त्व आदि-आदि जीव के पर्यायवाची नाम हैं।

(४) करणानुयोग—साधन का विचार (साधकतम पदार्थ-मीमांसा)

जैसे—जीव काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ पाकर कार्य में प्रवृत्त होता है।

(५) अर्पितानर्पितानुयोग—मुख्य और गौण का विचार (भेदाभेद-विवक्षा)

जैसे—जीव अभेद-दृष्टि से जीव मात्र है और भेद-दृष्टि की अपेक्षा वह दो प्रकार का है—बद्ध और मुक्त। बद्ध के दो भेद हैं—(१) स्थावर (२) त्रस, आदि-आदि।

(६) भाविताभावितानुयोग—अन्य से प्रभावित और अप्रभावित विचार।

जैसे—जीव की अजीव द्रव्य या पुद्गल द्रव्य प्रभावित अशुद्ध दशाएं, पुद्गल मुक्त स्थितियां शुद्ध दशाएं।

(७) बाह्याबाह्यानुयोग—सादृश्य और वैसादृश्य का विचार।

जैसे—सचेतन जीव अचेतन आकाश से बाह्य (विसदृश) है और आकाश की भांति जीव अमूर्त्त है, इसलिए वह आकाश से अबाह्य (सदृश) है।

(८) शाश्वताशाश्वतानुयोग—नित्यानित्य विचार। जैसे—द्रव्य की दृष्टि से जीव अनादि-निधन है, पर्याय की दृष्टि से वह नए-नए पर्यायों में जाता है।

(९) तथाज्ञानअनुयोग—सम्यग् दृष्टि जीव का विचार।

(१०) अतथाज्ञानअनुयोग—असम्यग् दृष्टि जीव का विचार [५]।

एक विषय पर अनेक विचारकों की अनेक मान्यताएं अनेक निगमन—निष्कर्ष होते हैं। जैसे—आत्मा के बारे में—

अक्रियावादी-नास्तिक···आत्मा नहीं है।

क्रियावादी—आस्तिक दर्शनों में :—

(१) जैन—आत्मा चेतनावान्, देह-परिमाण, परिणामी—नित्यानित्य, शुभ अशुभ कर्म-कर्ता, फल-भोक्ता और अनन्त हैं।

(२) बौद्ध—क्षणिक चेतनाप्रवाह के अतिरिक्त आत्मा और कुछ नहीं है।

(३) नैयायिक वैशेषिक—आत्मा कूटस्थ नित्य, अपरिणामी, अनेक और व्यापक हैं।

(४) सांख्य—आत्मा अकर्ता, निष्क्रिय, भोक्ता, बहु और व्यापक है।

यहाँ वास्तविक निष्कर्ष की परीक्षा के लिए बुद्धि में परिष्कार चाहिए। इस बौद्धिक परिष्कार का साधन न्याय-शास्त्र है। यह बुद्धि को अर्थसिद्धि के योग्य बनाता है। फलितार्थ में बुद्धि को अर्थसिद्धि के योग्य बनाना, यही न्याय-शास्त्र की उपयोगिता है।

अर्थसिद्धि के तीन रूप

उद्देश्य से कार्य का आरम्भ होता है और सिद्धि से अन्त। उद्देश्य और सिद्धि एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। उद्देश्य की सिद्धि के लिए क्रिया चलती है और उसकी सिद्धि होने पर क्रिया रुक जाती है। प्रत्येक सिद्धि (निवृत्ति-क्रिया) के साथ निर्माण, प्राप्ति या निर्णय—इन तीनों में से एक अर्थ अवश्य जुड़ा रहता है, इसलिए अर्थसिद्धि के तीन रूप बनते हैं[१]—

(१) असत् का प्रादुर्भाव (निर्माण) मिट्टी से घड़े का निर्माण। मिट्टी के ढेर में पहले जो घड़ा नहीं था, वह बाद में बना, यह असत् का प्रादुर्भाव है। अर्थ की सिद्धि है एक 'घड़ा' नामक वस्तु की उत्पत्ति।

(२) अभिलषित वस्तु की प्राप्ति। प्यास लग रही है। पानी पीने की इच्छा है। पानी मिल जाना, यह सत् वस्तु की प्राप्ति है।

(३) भावज्ञप्ति—अर्थ—वस्तु के स्वरूप का निर्णय। यह सत् पदार्थ की निश्चित जानकारी या बौद्धिक प्राप्ति है।

इनमें (१) असत् की उत्पत्ति और (२) सत् की प्राप्ति से न्याय-शास्त्र

का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। न्याय-शास्त्र का क्षेत्र सत् के स्वरूप की निश्चिति है [७]। परम्परकारण के रूप में इष्टवस्तु की प्राप्ति भी प्रमाण का फल माना जा सकता है [८]।

जैन न्याय का उद्गम और विकास

जैन तत्त्ववाद प्राग्-ऐतिहासिक है। इसका सम्बन्ध युग के आदि-पुरुष भगवान् ऋषभनाथ से जुड़ता है। भारतीय साहित्य में भगवान् ऋषभनाथ के अस्तित्व-साधक प्रमाण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं [९]। जैन-साहित्य में जो तत्त्ववाद हमें आज मिलता है, वह अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर की उपदेश-गाथाओं से सम्बद्ध है। फिर भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन सूत्र भगवान् ऋषभनाथ और भगवान् महावीर के तत्त्ववाद की एकता का समर्थन करते हैं [१०]। भगवान् महावीर ने उन्हीं तत्त्वों का उपदेश किया, जो भगवान् ऋषभनाथ ने बतलाए थे। जैन दर्शन का नामकरण भी इसी का पोषक है। इसका किसी व्यक्ति के नाम से सम्बन्ध नहीं। अविच्छिन्न परम्परा के रूप में यह चलता आ रहा है।

निर्ग्रन्थ प्रवचन, आर्हत् दर्शन, जैन दर्शन—इस प्रकार नाम-क्रम बदलने पर भी सभी नाम गुणात्मक रहे, किसी व्यक्ति विशेष से नहीं जुड़े। निर्ग्रन्थ, अर्हत् और जिन—ये नाम सभी तीर्थंकरों के हैं, किसी एक तीर्थंकर के नहीं। इसलिए परम्परा की दृष्टि से जैन तत्त्ववाद प्राग्-ऐतिहासिक और तद्विषयक उपलब्ध साहित्य की अपेक्षा वह भगवान् महावीर का उपदेश है। इस दृष्टि से उपलब्ध जैन न्याय के उद्गम का समय विक्रम पूर्व ५ वीं शताब्दी है। बादरायण ने ब्रह्मसूत्र (२।२।३३) में स्याद्वाद में विरोध दिखाने का प्रयत्न किया है। बादरायण का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी है। इससे भी जैन न्याय-परम्परा की प्राचीनता सिद्ध होती है। जैन आगम-सूत्रों में स्थान-स्थान पर न्याय के प्राणभूत अंगों का उल्लेख मिलता है। उनके आधार पर जैन-विचार-पद्धति की रूपरेखा और मौलिकता सहज समझी जा सकती है।

जैन न्याय की मौलिकता

'जैन न्याय मौलिक है' इसे समझने के लिए हमें 'जैन आगमों में तर्क का क्या स्थान है'—इस पर दृष्टि डालनी होगी।

कथा तीन प्रकार की होती है[११]—(१) अर्थ-कथा (२) धर्म-कथा (३) काम-कथा [१२]। धर्म-कथा के चार भेद हैं [१३]। उनमें दूसरा भेद है—विक्षेपणी। इसका तात्पर्य है—धर्म-कथा करने वाला मुनि (१) अपने सिद्धान्त की स्थापना कर पर सिद्धान्त का निराकरण करे [१४]। अथवा (२) पर सिद्धान्त का निराकरण कर अपने सिद्धान्त की स्थापना करे। (३) पर सिद्धान्त के सम्यग्वाद को बताकर उसके मिथ्यावाद को बताए अथवा (४) पर सिद्धान्त के मिथ्यावाद को बताकर उसके सम्यग्वाद को बताए।

तीन प्रकार की वक्तव्यता[१५]—

(१) स्व सिद्धान्त-वक्तव्यता।

(२) पर सिद्धान्त-वक्तव्यता।

(३) उन दोनों की वक्तव्यता।

स्व सिद्धान्त की स्थापना और पर सिद्धान्त का निराकरण वाद विद्या में कुशल व्यक्ति ही कर सकता है।

भगवान् महावीर के पास समृद्धवादी सम्पदा थी। चार सौ मुनि वादी थे [१६]।

नौ निपुण पुरुषों में वादी को निपुण (सूक्ष्म ज्ञानी) माना गया है [१७]।

भगवान् महावीर ने आहरण (दृष्टान्त) और हेतु के प्रयोग में कुशल साधु को ही धर्म-कथा का अधिकारी बताया है [१८]।

इसके अतिरिक्त चार प्रकार के आहरण और उसके चार दोष, चार प्रकार के हेतु, छह प्रकार के विवाद, दस प्रकार के दोष, दस प्रकार के विशेष, आदेश (उपचार) आदि-आदि कथाङ्गों का प्रचुर मात्रा में निरूपण मिलता है।

तर्क-पद्धति के विकीर्ण बीज जो मिलते हैं, उनका व्यवस्थित रूप क्या था, यह समझना सुलभ नहीं किन्तु इस पर से इतना निश्चित कहा जा सकता है कि जैन परम्परा के आगम-युग में भी परीक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। कई तीर्थिक जीव-हिंसात्मक प्रवृत्तियों से 'सिद्धि' की प्राप्ति बताते हैं, उनके इस

अभिमत को 'अपरीक्ष्य दृष्ट' कहा गया है [१९]। "सत्-असत् की परीक्षा किये बिना अपने दर्शन की श्लाघा और दूसरे दर्शन की गर्हा कर स्वयं को विद्वान् समझने वाले संसार से मुक्ति नहीं पाते [२०]।" इसलिए जैन परीक्षा-पद्धति का यह प्रधान पाठ रहा है कि "स्व पक्ष-सिद्धि और पर पक्ष की असिद्धि करते समय आत्म-समाधि वाले मुनि को 'बहुगुण प्रकल्प' के सिद्धान्त को नहीं भूलना चाहिए। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय और निगमन अथवा मध्यस्थ वचन (निष्पक्ष वचन) ये बहु गुण का सर्जन करने वाले हैं। वादकाल में अथवा साधारण वार्तालाप में मुनि ऐसे हेतु आदि का प्रयोग करे, जिससे विरोध न बढ़े—हिंसा न बढ़े [२१]।"

वादकाल में हिंसा से बचाव करते हुए भी तत्त्व-परीक्षा के लिए प्रस्तुत रहते, तब उन्हें प्रमाण-मीमांसा की अपेक्षा होती, यह स्वयं गम्य होता है।

जैन-साहित्य दो भागों में विभक्त है—(१) आगम और (२) ग्रन्थ।

आगम के दो विभाग हैं—अंग और अंग अतिरिक्त-उपांग।

अंग स्वतः प्रमाण है [२२]। अंग-अतिरिक्त साहित्य वही प्रमाण होता है, जो अंग-साहित्य का विसंवादी नहीं होता।

केवली, अवधि ज्ञानी, मनः पर्यव ज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, दशपूर्वधर और नवपूर्वधर (दशवें पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु सहित) ये आगम कहलाते हैं [२३]। उपचार से इनकी रचना को भी 'आगम' कहा जाता है [२४]।

अन्य स्थविर या आचार्यों की रचनाओं की संज्ञा 'ग्रन्थ' है। इनकी प्रामाणिकता का आधार आगम की अविसंवादकता है।

अंग-साहित्य की रचना भगवान् महावीर की उपस्थिति में हुई। भगवान् के निर्वाण के बाद इनका लघु-करण और कई आगमों का संकलन और संग्रहण हुआ। इनका अन्तिम स्थिर रूप विक्रम की ५ वीं शताब्दी से है।

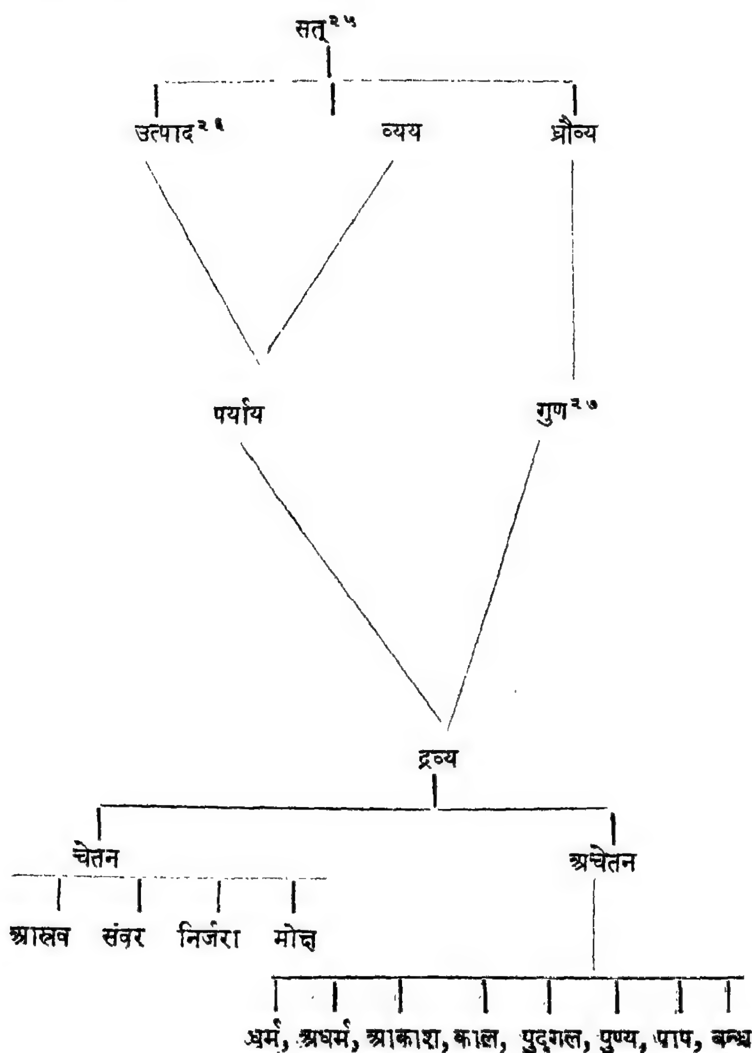
आगम-साहित्य के आधार पर प्रमाण-शास्त्र की रूप-रेखा इस प्रकार बनती है—

१—प्रमेय—सत्।

सत् के तीन रूप हैं—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य। उत्पाद और व्यय की समष्टि—पर्याय।

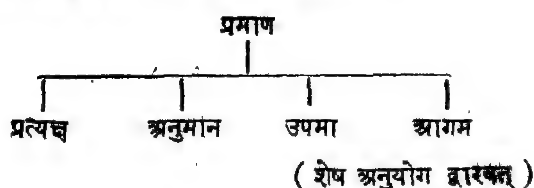
ध्रौव्य—गुण।

गुण और पर्याय की समष्टि—द्रव्य।



२—प्रमाण—यथार्थ ज्ञान या व्यवसाय।

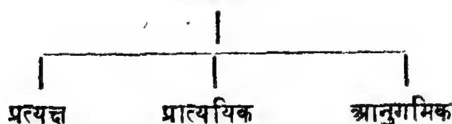
[भगवती के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था [२८]]



(शेष अनुयोग द्वारवत्)

[स्थानाङ्ग सूत्र के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था]

व्यवसाय[२९]



अथवा—(द्वितीय प्रकार [३०])

ज्ञान दो प्रकार का होता है—१—प्रत्यक्ष २—परोक्ष

प्रत्यक्ष के दो भेद···१—केवल-ज्ञान २—नो केवल-ज्ञान

केवल-ज्ञान के दो भेद···१—भवस्थ केवल-ज्ञान २—सिद्ध केवल-ज्ञान

भवस्थ केवल-ज्ञान के दो भेद···१—संयोगि-भवस्थ केवल ज्ञान
२—अयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान

संयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान के दो भेद—

(१) प्रथम समय संयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान
(२) अप्रथम समय संयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान

अथवा—[१] चरम समय संयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान
[२] अचरम समय संयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान

अयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान के दो भेद···(१) प्रथम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान
(२) अप्रथम समय अयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान।

अथवा—(१) चरम समय अयोगि-भवस्थ-केवल-ज्ञान

(२) अचरम समय अयोगि-भवस्थ केवल-ज्ञान

सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद............(१) अनन्तर सिद्ध केवल-ज्ञान
(२) परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान

अनन्तर सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद......(१) एकान्तर सिद्ध केवल-ज्ञान
(२) अनेकान्तर सिद्ध-केवल-ज्ञान

परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान के दो भेद......(१) एक परम्पर-सिद्ध केवल-ज्ञान
(२) अनेक परम्परसिद्ध-केवल-ज्ञान

नो केवल ज्ञान के दो भेद...............(१) अवधि-ज्ञान (२) मनः-पर्यव ज्ञान

अवधि ज्ञान के दो भेद..............(१) भव-प्रप्रात्ययिक
(२) क्षायोपशमिक

मनः पर्यव के दो भेद...............(१) ऋजुमति (२) विपुलमति

परोक्ष ज्ञान के दो भेद..............(१) आभिनिबोधिक ज्ञान
(२) श्रुतज्ञान

आभिनिबोधिक ज्ञान के दो भेद.........(१) श्रुत-निश्रित (२) अश्रुत-निश्रित

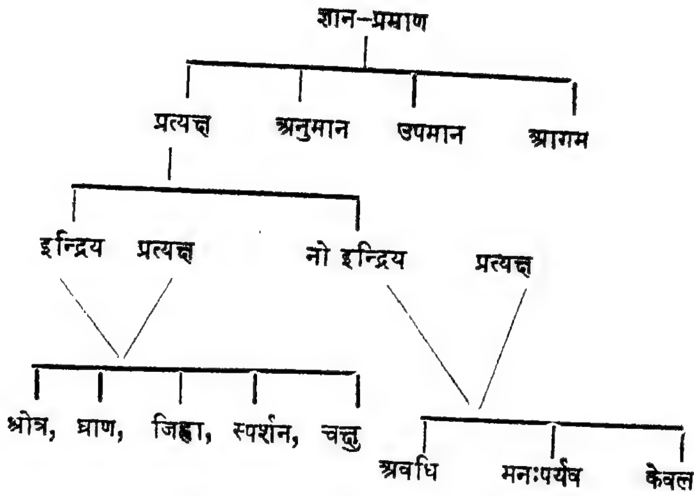
श्रुत-निश्रित के दो भेद...............(१) अर्थावग्रह (२) व्यञ्जनावग्रह

अश्रुत-निश्रित के दो भेद...............(१) अर्थावग्रह (२) व्यञ्जनावग्रह

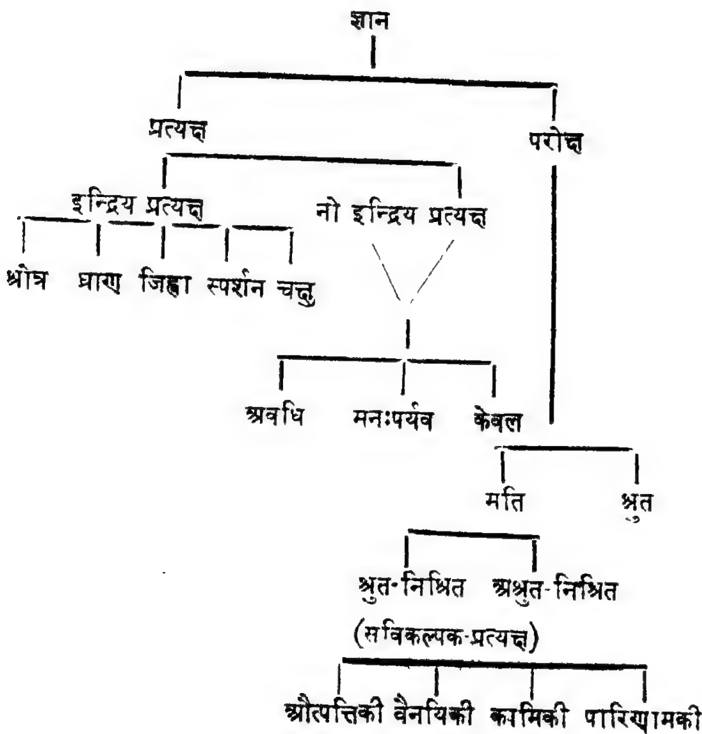
अथवा—तृतीय प्रकार[३१]

हेतु
- प्रत्यक्ष
- परोक्ष
- अनुमान
- आगम

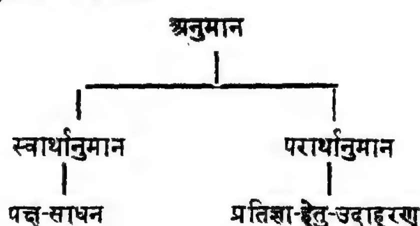
(अनुयोग[३२] द्वार के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)



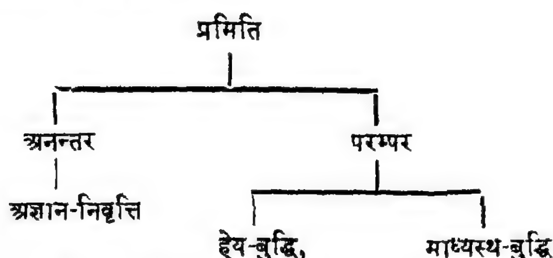
(नन्दी सूत्र के आधार पर प्रमाण-व्यवस्था)



अनुमान का परिवार :—



३—प्रमिति-प्रमाण फल :—



४—प्रमाता—ज्ञाता—आत्मा।

५—विचार-पद्धति—अनेकान्त-दृष्टि—

प्रमेय का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए सत्-असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष, निर्वचनीय-अनिर्वचनीय आदि विरोधी धर्म-युगलों का एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद से स्वीकार।

६—वाक्य-प्रयोग—स्याद्वाद और सद्वाद :—

(क) स्याद्वाद—अखण्ड वस्तु का अपेक्षा-दृष्टि से एक धर्म को मुख्य और शेष सब धर्मों को उसके अन्तर्हित कर प्रतिपादन करने वाला वाक्य 'प्रमाण वाक्य' है। इसके तीन रूप हैं :—(१) स्यात्-अस्ति (२) स्यात्-नास्ति। (३) स्यात्-अवक्तव्य।

(ख) सद्वाद—वस्तु के एक धर्म का प्रतिपादन करने वाला वाक्य 'नय-वाक्य' है। इसके सात भेद हैं—(१) नैगम (२) संग्रह (३) व्यवहार (४) ऋजुसूत्र (५) शब्द (६) समभिरूढ़ (७) एवम्भूत।

हेतु

चार प्रकार के हेतु[२२] :—

(१) विधि-साधक   विधि है।

(२) निषेध-साधक विधि-हेतु ।

(३) विधि-साधक निषेध हेतु ।

(४) निषेध-साधक निषेध-हेतु ।

द्वितीय प्रकार :—

चार प्रकार के हेतु[३४] :—

(क) यापक—समय यापक हेतु । विशेषण-बहुल, जिसे प्रतिवादी शीघ्र न समझ सके ।

(ख) स्थापक—प्रसिद्ध-व्याप्तिक साध्य को शीघ्र स्थापित करने वाला हेतु ।

(ग) व्यंसक—प्रतिवादी को छल में डालने वाला हेतु ।

(घ) लूषक—व्यंसक से प्राप्त आपत्ति को दूर करने वाला हेतु ।

आहरण

चार प्रकार के आहरण[३५]—

(क) अपाय :—हेयधर्म का ज्ञापक दृष्टान्त ।

(ख) उपाय :—ग्राह्य वस्तु के उपाय बताने वाला दृष्टान्त ।

(ग) स्थापना कर्म—स्वाभिमत की स्थापना के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला दृष्टान्त ।

(घ) प्रत्युत्पन्न-विनाश :—उत्पन्न दूषण का परिहार करने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला दृष्टान्त ।

आहरण के दोष

चार प्रकार के आहरण—दोष[३६] :—

(क) अधर्मयुक्त :—अधर्मबुद्धि उत्पन्न करने वाला दृष्टान्त ।

(ख) प्रतिलोम :—अपसिद्धान्त का प्रतिवादक दृष्टान्त ।

अथवा—"शठे शाठ्यं समाचरेत्"—ऐसी प्रतिकूलता की शिक्षा देने वाला दृष्टान्त ।

(ग) आत्मोपनीत :—परमत में दोष दिखाने के लिए दृष्टान्त रखना, जिससे स्वमत दूषित बन जाए ।

(घ) दुरुपनीत :—दोषपूर्ण निगमन वाला दृष्टान्त ।

वाद के दोष[३७]

(१) तज्जात दोष—वादकाल में आचरण आदि का दोष बताना अथवा प्रतिवादी से क्षुब्ध होकर मौन हो जाना।

(२) मतिभंग दोष—तत्त्व की विस्मृति हो जाना।

(३) प्रशास्तृ दोष—सभानायक या सभ्य की ओर से होने वाला प्रमाद।

(४) परिहरण दोष—अपने दर्शन की मर्यादा या लोक-रूढ़ि के अनुसार अनासेव्य का आसेवन करना अथवा आसेव्य का आसेवन नहीं करना अथवा वादी द्वारा उपन्यस्त हेतु का सम्यक् प्रतिकार न करना।

(५) स्वलक्षण दोष—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असम्भव।

(६) कारण-दोष—कारण ज्ञात न होने पर पदार्थ को अहेतुक मान लेना।

(७) हेतु-दोष—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक।

(८) संक्रामण-दोष—प्रस्तुत प्रमेय में अप्रस्तुत प्रमेय का समावेश करना अथवा परमत का अज्ञान जिस तत्त्व को स्वीकार नहीं करता उसे उसका मान्य तत्त्व बतलाना।

(९) निग्रह-दोष :—छल आदि से निगृहीत हो जाना।

(१०) वस्तु दोष (पक्ष-दोष) १—प्रत्यक्षनिराकृत—शब्द अश्रावण है।

२—अनुमान ,, शब्द नित्य है।

३—प्रतीति ,, शशी अचन्द्र है।

४—स्व वचन ,, मैं कहता हूँ, वह मिथ्या है।

५—लोकरूढ़ि ,, मनुष्य की खोपड़ी पवित्र है।

विवाद[३८]

(१) अपसरण—अवसर लाभ के लिए येन-केन प्रकारेण समय बिताना।

(२) उत्सुकीकरण—अवसर मिलने पर उत्सुक हो जय के लिए वाद करना।

(३) अनुलोमन—विवादाध्यक्ष को 'साम' आदि नीति के द्वारा अनुकूल बनाकर अथवा कुछ समय के लिए प्रतिवादी का पक्ष स्वीकार कर उसे अनुकूल बनाकर वाद करना।

(४) प्रतिलोमन—सर्व-सामर्थ्य-दशा में विवादाध्यक्ष अथवा प्रतिवादी को प्रतिकूल बनाकर, वाद करना।

(५) संसेवन—अध्यक्ष को प्रसन्न रख वाद करना।

(६) मिश्रीकरण या भेदन—निर्णय दाताओं में अपने समर्थकों को मिश्रित करके अथवा उन्हें (निर्णय दाताओं को) प्रतिवादी का विरोधी बनाकर वाद करना।

प्रमाण व्यवस्था का आगमिक आधार

(१) प्रमेय :—

प्रमेय अनन्त धर्मात्मक होता है। इसका आधार यह है कि वस्तु में अनन्त-पर्यव होते हैं।

(२) प्रमाण :—

प्रमाण की परिभाषा है—व्यवसायी ज्ञान या यथार्थ ज्ञान। इनमें पहली का आधार स्थानाङ्ग (३-३-१८५) का 'व्यवसाय' शब्द है। दूसरी का आधार ज्ञान और प्रमाण का पृथक्-पृथक् निर्देशन है। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है, इसलिए ज्ञान सामान्य के निरूपण में ज्ञान पांच बतलाये हैं [३९]।

प्रमाण यथार्थ ज्ञान ही होता है। इसलिए यथार्थ ज्ञान के निरूपण में वे दो बन जाते हैं [४०]। प्रत्यक्ष और परोक्ष।

(३) अनुमान का परिवार :—

अनुयोग द्वार के अनुसार श्रुतज्ञान परार्थ और शेष सब ज्ञान स्वार्थ हैं। इस दृष्टि से सभी प्रमाण जो ज्ञानात्मक हैं, स्वार्थ हैं और वचनात्मक हैं, वे परार्थ हैं। इसीके आधार पर आचार्य सिद्धसेन,[४१] वादी देवसूरि प्रत्यक्ष को परार्थ मानते हैं [४२]।

अनुमान, आगम आदि की स्वार्थ-परार्थ रूप द्विविधता का यही आधार है।

(४) प्रमिति :—

प्रमाण का साक्षात् फल है अज्ञान निवृत्ति और व्यवहित फल है हेयबुद्धि और मध्यस्थबुद्धि। इसका आधार श्रवण, ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान और संयम का क्रम है। श्रवण का फल ज्ञान, ज्ञान का विज्ञान, विज्ञान का

प्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान का फल है संयम। दर्शनावरण के विलय से 'सुनना' मिलता है। श्रुत-अर्थ में ज्ञानावरण के विलय से अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये होते हैं। इनसे ज्ञान होता है, अज्ञान की निवृत्ति होती है। अज्ञान की निवृत्ति होने पर विज्ञान होता है—हेय, उपादेय की बुद्धि बनती है। इसके बाद हेय का प्रत्याख्यान—त्याग होता है। त्याग के पश्चात् संयम। आध्यात्मिक दृष्टि से यावन्मात्र पर-संयोग है, वह हेय है। पर-संयोग मिटने पर संयम आता है, अपनी स्थिति में रमण होता है। वह बाहर से नहीं आता, इसलिए उपादेय कुछ भी नहीं। लौकिक दृष्टि में हेय और उपादेय दोनों होते हैं। जो वस्तु न ग्राह्य होती है और न अग्राह्य, वहाँ मध्यस्थ बुद्धि बनती है अथवा हर्ष और शोक दोनों से बचे रहना, वह मध्यस्थ बुद्धि है[४३]।

इनके अतिरिक्त व्याप्ति, अभाव, उपचार आदि के भी बीज मिलते हैं।

जैन प्रमाण और परीक्षा-पद्धति का विकास इन्हीं के आधार पर हुआ है। दूसरे दर्शनों के उपयोगी अंश अपनाने में जैनाचार्यों को कभी आपत्ति नहीं रही है। उन्होंने अन्य-परम्पराओं की नई सूझों का हमेशा आदर किया है और अपनाया है। फिर भी यह निर्विवाद है कि उनकी न्याय-परम्परा सर्वथा स्वतन्त्र और मौलिक है और भारतीय न्याय-शास्त्र को उसकी एक बड़ी देन है।

अनेकान्त व्यवस्था

आगम साहित्य में सिर्फ ज्ञान और ज्ञेय की प्रकीर्ण मीमांसा ही नहीं मिलती, उनकी व्यवस्था भी मिलती है।

सूत्र कृताङ्ग (२-५) में विचार और आचार, दोनों के बारे में अनेकान्त का तलस्पर्शी विवेचन मिलता है। भगवती और सूत्रकृताङ्ग में अनेक मतवादों का निराकरण कर स्वपक्ष की स्थापना की गई है।

इन बिखरी मुक्ताओं को एक धागे में पिरोने का काम पहले-पहल आचार्य 'उमास्वाति' ने किया। उनका तत्त्वार्थ सूत्र जैन न्याय विकास की पहली रश्मि है। यों कहना चाहिए कि विक्रम पहली-दूसरी शताब्दी के लगभग जैन-परम्परा में 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्र के रूप में स्वतन्त्र परीक्षा-शैली का शिलान्यास हुआ[४४]।

धार्मिक मतवादों के पारस्परिक संघर्ष ज्यों-ज्यों बढ़ने लगे और अपनी मान्यताओं को युक्तियों द्वारा समर्थित करना अनिवार्य हो गया, तब जैन आचार्यों ने भी अपनी दिशा बदली, अपने सिद्धान्तों को युक्ति की कसौटी पर कस कर जनता के सामने रखा। इस काल में अनेकान्त का विकास हुआ।

अहिंसा की साधना जैनाचार्यों का पहला लक्ष्य था। उससे हटकर मत-प्रचार करने को वे कभी लालायित नहीं हुए। साधु के लिए पहले 'आत्मानुकम्पी' (अहिंसा की साधना में कुशल) होना जरूरी है। जैन-आचार्यों की दृष्टि में विवाद या शुष्क तर्क का स्थान कैसा था, इस पर महान् तार्किक आचार्य सिद्धसेन की "वादद्वात्रिंशिका" पूरा प्रकाश डालती है[४५]।

हरिभद्रसूरि का वादाष्टक भी शुष्क तर्क पर सीधा प्रहार है। जैनाचार्यों ने तार्किक आलोक में उतरने की पहल नहीं की, इसका अर्थ उनकी तार्किक दुर्बलता नहीं किन्तु समतावृत्ति ही थी।

वाद-कथा क्षेत्र में एक ओर गौतम प्रदर्शित छल, जल्प, वितंडा, जाति और निग्रह की व्यवस्था और दूसरी ओर अहिंसा का मार्ग कि—"अन्य तीर्थों के साथ वाद करने के समय आत्म-समाधि वाला मुनि सत्य के साधक प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण का प्रयोग करे और यों बोले कि ज्यों प्रतिपक्षी अपना विरोधी न बने" [४६]। सत्य का शोधक और साधक "अप्रतिज्ञ होता है वह असत्य-तत्त्व का समर्थन करने की प्रतिज्ञा नहीं रखता"—यह एक समस्या थी, इसको पार करने के लिए अनेकान्त दृष्टि का सहारा लिया गया [४७]।

अनेकान्त के विस्तारक श्वेताम्बर-परम्परा में "सिद्धसेन" और दिगम्बर-परम्परा में 'समन्तभद्र' हुए। उनका समय विक्रम की ५वीं छठी शती के लगभग माना जाता है। सिद्धसेन ने ३२ द्वात्रिंशिका और सन्मति की रचना करके यह सिद्ध किया कि निर्ग्रन्थ-प्रवचन नयों का समूह विविध सापेक्ष दृष्टियों का समन्वय है [४८]। एकान्त-दृष्टि मिथ्या होती है। उसके द्वारा 'सत्य' नहीं पकड़ा जा सकता। जितने पर समय हैं[४९], वे सब नयवाद हैं। एक दृष्टि को ही एकान्त रूप से पकड़े हुए हैं। इसलिए वे सत्य की ओर नहीं ले जा सकते। जिन-प्रवचन में नित्यवाद, अनित्यवाद, काल, स्वभाव, नियति आदि सब दृष्टियों का समन्वय होता है, इसलिए यह "सत्य" का सीधा मार्ग है।

इसी प्रकार आचार्य समन्तभद्र ने अपनी प्रसिद्ध कृति आप्त मीमांसा में वीतराग को आप्त सिद्ध कर उनकी अनेकान्त वाणी से 'सत्' का यथार्थ ज्ञान होने का विजय-घोष किया। उन्होंने अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य—इन चार भंगों के द्वारा सदेकान्तवादी सांख्य, असदेकान्तवादी माध्यमिक, सर्वथा उभयवादी वैशेषिक और अवाच्यैकान्तवादी बौद्ध के दुराग्रहवाद का बड़ी सफलता से निराकरण किया। भेद-एकान्त, अभेद एकान्त आदि अनेक एकान्त पक्षों में दोष दिखाकर अनेकान्त की व्यापक सत्ता का पथ प्रशस्त कर दिया।

स्याद्वाद—सप्तभंगी और नय की विशद योजना में इन दोनों आचार्यों की लेखनी का चमत्कार आज भी सर्व सम्मत है।

प्रमाण-व्यवस्था

आचार्य सिद्धसेन के न्यायावतार में प्रत्यक्ष, परोक्ष, अनुमान और उसके अवयवों की चर्चा प्रमाण-शास्त्र की स्वतन्त्र रचना का द्वार खोल देती है। फिर भी उसकी आत्मा शैशवकालीन-सी लगती है। इसे यौवन श्री तक ले जाने का श्रेय दिगम्बर आचार्य अकलंक को है। उनका समय विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी है। उनके 'लघीयस्त्रय', 'न्याय विनिश्चय' और 'प्रमाण-संग्रह' में मिलने वाली प्रमाण-व्यवस्था पूर्ण विकसित है। उत्तरवर्ती श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों धाराओं में उसे स्थान मिला है। इसके बाद समय-समय पर अनेक आचार्यों द्वारा लाक्षणिक ग्रन्थ लिखे गए। दसवीं शताब्दी की रचना माणिक्यनंदी का 'परीक्षा मुख मण्डन', बारहवीं शताब्दी की रचना वादिदेवसूरी का 'प्रमाण नय तत्त्वालोक' और आचार्य हेमचन्द्र की 'प्रमाण-मीमांसा', पन्द्रहवीं शताब्दी की रचना धर्मभूषण की 'न्यायदीपिका', १८वीं शताब्दी की रचना यशोविजयजी की 'जैन तर्क भाषा'—यह काफी प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त बहुत सारे लाक्षणिक ग्रन्थ अभी तक अप्रसिद्ध भी पड़े हैं। इन लाक्षणिक ग्रन्थों के अतिरिक्त दार्शनिक चर्चा और प्रमाण के लक्षण की स्थापना और उत्थापना में जिनका योग है, वे भी प्रचुर मात्रा में हैं।

नौ

प्रमाण

प्रमाण का लक्षण

ज्ञान की करणता

प्रमाण की परिभाषा का क्रमिक-परिष्कार

प्रामाण्य का नियामक तत्त्व

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति

प्रामाण्य निश्चय के दो रूप स्वतः और परतः

स्वतः प्रामाण्य निश्चय

परतः प्रामाण्य निश्चय

अयथार्थ ज्ञान या समारोप

विपर्यय

संशय

अनध्यवसाय

अयथार्थ ज्ञान के हेतु

अयथार्थ ज्ञान के दो पहलू

प्रमाण-संख्या

प्रमाण-भेद का निमित्त

प्रमाण-विभाग

ज्ञान

प्रमाण का लक्षण

यथार्थ ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान और प्रमाण का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। ज्ञान व्यापक है और प्रमाण व्याप्य। ज्ञान यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार का होता है। सम्यक् निर्णायक ज्ञान यथार्थ होता है और संशय-विपर्यय आदि ज्ञान अयथार्थ। प्रमाण सिर्फ यथार्थ-ज्ञान होता है। वस्तु का संशय आदि से रहित जो निश्चित ज्ञान होता है, वह प्रमाण है।

ज्ञान की करणता

प्रमाण का सामान्य लक्षण है—'प्रमायाः करणं प्रमाणम्' प्रमा का करण ही प्रमाण है। तद्वति तत्प्रकारानुभवः प्रमा'—जो वस्तु जैसी है उसको वैसे ही जानना 'प्रमा' है। करण का अर्थ है साधकतम। एक अर्थ की सिद्धि में अनेक सहयोगी होते हैं किन्तु वे सब 'करण' नहीं कहलाते। फल की सिद्धि में जिसका व्यापार अव्यवहित (प्रकृष्ट उपकारक) होता है वह 'करण' कहलाता है। कलम बनाने में हाथ और चाकू दोनों चलते हैं किन्तु करण चाकू ही होगा। कलम काटने का निकटतम सम्बन्ध चाकू से है, हाथ से उसके बाद। इसलिए हाथ साधक और चाकू साधकतम कहलाएगा।

प्रमाण के सामान्य लक्षण में किसी को आपत्ति नहीं है। विवाद का विषय 'करण' बनता है। बौद्ध सारूप्य और योग्यता को 'करण' मानते हैं,[1] नैयायिक सन्निकर्ष और ज्ञान इन दोनों को, इस दशा में जैन सिर्फ ज्ञान को ही करण मानते हैं[2]। सन्निकर्ष, योग्यता आदि अर्थ बोध की सहायक सामग्री है। उसका निकट सम्बन्धी ज्ञान ही है और वही ज्ञान और ज्ञेय के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है।

प्रमाण का फल होता है अज्ञान निवृत्ति, इष्ट-वस्तु का ग्रहण और अनिष्ट वस्तु का त्याग। यह सब प्रमाण को ज्ञान स्वरूप माने बिना हो नहीं सकता। इसलिए अर्थ के सम्यक् अनुभव में 'करण' बनने का श्रेय ज्ञान को ही मिल सकता है।

प्रमाण की परिभाषा का क्रमिक परिष्कार

प्रामाणिक क्षेत्र में प्रमाण की अनेक धाराएं बहीं, तब जैन आचार्यों को भी प्रमाण की समन्तव्य-पोषक एक परिभाषा निश्चित करनी पड़ी। जैन विचार के अनुसार प्रमाण की आत्मा 'निर्णायक ज्ञान' है। जैसा कि आचार्य विद्यानन्द ने लिखा है—

'तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता।
लक्षणेन गतार्थत्वात्, व्यर्थमन्यद् विशेषणम्॥'
—तत्त्वा० श्लो० १-१०-७७।

पदार्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान 'प्रमाण' है। यह प्रमाण का लक्षण पर्याप्त है और सब विशेषण व्यर्थ हैं किन्तु फिर भी परिभाषा के पीछे जो कई विशेषण लगे उसके मुख्य तीन कारण हैं—

(१) दूसरों के प्रमाण-लक्षण से अपने लक्षण का पृथक्करण।

(२) दूसरों के लाक्षणिक दृष्टिकोण का निराकरण।

(३) बाधा का निरसन।

आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण का लक्षण बतलाया है—'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्'[३]—स्व और पर को प्रकाशित करने वाला अबाधित ज्ञान प्रमाण है। परोक्ष ज्ञानवादी मीमांसक ज्ञान को स्वप्रकाशित नहीं मानते। उनके मत से 'ज्ञान है'—इसका पता अर्थ प्राकट्यात्मक अर्थापत्ति से लगता है। दूसरे शब्दों में, उनकी दृष्टि में ज्ञान अर्थज्ञानानुमेय है। अर्थ को हम जानते हैं'— यह अर्थज्ञान (अर्थ प्राकट्य है)। हम अर्थ को जानते हैं इससे पता चलता है कि अर्थ को जानने वाला ज्ञान है। अर्थ की जानकारी के द्वारा ज्ञान की जानकारी होती है'—यह परोक्ष ज्ञानवाद है[४]। ज्ञानान्तर-वेद्य ज्ञानवादी नैयायिक—वैशेषिक ज्ञान को ज्ञानान्तरवेद्य मानते हैं। उनके मतानुसार प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष एकात्म-समवायी दूसरे ज्ञान से होता है। ईश्वरीय ज्ञान के अतिरिक्त सब ज्ञान परप्रकाशित हैं, प्रमेय हैं। अचेतन ज्ञानवादी सांख्य प्रकृति-पर्यायात्मक ज्ञान को अचेतन मानते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्रकृति की पर्याय—विकार है, इसलिए वह अचेतन है।

उक्त परिभाषा में आया हुआ 'स्व-आभासि' शब्द इनके निराकरण की ओर संकेत करता है।

जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान 'स्व-अवभासि' है [५]। ज्ञान का स्वरूप ज्ञान है, यह जानने के लिए अर्थ प्राकट्य (अर्थ-बोध) की अपेक्षा नहीं है।

(१) ज्ञान प्रमेय ही नहीं, ईश्वर के ज्ञान की भांति प्रमाण भी है।

(२) ज्ञान अचेतन नहीं—जड़ प्रकृति का विकार नहीं, आत्मा का गुण है [६]।

ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ज्ञान को ही परमार्थ-सत् मानते हैं, बाह्य पदार्थ को नहीं [७]। इसका निराकरण करने के लिए 'पर आभासि' विशेषण जोड़ा गया।

जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान की भांति बाह्य वस्तुओं की भी पारमार्थिक-सत्ता है [८]।

विपर्यय आदि प्रमाण नहीं हैं, यह बतलाने के लिए 'बाध विवर्जित' विशेषण है।

समूचा लक्षण तत्काल प्रचलित लक्षणों से जैन लक्षण का पृथक्करण करने के लिए है।

आचार्य अकलंक ने प्रमाण के लक्षण में 'अनधिगतार्थग्राही' विशेषण लगाकर एक नई परम्परा शुरू कर दी [९]। इस पर बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति का प्रभाव पड़ा ऐसा प्रतीत होता है। न्याय-वैशेषिक और मीमांसक 'धारावाहिक ज्ञान' (अधिगत ज्ञान—गृहीतग्राही ज्ञान) को प्रमाण मानने के पक्ष में थे और बौद्ध विपक्ष में। आचार्य अकलंक ने बौद्ध दर्शन का साथ दिया। आचार्य अकलंक का प्रतिबिम्ब आचार्य माणिक्य नन्दी पर पड़ा। उन्होंने यह माना कि 'स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्'—स्व और अपूर्व अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है [१०]। इसमें आचार्य अकलंक के मत का 'अपूर्व' शब्द के द्वारा समर्थन किया।

वादिदेव सूरी ने 'स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम्' इस सूत्र में माणिक्य नन्दी के 'अपूर्व' शब्द को ध्यान नहीं दिया [११]।

इस काल में दो धाराएं चल पड़ीं। दिगम्बर आचार्यों ने गृहीत-ग्राही

धारावाही ज्ञान को प्रमाण नहीं माना। श्वेताम्बर आचार्य इसको प्रमाण मानते थे। दिगम्बर आचार्य विद्यानन्द ने इस प्रश्न को खड़ा करना उचित ही नहीं समझा उन्होंने बड़ी उपेक्षा के साथ बताया कि—

'गृहीतमगृहीतं वा, स्वार्थं यदि व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु, विजहाति प्रमाणताम्॥

—श्लोक वार्तिक १-१०-७८।

स्व और पर का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है, चाहे वह गृहीतग्राही हो, चाहे अगृहीतग्राही।

आचार्य हेमचन्द्र ने लक्षण-सूत्र का परिष्कार ही नहीं किया किन्तु एक ऐसी बात सुझाई, जो उनकी सूक्ष्म तर्क-दृष्टि की परिचायक है—'ज्ञान स्व-प्रकाशी होता अवश्य है, फिर भी वह प्रमाण का लक्षण नहीं बनता [12]। कारण कि प्रमाण की भांति अप्रमाण—संशय विपर्यय ज्ञान भी स्वसंविदित होता है। पूर्वाचार्यों ने "स्वनिर्णय को लक्षण में रखा है, वह परीक्षा के लिए है, इसलिए वहाँ कोई दोष नहीं आता"—यह लिख कर उन्होंने अपने पूर्वजों के प्रति अत्यन्त आदर सूचित किया है।

आचार्य हेमचन्द्र की परिभाषा-'सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्'—अर्थ का सम्यक् निर्णय प्रमाण है। यह जैन-प्रमाण-लक्षण का अन्तिम परिष्कृत रूप है।

आचार्य तुलसी ने 'यथार्थज्ञानं प्रमाणम्'—यथार्थ (सम्यक्) ज्ञान प्रमाण है [13]। इसमें अर्थ पद को भी नहीं रखा। ज्ञान के यथार्थ और अयथार्थ—ये दो रूप बाह्य पदार्थों के प्रति उसका व्यापार होता है, तब बनते हैं। इसलिए अर्थ के निर्णय का बोध 'यथार्थ' पद अपने आप करा देता है [14]। यदि बाह्य अर्थ के प्रति ज्ञान का व्यापार नहीं होता तो लक्षण में यथार्थ-पद के प्रयोग की कोइ आवश्यकता ही नहीं होती।

प्रामाण्य का नियामक तत्त्व

प्रमाण सत्य होता है, इसमें कोई द्वैध नहीं, फिर भी सत्य की कसौटी सबकी एक नहीं है। ज्ञान की सत्यता या प्रामाण्य के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार वह याथार्थ्य है। याथार्थ्य का

अर्थ है—'ज्ञान की तथ्य के साथ संगति' [१५]। ज्ञान अपने प्रति सत्य ही होता है। प्रमेय के साथ उसकी संगति निश्चित नहीं होती, इसलिए उसके दो रूप बनते हैं—तथ्य के साथ संगति हो, वह सत्य ज्ञान और तथ्य के साथ संगति न हो, वह असत्य ज्ञान।

अबाधितत्त्व, अप्रसिद्ध अर्थ-ख्यापन या अपूर्वअर्थप्रापण, अविसंवादित्व या संवादीप्रवृत्ति, प्रवृत्तिसामर्थ्य या क्रियात्मक उपयोगिता—ये सत्य की कसौटियां हैं, जो भिन्न-भिन्न दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत और निराकृत होती रही हैं।

आचार्य विद्यानन्द अबाधितत्त्वबाधक प्रमाण के अभाव या कथनी के पारस्परिक सामञ्जस्य को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं [१६]। सम्मति-टीकाकार आचार्य अभयदेव इसका निराकरण करते हैं [१७]। आचार्य अकलंक बौद्ध और मीमांसक अप्रसिद्ध अर्थ-ख्यापन (अज्ञात अर्थ के ज्ञापन) को प्रामाण्य का नियामक मानते हैं [१८]। वादिदेव सूरि और आचार्य हेमचन्द्र इसका निराकरण करते हैं [१९]।

संवादीप्रवृत्ति और प्रवृत्तिसामर्थ्य—इन दोनों का व्यवहार सर्व-सम्मत है। किन्तु ये प्रामाण्य के मुख्य नियामक नहीं बन सकते। संवादक ज्ञान प्रमेयाव्यभिचारी ज्ञान की भांति व्यापक नहीं है। प्रत्येक निर्णय में तथ्य के साथ ज्ञान की संगति अपेक्षित होती है, वैसे संवादक ज्ञान प्रत्येक निर्णय में अपेक्षित नहीं होता। वह क्वचित् ही सत्य को प्रकाश में लाता है।

प्रवृत्ति-सामर्थ्य अर्थ-सिद्धि का दूसरा रूप है। ज्ञान तब तक सत्य नहीं होता, जब तक वह फलदायक परिणामों द्वारा प्रामाणिक नहीं बन जाता। यह भी सार्वदिक सत्य नहीं है। इसके बिना भी तथ्य के साथ ज्ञान की संगति होती है। क्वचित् यह 'सत्य की कसौटी' बनता है, इसलिए यह अमान्य भी नहीं है।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति

प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है। ज्ञानोत्पादक सामग्री में मिलने वाले गुण और दोष क्रमशः प्रामाण्य और अप्रामाण्य के निमित्त बनते हैं [२०]। निर्विशेषण सामग्री से यदि ये दोनों उत्पन्न होते तो इन्हें स्वतः मान्य

जाता किन्तु ऐसा होता नहीं। ये दोनों सविशेषण सामग्री से पैदा होते हैं; जैसे गुणवत्—सामग्री से प्रामाण्य और दोषवत्—सामग्री से अप्रामाण्य। अर्थ का परिच्छेद प्रमाण और अप्रमाण दोनों में होता है। किन्तु अप्रमाण (संशय-विपर्यय) में अर्थ-परिच्छेद यथार्थ नहीं होता और प्रमाण में वह यथार्थ होता है। अयथार्थ-परिच्छेद की भांति यथार्थ-परिच्छेद भी सहेतुक होता है। दोष मिट जाए, मात्र इससे यथार्थता नहीं आती। वह तब आती है, जब गुण उसके कारण बने। जो कारण बनेगा वह 'पर' कहलाएगा। ये दोनों विशेष स्थिति सापेक्ष हैं, इसलिए इनकी उत्पत्ति 'पर' से होती है।

प्रामाण्य निश्चय के दो रूप स्वतः और परतः[२१]

जानने के साथ-साथ "यह जानना ठीक है" ऐसा निश्चय होता है, वह स्वतः निश्चय है।

जानने के साथ-साथ "यह जानना ठीक है" ऐसा निश्चय नहीं होता तब दूसरी कारण सामग्री से—संवादक प्रत्यय से उसका निश्चय किया जाता है, यह परतः निश्चय है (जैन प्रामाण्य और अप्रामाण्य को स्वतः भी मानते हैं और परतः भी)।

स्वतः प्रामाण्य निश्चय

विषय की परिचित दशा में ज्ञान की स्वतः प्रामाणिकता होती है। इसमें प्रथम ज्ञान की सचाई जानने के लिए विशेष कारणों की आवश्यकता नहीं होती। जैसे कोई व्यक्ति अपने मित्र के घर कई बार गया हुआ है। उससे भलीभांति परिचित है। वह मित्र गृह को देखते ही निस्सन्देह उसमें प्रविष्ट हो जाता है। "यह मेरे मित्र का घर है" ऐसा ज्ञान होने के समय ही उस ज्ञानगत सचाई का निश्चय नहीं होता तो वह उस घर में प्रविष्ट नहीं होता।

परतः प्रामाण्य निश्चय

विषय की अपरिचित दशा में प्रामाण्य का निश्चय परतः होता है। ज्ञान की कारण सामग्री से उसकी सचाई का पता नहीं लगता तब विशेष कारणों की सहायता से उसकी प्रामाणिकता जानी जाती है, यही परतः प्रामाण्य है। पहले सुने हुए चिह्नों के आधार पर अपने मित्र के घर के पास पहुंच जाता है,

फिर भी उसे यह सन्देह हो सकता है कि यह घर मेरे मित्र का है या किसी दूसरे का ? उस समय किसी जानकार व्यक्ति से पूछने पर प्रथम ज्ञान की सचाई मालूम हो जाती है। यहाँ ज्ञान की सचाई का दूसरे की सहायता से पता लगा, इसलिए यह परतः प्रामाण्य है। विशेष कारण-सामग्री के दो प्रकार हैं—(१) संवादक प्रमाण अथवा (२) बाधक प्रमाण का अभाव।

जिस प्रमाण से पहले प्रमाण की सचाई का निश्चय होता है, उसका प्रामाण्य-निश्चय परतः नहीं होता। पहले प्रमाण के प्रामाण्य का निश्चय कराने वाले प्रमाण की प्रामाणिकता परतः मानने पर प्रमाण की शृङ्खला का अन्त नहीं होता और न अन्तिम निश्चय ही हाथ लगता है। संवादक प्रमाण किसी दूसरे प्रमाण का ऋणी बन कर सही जानकारी नहीं देता। कारण कि उसे जानकारी देने के समय उसका ज्ञान करना नहीं है। अतः उसके लिए स्वतः या परतः का प्रश्न ही नहीं उठता।

"प्रामाण्य का निश्चय स्वतः और परतः होता है[२२]," यह विभाग विषय (ग्राह्यवस्तु) की अपेक्षा से है। ज्ञान के स्वरूप-ग्रहण की अपेक्षा उसका प्रामाण्य निश्चय अपने आप होता है।

अयथार्थ ज्ञान या समारोप (विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय)

एक रस्सी के बारे में चार व्यक्तियों के ज्ञान के चार रूप हैं :—

पहला—यह रस्सी है—यथार्थ ज्ञान।

दूसरा—यह साँप है—विपर्यय।

तीसरा—यह रस्सी है या साँप है ?—संशय।

चौथा—रस्सी को देख कर भी अन्यमनस्कता के कारण ग्रहण नहीं करता—अनध्यवसाय।

पहले व्यक्ति का ज्ञान सही है। यही प्रमाण होता है, जो पहले बताया जा चुका है। शेष तीनों व्यक्तियों के ज्ञान में वस्तु का सम्यक् निर्णय नहीं होता, इसलिए वे अयथार्थ हैं।

विपर्यय[२३]

विपर्यय निश्चयात्मक होता है किन्तु निश्चय पदार्थ के असली स्वरूप के विपरीत होता है। जितनी निरपेक्ष एकान्त-दृष्टियां होती हैं, वे सब विपर्यय

की कोटि में आती हैं। पदार्थ अपनी गुणात्मक सत्ता की दृष्टि से नित्य है और अवस्थाभेद की दृष्टि से अनित्य। इसलिए उसका समष्टि रूप बनता है—पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी। यह सम्यक्-ज्ञान है इसके विपरीत पदार्थ नित्य ही है अथवा पदार्थ अनित्य ही है—यह विपर्यय ज्ञान है।

अनेकान्त दृष्टि से कहा जा सकता है कि 'पदार्थ कथंचित् नित्य ही है, कथंचित् अनित्य ही है।' यह निरपेक्ष नहीं किन्तु कथंचित् यानी गुणात्मक सत्ता की अपेक्षा नित्य ही है और परिणमन की अपेक्षा अनित्य ही है।

पदार्थ नष्ट नहीं होता, यह प्रमाण-सिद्ध है। उसका रूपान्तर होता है, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। इस दशा में पदार्थ को एकान्ततः नित्य या अनित्य मानना सम्यग्-निर्णय नहीं हो सकता।

विपरीत ज्ञान के सम्बन्ध में विभिन्न दर्शनों में विभिन्न धारणाएं हैं :—

सांख्य योग और मीमांसक (प्रभाकर) इसे 'विवेकाख्याति[२४] या अख्याति वेदान्त अनिर्वचनीय ख्याति[२५], बौद्ध (योगाचार) 'आत्म-ख्याति[२६]' कुमारिल (भट्ट), नैयायिक-वैशेषिक 'विपरीतख्याति[२७], या (अन्यथा ख्याति) और चार्वाक अख्याति (निरावलम्बन) कहते हैं।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह 'सत्-असत् ख्याति' है। रस्सी में प्रतीत होने वाला साँप स्वरूपतः सत् और रस्सी के रूप में असत् है। ज्ञान के साधनों की विकल दशा में सत् का असत् के रूप में ग्रहण होता है, यह 'सदसत्ख्याति' है।

संशय[२८]

ग्राह्य वस्तु की दूरी, अंधेरा, प्रमाद, व्यामोह आदि-आदि जो विपर्यय के कारण बनते हैं, वे ही संशय के कारण हैं। हेतु दोनों के समान हैं फिर भी उनके स्वरूप में बड़ा अन्तर है। विपर्यय में जहाँ सत् में असत् का निर्णय होता है, वहाँ संशय में सत् या असत् किसी का भी निर्णय नहीं होता। संशय ज्ञान की एक दोलायमान अवस्था है। वह 'यह या वह' के घेरे को तोड़ नहीं सकता। उसके सारे विकल्प अनिर्णायक होते हैं। एक सफेद चार पैर और सींग वाले प्राणी को दूर से देखते ही मन विकल्प से भर जाता है—क्या यह गाय है अथवा गवय—रोझ?

निर्णायक विकल्प संशय नहीं होता, यह हमें याद रखना होगा। पदार्थ के

बारे में अभी-अभी हम दो विकल्प कर आये हैं—'पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी'। यह संशय नहीं है। संशय या अनिर्णायक विकल्प वह होता है, जहाँ पदार्थ के एक धर्म के बारे में दो विकल्प होते हैं। अनेक धर्मात्मक वस्तु के अनेक धर्मों पर होने वाले अनेक विकल्प इसलिए निर्णायक होते हैं कि उनकी कल्पना आधार शून्य नहीं होती। स्याद्वाद् के प्रामाणिक विकल्पों—भंगों को संशयवाद कहने वालों को यह स्मरण रखना चाहिए।

अनध्यवसाय[२९]

अनध्यवसाय आलोचन मात्र होता है। किसी पक्षी को देखा और एक आलोचन शुरू हो गया—इस पक्षी का क्या नाम है? चलते-चलते किसी पदार्थ का स्पर्श हुआ। यह जान लिया कि स्पर्श हुआ है किन्तु किस वस्तु का हुआ है, यह नहीं जाना। इस ज्ञान की आलोचना में ही परिसमाप्ति हो जाती है, कोई निर्णय नहीं निकलता। इसमें वस्तु-स्वरूप का अन्यथा ग्रहण नहीं होता, इसलिए यह विपर्यय से भिन्न है और यह विशेष का स्पर्श नहीं करता, इसलिए संशय से भी भिन्न है। संशय में व्यक्ति का उल्लेख होता है। यह जाति सामान्य विषयक है। इसमें पक्षी और स्पर्श की के व्यक्ति का नामोल्लेख नहीं होता।

अनध्यवसाय वास्तव में अयथार्थ नहीं है, अपूर्ण है। वस्तु जैसी है उसे विपरीत नहीं किन्तु उसी रूप में जानने में अक्षम है। इसलिए इसे अयथार्थ ज्ञान की कोटि में रखा है। अनध्यवसाय को अयथार्थ उसी दशा में कहा जा सकता है, जबकि यह 'आलोचन मात्र' तक ही रह जाता है। अगर यह आगे बढ़े तो अवग्रह के अन्तर्गत हो जाता है[३०]।

अयथार्थ ज्ञान के हेतु

एक ही प्रमाता का ज्ञान कभी प्रमाण बन जाता है और कभी अप्रमाण, यह क्यों? जैन-दृष्टि में इसका समाधान यह है कि यह सामग्री के दोष से होता है।

प्रमाता का ज्ञान निरावरण होने पर ऐसी स्थिति नहीं बनती। उसका ज्ञान अप्रमाण नहीं होता। यह स्थिति उसके सावरण ज्ञान की दशा में बनती है[३१]।

ज्ञान की सामग्री द्विविध होती है—(१) आन्तरिक और (२) बाह्य। आन्तरिक सामग्री है, प्रमाता के ज्ञानावरण का विलय। आवरण के तारतम्य के अनुपात में जानने की न्यूनाधिक शक्ति होती है। ज्ञान के दो क्रम हैं—आत्म-प्रत्यक्ष और आत्म-परोक्ष। आत्म-प्रत्यक्ष जितनी योग्यता विकसित होने पर जानने के लिए बाह्य सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। आत्म-परोक्ष ज्ञान की दशा में बाह्य सामग्री का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाला ज्ञान बाह्य सामग्री-सापेक्ष होता है। पौद्गलिक इन्द्रियां, पौद्गलिक मन, आलोक, उचित सामीप्य या दूरत्व, दिग्, देश, काल आदि-आदि बाह्य सामग्री के अंग हैं।

अयथार्थ ज्ञान के निमित्त प्रमाता और बाह्य सामग्री दोनों हैं। आवरण विलय मन्द होता है और बाह्य सामग्री दोषपूर्ण होती है, तब अयथार्थ ज्ञान होता है। आवरण विलय की मन्दता में बाह्य सामग्री की स्थिति महत्त्वपूर्ण होती है। उससे ज्ञान की स्थिति में परिवर्तन आता है। तात्पर्य यह है कि अयथार्थ ज्ञान का निमित्त ज्ञान-मोह है और ज्ञान-मोह का निमित्त दोषपूर्ण सामग्री है। परोक्षज्ञान-दशा में चेतना का विकास होने पर भी अदृष्ट सामग्री के अभाव में यथार्थ बोध नहीं होता। अर्थ-बोध ज्ञान की योग्यता से नहीं होता, किन्तु उसके व्यापार से होता है। सिद्धान्त की भाषा में लब्धि प्रमाण नहीं होता। प्रमाण होता है उपयोग। लब्धि (ज्ञानावरण विलय जन्य आत्म-योग्यता) शुद्ध ही होती है। उसका उपयोग शुद्ध या अशुद्ध (यथार्थ या अयथार्थ) दोनों प्रकार का होता है। दोषपूर्ण ज्ञान-सामग्री ज्ञानावरण के उदय का निमित्त बनती है। ज्ञानावरण के उदय से प्रमाता मूढ़ बन जाता है। यही कारण है कि वह ज्ञानकाल में प्रवृत्त होने पर भी ज्ञेय की यथार्थता को नहीं जान पाता।

संशय और विपर्यय के काल में प्रमाता जो जानता है, वह ज्ञानावरण का परिणाम नहीं किन्तु वह यथार्थ नहीं जान पाता, वह अज्ञान ज्ञानावरण का परिणाम है। समारोपज्ञान में अज्ञान (यथार्थ-ज्ञान के अभाव) की मुख्यता होती है, इसलिए मुख्य वृत्ति से उसे ज्ञानावरण के उदय का परिणाम कहा जाता है। वस्तुवृत्त्या जितना ज्ञान का व्यापार है, वह ज्ञानावरण के विलय

का परिणाम है और उसमें जितना यथार्थ ज्ञान का अभाव है, वह ज्ञानावरण के उदय का परिणाम है [३२]।

अयथार्थ ज्ञान के दो पहलू

अयथार्थ ज्ञान के दो पक्ष होते हैं—(१) आध्यात्मिक और (२) व्यावहारिक। आध्यात्मिक विपर्यय को मिथ्यात्व और आध्यात्मिक संशय को मिश्र-मोह कहा जाता है। इनका उद्भव आत्मा की मोह-दशा से होता है [३३]। इनसे श्रद्धा विकृत होती है [३४]।

व्यावहारिक संशय और विपर्यय का नाम है 'समारोप' [३५]। यह ज्ञानावरण के उदय से होता है [३६]। इससे ज्ञान यथार्थ नहीं होता।

पहला पक्ष दृष्टि-मोह है और दूसरा पक्ष ज्ञान-मोह। इनका भेद समझाते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"तत्त्व श्रद्धा में विपर्यय होने पर मिथ्यात्व होता है [३७]। अन्यत्र विपर्यय होता है, तब ज्ञान असत्य होता है किन्तु वह मिथ्यात्व नहीं बनता।"

दृष्टि मोह मिथ्या दृष्टि के ही होता है। ज्ञान-मोह सम्यग् दृष्टि और मिथ्या दृष्टि दोनों के होता है। दृष्टि-मोह मिथ्यात्व है, किन्तु अज्ञान नहीं। मिथ्यात्व मोह जनित होता है[३८] और अज्ञान (मिथ्या दृष्टि का ज्ञान) ज्ञानावरण विलय (क्षयोपशम) जनित[३९]। श्रद्धा का विपर्यय मिथ्यात्व से होता है, अज्ञान से नहीं। जैसा कि जयाचार्य ने लिखा है—

"मोहनी उन्मादना बे भेद एक मिथ्यात्वी,
तसु उदय थी श्रद्धेज ऊंधी, दम बोला मैं एक ही[४०]।"—भग० जोड़ १४।२।

—मिथ्यात्व मोहनीय उन्माद का एक प्रकार है। उसके उदय से श्रद्धा विपरीत बनती है।

मिथ्यात्व और अज्ञान का अन्तर बताते हुए उन्होंने लिखा है—"अज्ञानी कई विषयों में विपरीत श्रद्धा रखते हैं, वह मिथ्यात्व-आस्रव है। वह मोह-कर्म के उदय से पैदा होता है, इसलिए वह अज्ञान नहीं। अज्ञानी जितना सम्यग् जानता है, वह ज्ञानावरण के विलय से उत्पन्न होता है। वह अधिकारी की अपेक्षा से अज्ञान कहलाता है, इसलिए अज्ञान और विपरीत श्रद्धा दोनों भिन्न हैं [४१]।"

जैसे मिथ्यात्व सम्यक् श्रद्धा का विपर्यय है, वैसे अज्ञान ज्ञान का विपर्यय नहीं है। ज्ञान और अज्ञान में स्वरूप-भेद नहीं किन्तु अधिकारी भेद है। सम्यग् दृष्टि का ज्ञान ज्ञान कहलाता है और मिथ्या दृष्टि का ज्ञान अज्ञान[४२]।

अज्ञान में नञ् समास कुत्सार्थक है। ज्ञान कुत्सित नहीं, किन्तु ज्ञान का पात्र जो मिथ्यात्वी है, उसके संसर्ग से वह कुत्सित कहलाता है[४३]।

सम्यग् दृष्टि का समारोप ज्ञान कहलाता है और मिथ्या दृष्टि का समारोप या असमारोप अज्ञान। इसका यह अर्थ नहीं होता कि सम्यग् दृष्टि का समारोप भी प्रमाण होता है और मिथ्या दृष्टि का असमारोप भी अप्रमाण[४४]। समारोप दोनों का अप्रमाण होगा। असमारोप दोनों का प्रमाण। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के निमित्त क्रमशः दृष्टि मोह का उदय और विलय है। समारोप का निमित्त है ज्ञानावरण या ज्ञान-मोह[४५]। समारोप का निमित्त दृष्टि-मोह माना जाता है, वह उचित प्रतीत नहीं होता। वे लिखते हैं—"जहाँ विषय, साधन आदि का दोष हो, वहाँ भी वह दोष आत्मा की मोहावस्था ही के कारण अपना कार्य करता है[४६]। इसलिए जैन दृष्टि यही मानती है कि अन्य दोष आत्म-दोष के सहायक होकर ही मिथ्या प्रत्यय के जनक हैं पर मुख्यतया जनक आत्म-दोष मोह ही है[४७]।"

समारोप का निमित्त ज्ञान-मोह हो सकता है, किन्तु दृष्टि-मोह नहीं। उसका सम्बन्ध सिर्फ तात्त्विक विप्रतिपत्ति से है।

तीन अज्ञान—मति, श्रुत और विभंग, तीन ज्ञान—मति, श्रुत और अवधि ये विपर्यय नहीं हैं। इन दोनों त्रिकों की क्षायोपशमिकता (ज्ञानावरण-विलय-जन्य योग्यता) में द्विरूपता नहीं है[४८]। अन्तर केवल इतना आता है कि मिथ्या दृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व-सहचरित होता है, इसलिए उसे अज्ञान संज्ञा दी जाती है। सम्यग् दृष्टि का ज्ञान मिथ्यात्व-सहचरित नहीं होता, इसलिए उसकी संज्ञा ज्ञान रहती है। ज्ञान जो अज्ञान कहलाता है, वह मिथ्यात्व के साहचर्य का परिणाम है। किन्तु मिथ्यात्वी का ज्ञानमात्र विपरीत होता है अथवा उसका अज्ञान और मिथ्यात्व एक है, ऐसी बात नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र (१—३२,३३) और उसके भाष्य तथा विशेषावश्यक भाष्य में

अज्ञान का हेतु सत्-असत् का अविशेष बतलाया है[४९]। इससे भी यह फलित नहीं होता कि मिथ्या-दृष्टि का ज्ञान मात्र विपरीत है या उसका ज्ञान विपरीत ही होता है, इसलिए उसकी संज्ञा अज्ञान है। सत्-असत् के अविशेष का सम्बन्ध उसकी यदृच्छोपलब्ध तात्त्विक प्रतिपत्ति से है। मिथ्या-दृष्टि की तत्त्व-श्रद्धा या तत्त्व-उपलब्धि यादृच्छिक या अनालोचित होती है, वहाँ उसके मिथ्यात्व या उन्माद होता है किन्तु उसके इन्द्रिय और मानस का विषय-बोध मिथ्यात्व या उन्माद नहीं होता। वह मिथ्यात्व से अप्रभावित होता है—केवल ज्ञानावरण के विलय से होता है। इसके अतिरिक्त मिथ्या दृष्टि में सत्-असत् का विवेक होता ही नहीं, यह एकान्त भी कर्म-सिद्धान्त के प्रतिकूल है। दृष्टि मोह के उदय से उसकी तात्त्विक प्रतिपत्ति में उन्माद आता है, उससे उसकी दृष्टि या श्रद्धा मिथ्या बनती है, किन्तु उसमें दृष्टि-मोह का क्षयोपशम भी होता है। ऐसा कोई भी प्राणी नहीं होता, जिसमें दृष्टि-मोह का न्यूनाधिक विलय (क्षयोपशम) न मिले[५०]।

जैन आगमों में मिथ्या-दृष्टि या मिथ्या दर्शन शब्द व्यक्ति और गुण दोनों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जिसकी दृष्टि मिथ्या होती है, वह व्यक्ति मिथ्या दृष्टि होता है। गुणवाची मिथ्या दृष्टि शब्द का प्रयोग दृष्टि-मोह के उदयजनित मिथ्यात्व के अर्थ में भी होता है और मिथ्यात्व-सहचरित दृष्टि-मोह के विलय के अर्थ में भी[५१]। तात्पर्य कि मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति में यावनमात्र उपलब्ध सम्यग्-दृष्टि के अर्थ में भी[५२]।

मिथ्या दृष्टि में दृष्टि-मोह जनित मिथ्यात्व होता है, वैसे ही दृष्टि-मोह विलय जनित सम्यग् दर्शन भी होता है। इसीलिए उसमें 'मिथ्या-दृष्टि-गुण-स्थान नामक पहला गुण-स्थान होता है। गुण-स्थान आध्यात्मिक शुद्धि की भूमिकाएं हैं[५३]। कर्म-ग्रन्थ की वृत्ति में दृष्टि-मोह के प्रबल उदय काल में भी अविपरीत दृष्टि स्वीकार की है और आंशिक सम्यग्-दर्शन भी माना है[५४]। जयाचार्य का भी यही मत है—"मिथ्यात्वी जो शुद्ध जानता है, वह ज्ञानावरण का विलय-भाव है। उसका सब ज्ञान विकृत या विपरीत नहीं होता, किन्तु दृष्टि-मोह-संवलित ज्ञान ही वैसा होता है[५५]।"

मिथ्या-दृष्टि में मिथ्या दर्शन और सम्यग् दर्शन दोनों होते हैं, फिर भी

वह मिथ्या दृष्टि सम्यग्मिथ्या-दृष्टि नहीं बनता। वह भूमिका इससे ऊँची है। मिश्र-दृष्टि व्यक्ति को केवल एक तत्त्व या तत्त्वांश में सन्देह होता है[५६]। मिथ्या दृष्टि का सभी तत्त्वों में विपर्यय हो सकता है।

मिश्र दृष्टि तत्त्व के प्रति संशयितदशा है और मिथ्या दृष्टि विपरीत संज्ञान। संशयितदशा में अतत्त्व का अभिनिवेश नहीं होता और विपरीत संज्ञान में वह होता है, इसलिए इसका—पहली भूमिका का अधिकारी अंशतः सम्यग् दर्शनी होते हुए भी तीसरी भूमिका के अधिकारी की भांति सम्यग्-मिथ्या-दृष्टि नहीं कहलाता। मिथ्या दृष्टि के साथ सम्यग्-दर्शन का उल्लेख नहीं होता, यह उसके दृष्टि-विपर्यय की प्रधानता का परिणाम है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें सम्यग्-दर्शन का अंश नहीं होता। सम्यग्-दर्शन का अंश होने पर भी वह सम्यग् दृष्टि इसलिए नहीं कहलाता कि उसके दृष्टि-मोह का अपेक्षित विलय नहीं होता।

वस्तुवृत्त्या तत्त्वों की संप्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का स्वरूप नहीं है। सम्यक्त्व दृष्टि मोह-रहित आत्म-परिणाम है और मिथ्यात्व दृष्टि-मोह-संवलित आत्म परिणाम[५७]। तत्त्वों का सम्यग् और असम्यग् श्रद्धान उनके फल हैं[५८]।

प्रमाता दृष्टि-मोह से बद्ध नहीं होता, तब उसका तत्त्व श्रद्धान यथार्थ होता है और उससे बद्धदशा में वह यथार्थ नहीं होता। आत्मा के सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के परिणाम तात्त्विक सम्प्रतिपत्ति और विप्रतिपत्ति के द्वारा स्थूलवृत्त्या अनुमेय हैं।

आचार्य विद्यानन्द के अनुसार अज्ञानत्रिक में दृष्टि-मोह के उदय से मिथ्यात्व होता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि तीन बोध (मति, श्रुत और विभंग) मिथ्यात्व स्वरूप ही होते हैं[५९]। ज्ञानावरण-विलयजन्य ज्ञान जब मिथ्यात्व-मोह के उदय से अभिभूत होता है तात्पर्य कि जिस श्रद्धान में ज्ञानावरण का क्षयोपशम और मिथ्यात्व-मोह का उदय दोनों संवलित होते हैं, तब मिथ्या दृष्टि के बोध में मिथ्यात्व होता है। इस मिथ्यात्व के कारण मिथ्या दृष्टि का बोध अज्ञान कहलाता है, यह बात नहीं। दृष्टि-मोह के उदय से प्रभावित बोध

मिथ्या श्रद्धान या मिथ्यात्व कहलाता है और मिथ्या दृष्टि के सम्यक् श्रद्धान का अंश तथा व्यावहारिक—सम्यग्ज्ञान अज्ञान कहलाता है।

भगवती में 'मिथ्यादृष्टि के दर्शन-विपर्यय होता है' यह बतलाया है किन्तु सब मिथ्यादृष्टि व्यक्तियों के वह होता है—यह नियम नहीं [१०]। वैसे ही अज्ञानत्रिक में दृष्टि-मोह के उदय से मिथ्यात्व होता है किन्तु अज्ञानमात्र मिथ्यात्व होता है, यह नियम नहीं।

उक्त विवेचन के फलित ये हैं—

(१) तात्त्विक-विपर्यय दृष्टि-मोह और व्यावहारिक-विपर्यय ज्ञानावरण के उदय का परिणाम है।

(२) अज्ञानमात्र ज्ञान का विपर्यय नहीं, तात्त्विक विप्रतिपत्ति अथवा दृष्टि-मोहोदय-संवलित अज्ञान ही ज्ञान का विपर्यय है।

(३) मिथ्या दृष्टि का अज्ञान मात्र दृष्टि-मोह-संवलित नहीं होता।

प्रमाण-संख्या

प्रमाण की संख्या सब दर्शनों में एक-सी नहीं है। नास्तिक केवल एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं; वैशेषिक दो—प्रत्यक्ष और अनुमान; सांख्य तीन—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम; नैयायिक चार—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान; मीमांसा (प्रभाकर) पांच—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान और अर्थापत्ति; मीमांसा (भट्ट, वेदान्त) छह—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव। पौराणिक इनके अतिरिक्त सम्भव, ऐतिह्य, प्रातिभ प्रमाण और मानते हैं। जैन दो प्रमाण मानते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष।

प्रमाण भेद का निमित्त

आत्मा का स्वरूप केवल ज्ञान है, केवल ज्ञान—पूर्णज्ञान अथवा एक ज्ञान। बादलों में ढके हुए सूर्य के प्रकाश में जैसे तारतम्य होता है, वैसे ही कर्म-मलावरण से ढकी हुई आत्मा में ज्ञान का तारतम्य होता है। कर्ममल के आवरण और अनावरण के आधार पर ज्ञान के अनेक रूप बनते हैं। प्रश्न यह है कि किस ज्ञान को प्रमाण मानें? इसके उत्तर में जैन-दृष्टि यह है कि जितने प्रकार के ज्ञान (इन्द्रियज्ञान, मानसज्ञान, अतीन्द्रियज्ञान) हैं, वे सब प्रमाण बन सकते हैं। शर्त केवल यही है कि वे यथार्थता से अविच्छिन्न होने

चाहिए—ज्ञानसामान्य में खींची हुई यथार्थता की भेद-रेखा का अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। फलतः जितने यथार्थ ज्ञान उतने ही प्रमाण। यह एक लम्बा-चौड़ा निर्णय हुआ। बात सही है, फिर भी सबके लिए कठिन है, इसलिए इसे समेट कर दो भागों में बांट दिया। बांटने में एक कठिनाई थी। ज्ञान का स्वरूप एक है फिर उसे कैसे बांटा जाय ? इसका समाधान यह मिला कि विकास-मात्रा (अनावृत्त दशा) के आधार पर उसे बांटा जाय। ज्ञान के पांच स्थूल भेद हुए :—

(१) मतिज्ञान—इन्द्रिय ज्ञान, मानस ज्ञान (२) श्रुतज्ञान—शब्दज्ञान	ऐन्द्रियिक
(३) अवधिज्ञान—मूर्त्तपदार्थ का ज्ञान (४) मनः पर्यवज्ञान—मानसिक भावना का ज्ञान (५) केवलज्ञान—समस्त द्रव्य पर्याय का ज्ञान, पूर्णज्ञान	अतीन्द्रिय

अब प्रश्न रहा, प्रमाण का विभाग कैसे किया जाय ? ज्ञान केवल आत्मा का विकास है। प्रमाण पदार्थ के प्रति ज्ञान का सही व्यापार है। ज्ञान आत्म-निष्ठ है। प्रमाण का सम्बन्ध अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् दोनों से है। बहिर्जगत् की यथार्थ घटनाओं को अन्तर्जगत् तक पहुँचाए, यही प्रमाण का जीवन है। बहिर्जगत् के प्रति ज्ञान का व्यापार एक-सा नहीं होता। ज्ञान का विकास प्रबल होता है, तब वह बाह्य साधन की सहायता लिए बिना ही विषय को जान लेता है। विकास कम होता है, तब बाह्य साधन का सहारा लेना पड़ता है। बस यही प्रमाण-भेद का आधार बनता है।

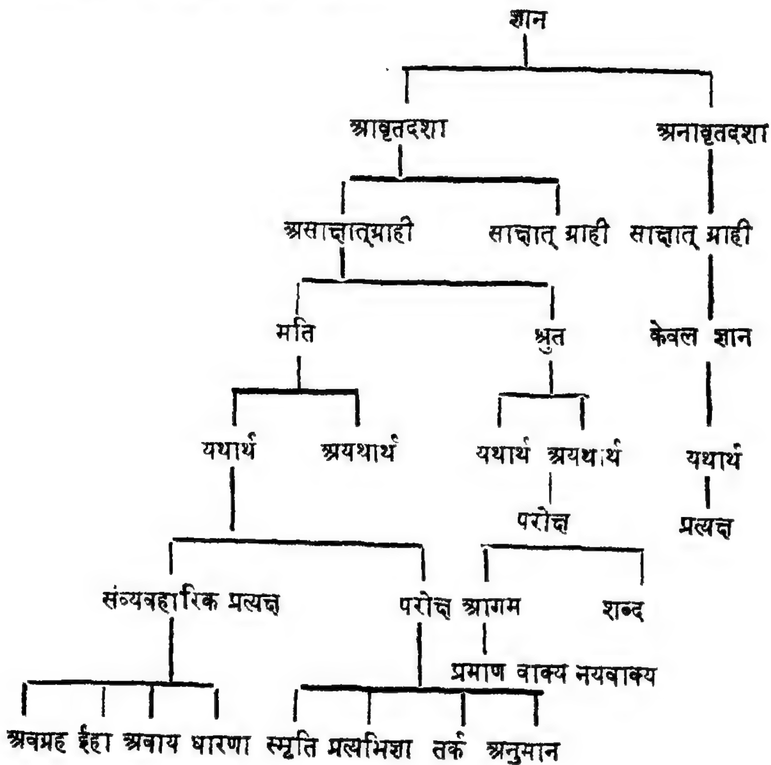
(१) पदार्थ को जो सहाय-निरपेक्ष होकर ग्रहण करता है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाण है और (२) जो सहाय-सापेक्ष होकर ग्रहण करता है, वह परोक्ष-प्रमाण है। स्वनिर्णय में प्रत्यक्ष ही होता है। उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष—ये दो भेद पदार्थ-निर्णय के दो रूप साक्षात् और अ-साक्षात् की अपेक्षा से होते हैं।

'प्रत्यक्ष और परोक्ष' प्रमाण की कल्पना जैन न्याय की विशेष सूझ है। इन दो दिशाओं में सब प्रमाण समा जाते हैं। उपयोगिता की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु के भेद किये जाते हैं किन्तु भेद उतने ही होने चाहिए- जितने अपना स्वरूप असंकीर्ण रख सकें। फिर भी जिनमें यथार्थता है, उन्हें प्रमाणभेद

मानने में समन्वयवादी जैनों को कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रत्यक्ष और परोक्ष का उदर इतना विशाल है कि उसमें प्रमाणभेद समाने में किंचित् भी कठिनाई नहीं होती।

प्रमाण-विभाग

प्रमाण के मुख्य भेद दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—व्यवहार-प्रत्यक्ष और परमार्थ-प्रत्यक्ष। व्यवहार-प्रत्यक्ष के चार विभाग हैं—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। परमार्थ-प्रत्यक्ष के तीन विभाग हैं—केवल, अवधि और मनः पर्यव। परोक्ष के पाँच भेद हैं—स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम।



दस

२६१—२७६

प्रत्यक्ष प्रमाण

प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष-परिवार

प्रत्यक्ष का लक्षण

समन्वय का फलित रूप

केवल ज्ञान

व्यवहार प्रत्यक्ष

अवग्रह

ईहा

अवाय

धारणा

व्यवहार प्रत्यक्ष का क्रम-विभाग

ईहा और तर्क का भेद

प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी

अवग्रह आदि का काल मान

प्रत्यक्ष

'नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम'—प्रत्यक्ष-सिद्ध के लिए युक्ति की कोई आवश्यकता नहीं होती। स्वरूप की अपेक्षा ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। यथार्थता के क्षेत्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष का स्थान न्यूनाधिक नहीं है। अपने-अपने विषय में दोनों तुल्यबल हैं। सामर्थ्य की दृष्टि से दोनों में बड़ा अन्तर है। प्रत्यक्ष ज्ञप्तिकाल में स्वतन्त्र होता है और परोक्ष साधन-परतन्त्र। फलतः प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यवहित (साक्षात्) सम्बन्ध होता है और परोक्ष का व्यवहित (दूसरे के माध्यम से)।

प्रत्यक्ष-परिवार

प्रत्यक्ष की दो प्रधान शाखाएं हैं—(१) आत्म-प्रत्यक्ष (२) इन्द्रिय-अनिन्द्रिय-प्रत्यक्ष। पहली परमार्थाश्रयी है, इसलिए यह वास्तविक प्रत्यक्ष है और दूसरी व्यवहाराश्रयी है, इसलिए यह औपचारिक प्रत्यक्ष है।

आत्म-प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—(१) केवल ज्ञान—पूर्ण या सकल-प्रत्यक्ष, (२) नो-केवलज्ञान—अपूर्ण या विकल-प्रत्यक्ष।

नो-केवल ज्ञान के दो भेद हैं—अवधि और मनः पर्यव।

इन्द्रिय-अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष के चार प्रकार हैं—

(१) अवग्रह

(२) ईहा

(३) अवाय

(४) धारणा

प्रत्यक्ष का लक्षण

आत्म-प्रत्यक्ष—आत्मा—पदार्थ।

इन्द्रिय प्रत्यक्ष—आत्मा—इन्द्रिय—पदार्थ।

(१) आत्म-प्रत्यक्ष—

इन्द्रिय मन और प्रमाणान्तर का सहारा लिए बिना आत्मा को पदार्थ

का साक्षात् ज्ञान होता है। उसे आत्म-प्रत्यक्ष, पारमार्थिक-प्रत्यक्ष या नो—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कहते हैं।

(२) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष

इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय के लिए प्रत्यक्ष और आत्मा के लिए परोक्ष होता है, इसलिए उसे इन्द्रिय-प्रत्यक्ष या संव्यवहार-प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियां धूम आदि लिङ्ग का सहारा लिए बिना अग्नि आदि का साक्षात् करती हैं, इसलिए यह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है।

आचार्य सिद्धसेन ने 'अपरोक्षतया अर्थ-परिच्छेदक ज्ञान' को प्रत्यक्ष कहा है[1]। इसमें 'अपरोक्ष' शब्द विशेष महत्त्व का है। नैयायिक 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान' को प्रत्यक्ष मानते हैं। आचार्य सिद्धसेन ने 'अपरोक्ष' शब्द के द्वारा उससे असहमति प्रकट की है। इन्द्रिय के माध्यम से होने वाला ज्ञान आत्मा (प्रमाता) के साक्षात् नहीं होता, इसलिए वह प्रत्यक्ष नहीं है। ज्ञान की प्रत्यक्षता के लिए अर्थ और उसके बीच अव्यवधान होना जरूरी है।

आचार्य सिद्धसेन की इस निश्चयमूलक दृष्टि का आधार भगवती[2] और स्थानाङ्ग की प्रमाण-व्यवस्था है[3]। आचार्य अकलंक की व्याख्या के अनुसार—'विशद ज्ञान प्रत्यक्ष है[4]। अपरोक्ष के स्थान पर 'विशद' को 'लक्षण' में स्थान देने का एक कारण है। आचार्य अकलंक की प्रमाण-व्यवस्था में व्यवहार-दृष्टि का भी आश्रयण है, जिसका आधार नन्दी की प्रमाण-व्यवस्था है[5]। इसके अनुसार प्रत्यक्ष के दो भेद होते हैं—मुख्य और संव्यवहार। मुख्य-प्रत्यक्ष वही है, जो अपरोक्षतया अर्थ ग्रहण करे। संव्यवहार प्रत्यक्ष में अर्थ का ग्रहण इन्द्रिय के माध्यम से होता है, उसमें 'अपरोक्षतया-अर्थ-ग्रहण' लक्षण नहीं बनता। इसलिए दोनों की संगति करने के लिए 'विशद' शब्द की योजना करनी पड़ी।

'विशद' का अर्थ है—प्रमाणान्तर की अनपेक्षा (अनुमान आदि की अपेक्षा न होना) और 'यह है' ऐसा प्रतिभास होना[6]। संव्यवहार-प्रत्यक्ष अनुमान आदि की अपेक्षा अधिक प्रकाशक होता है—'यह है' ऐसा प्रतिभास होता है, इसलिए इसकी 'विशुद्धता' निर्बाध है।

यद्यपि 'अपरोक्ष' का वेदान्त के और विशद का बौद्ध के प्रत्यक्ष-लक्षण से अधिक सामीप्य है, फिर भी उसके विषय-ग्राहक स्वरूप में मौलिक भेद हैं। वेदान्त के मतानुसार पदार्थ का प्रत्यक्ष अन्तःकरण (आन्तरिक इन्द्रिय) की वृत्ति के माध्यम से होता है[७]। अन्तःकरण दृश्यमान पदार्थ का आकार धारण करता है। आत्मा अपने शुद्ध-साक्षी चैतन्य से उसे प्रकाशित करता है, तब प्रत्यक्ष ज्ञान होता है[८]।

जैन-दृष्टि के अनुसार प्रत्यक्ष में ज्ञान और ज्ञेय के बीच दूसरी कोई शक्ति नहीं होती। शुद्ध चैतन्य के द्वारा अन्तःकरण को प्रकाशित मानें और अन्तःकरण की पदार्थाकार परिणति मानें, यह प्रक्रियागौरव है। आखिर शुद्ध चैतन्य के द्वारा एक को प्रकाशित मानना ही है, तब पदार्थ को ही क्यों न मानें।

बौद्ध प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार निर्विकल्प-बोध (दर्शन) निर्णायक नहीं होता, इसलिए वह प्रत्यक्ष तो क्या प्रमाण ही नहीं बनता।

समन्वय का फलित रूप

अपरोक्ष और विशद का समन्वय करने पर सहाय-निरपेक्ष अर्थ फलित होता है। 'अपरोक्ष' यह परिभाषा परोक्ष-लक्षणाश्रित है। 'विशद' यह आकांक्षा-सापेक्ष है। वैशद्य का क्या अर्थ है, इसकी अपेक्षा रहती है। 'सहाय-निरपेक्ष प्रत्यक्ष' इसमें यह आकांक्षा अपने आप पूरी हो जाती है। जो सहाय[९]-निरपेक्ष-आत्म-व्यापारमात्रापेक्ष होगा, वह विशद भी होगा और अपरोक्ष भी[१०]। व्यवहार प्रत्यक्ष में प्रमाणान्तर की और वास्तविक-प्रत्यक्ष में प्रमाणान्तर और पौद्‌गलिक इन्द्रिय—इन दोनों की सहायता अपेक्षित नहीं होती।

केवलज्ञान

अनावृत्त अवस्था में आत्मा के एक या अखण्ड ज्ञान होता है, वह केवल-ज्ञान है। जैन-दृष्टि में आत्मा ज्ञान का अधिकरण नहीं, किन्तु ज्ञान-स्वरूप है। इसीलिए कहा जाता है—चेतन आत्मा का जो निरावरण-स्वरूप है, वही केवल-ज्ञान है। वास्तव में 'केवल' व्यतिरिक्त कोई ज्ञान नहीं है। बाकी के सब ज्ञान

इसी की आवरण-दशा के तारतम्य से बनते हैं। जयाचार्य ने ज्ञान के भेद-अभेद की मीमांसा करते हुए समझाया है—"माना कि एक चांदी की चौकी धूल से ढकी हुई है। उसके किनारों पर से धूल हटने लगी। एक कोना दीखा, हमने एक चीज मान ली। दूसरा दीखा तब दो, इसी प्रकार तीसरे और चौथे कोने के दीखने पर चार चीजें मान लीं। बीच में से धूल नहीं हटी, इसलिए उन चारों की एकता का हमें पता नहीं लगा। ज्यों ही बीच की धूल हटी, चौकी सामने आई। हमने देखा कि वे चारों चीजें उसी एक में समा गई हैं। ठीक वैसे ही केवलज्ञान ढका रहता है तब तक उसके अल्प-विकसित छोरों को भिन्न-भिन्न ज्ञान माना जाता है। आवरण-विलय (घाति कर्म चतुष्टय का क्षय) होने पर जब केवलज्ञान प्रकट होता है[11], तब ज्ञान के छोटे-छोटे सब भेद उसमें विलीन हो जाते हैं। फिर आत्मा में सब द्रव्य और द्रव्यगत सब परिवर्तनों को साक्षात् करने वाला एक ही ज्ञान रहता है, वह है केवलज्ञान। त्रिकालवर्ती प्रमेय मात्र इसके विषय बनते हैं, इसलिए यह पूर्ण-प्रत्यक्ष कहलाता है। इसकी आवृत दशा में अवधि और मनः पर्यव अपूर्ण (विकल) प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

व्यवहार-प्रत्यक्ष

(अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा)

इन्द्रिय और मन का ज्ञान अल्प-विकसित होता है, इसलिए पदार्थ के ज्ञान में उनका एक निश्चित क्रम रहता है। हमें उनके द्वारा पहले-पहल वस्तु-मात्र—सामान्य रूप या एकता का बोध होता है। उसके बाद क्रमशः वस्तु की विशेष अवस्थाएं या अनेकता जानी जाती हैं। एकता का बोध सुलभ और अल्प समय-लभ्य होता है उस दशा में अनेकता का बोध यत्नसाध्य और दीर्घकाललभ्य होता है। उदाहरणस्वरूप—गांव है, वन है, सभा है, पुस्तकालय है, घड़ा है, कपड़ा है, यह बोध हजार घर हैं, सौ वृक्ष हैं, चार सौ आदमी हैं, दस हजार पुस्तकें हैं, अमुक-परिमाण मृत् कण हैं, अमुक परिमाण तन्तु हैं—से पहले और सहज-सरल होता है। 'आम एक वृक्ष है—इससे पहले वृक्षत्व का बोध होना आवश्यक है। आम पहले वृक्ष है और बाद में आम।

विशेष का बोध सामान्यपूर्वक होता है। सामान्य व्यापक होता है और

विशेष व्याप्य। धर्मी अनेक धर्मों का, अवयवी अनेक अवयवों का, समष्टि अनेक व्यक्तियों का पिण्ड होता है।

एकता का रूप स्थूल और स्पष्ट होता है, इसलिए हमारा स्थूल ज्ञान पहले उसी को पकड़ता है। अनेकता का रूप सूक्ष्म और अस्पष्ट होता है, इसलिए उसे जानने के लिए विशेष मनोयोग लगाना पड़ता है। फिर क्रमशः पदार्थ के विविध पहलुओं का निश्चय होता है। निश्चय की तीन सीमाएं हैं :—

(१) दृश्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय—अर्थमात्र-ग्रहण।

(२) आलोचनात्मक निश्चय—स्वरूप-विमर्श।

(३) अपायात्मक निश्चय—स्वरूप-निर्णय।

इनकी पृष्ठ-भूमि में दो बातें अपेक्षित हैं :—

(१) इन्द्रियों और पदार्थ का उचित स्थान में योग (सन्निकर्ष या सामीप्य)।

(२) दर्शन—निर्विकल्प-बोध, सामान्य मात्र (सत्तामात्र) का ग्रहण।

पूरा क्रम यों बनता है :—

(१) इन्द्रिय और अर्थ का उचित योग—शब्द और श्रोत्र का सन्निकर्ष (उसके बाद)

(२) निर्विकल्प बोध द्वारा सत्ता मात्र का ज्ञान। जैसे—'है'···। (उसके बाद)

(३) ग्राह्य वस्तु का सत्तात्मक निश्चय। जैसे—'यह वस्तु है'। (उसके बाद)

(४) आलोचनात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द होना चाहिए'। (उसके बाद)

(५) अपायात्मक निश्चय। जैसे—'यह शब्द ही है'। यहाँ निश्चय की पूर्णता होती है। (उसके बाद)

(६) निश्चय की धारणा। जैसे—'तद्रूप शब्द ही होता है'। यहाँ व्यवहार प्रत्यक्ष समाप्त हो जाता है।

अवग्रह

अवग्रह का अर्थ है पहला ज्ञान। इन्द्रिय और वस्तु का सम्बन्ध होते ही

'सत्ता है' का बोध जाग उठता है। प्रमाता इसे जान नहीं पाता। इसमें विशेष धर्म का बोध नहीं होता, इसलिए प्रमाण नहीं कहा जा सकता। फिर भी यह उत्तर भावी-अवग्रह प्रमाण का परिणामी कारण है। इसके बाद स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र का व्यञ्जन-अवग्रह होता है। 'व्यञ्जन' के तीन अर्थ हैं—(१) शब्द आदि पुद्गल द्रव्य (२) उपकरण—इन्द्रिय—विषय—ग्राहक इन्द्रिय (३) विषय और उपकरण इन्द्रिय का संयोग। व्यञ्जन-अवग्रह अव्यक्त ज्ञान होता है[१२]। प्रमाता अब भी नहीं जानता। इसके बाद होता है—अर्थ का अवग्रह।

अर्थ शब्द के दो अर्थ होते हैं (१) द्रव्य (सामान्य)(२) पर्याय (विशेष)। अवग्रह आदि पर्याय के द्वारा द्रव्य को ग्रहण करते हैं, पूर्ण द्रव्य को नहीं जान सकते। इन्द्रियां अपने-अपने विषयभूत वस्तु पर्यायों को जानती हैं और मन भी एक साथ नियत अंश का ही विचार करता है।

अर्थावग्रह व्यञ्जनावग्रह से कुछ व्यक्त होता है, जैसे—'यह कुछ है'—यह सामान्य अर्थ का ज्ञान है। सामान्य का निर्देश हो सकता है (कहा जा सकता है) जैसे—वन, सेना, नगर आदि-आदि। अर्थावग्रह का विषय अनिर्देश्य-सामान्य होता है—किसी भी शब्द के द्वारा कहा नहीं जा सके, वैसा होता है। तात्पर्य यह है कि अर्थावग्रह के द्वारा अर्थ के अनिर्देश्य सामान्यरूप का ज्ञान होता है। दर्शन के द्वारा 'सत्ता है' का बोध होता है। अर्थावग्रह के द्वारा 'वस्तु है' का ज्ञान होता है। सत्ता से यह ज्ञान सिर्फ इतना सा आगे बढ़ता है। इसमें अर्थ के स्वरूप, नाम, जाति, क्रिया, गुण, द्रव्य आदि की कल्पना के अन्तर्गत शाब्दिक प्रतीति नहीं होती[१३]। अर्थावग्रह से ज्ञात अर्थ का स्वरूप क्या है, नाम क्या है, वह किस जाति का है, उसकी क्रिया क्या है, गुण क्या है, कौन सा द्रव्य है, यह नहीं जाने जाते। इन्हें जाने बिना (स्वरूप आदि की कल्पना के बिना) अर्थ सामान्य का निर्देश भी नहीं किया जा सकता। उक्त स्वरूप के आधार पर इसकी यह परिभाषा बनती है—"अनिर्देश्य-सामान्य अर्थ को जानने वाला ज्ञान अर्थावग्रह होता है।"

प्रश्न हो सकता है कि अनध्यवसाय और अर्थावग्रह दोनों सामान्यग्राही हैं तब एक को अप्रमाण और दूसरे को प्रमाण क्यों माना जाए? उत्तर साफ है।

अनध्यवसाय अर्थावग्रह का ही आभास है। अर्थावग्रह के दो रूप बनते हैं—निर्णयोन्मुख और अनिर्णयोन्मुख। अर्थावग्रह निर्णयोन्मुख होता है, तब प्रमाण होता है और जब वह निर्णयोन्मुख नहीं होता अनिर्णय में ही रुक जाता है, तब वह अनध्यवसाय कहलाता है। इसीलिए अनध्यवसाय का अवग्रह में समावेश होता है[१४]।

ईहा

अवग्रह के बाद संशय ज्ञान होता है। 'यह क्या है ?—शब्द है अथवा स्पर्श ?' इसके अनन्तर ही जो सत्-अर्थ का साधक वितर्क उठता है—'यह श्रोत्र का विषय है, इसलिए 'शब्द होना चाहिए', इस प्रकार अवग्रह द्वारा जाने हुए पदार्थ के स्वरूप का निश्चय करने के लिए विमर्श करने वाले ज्ञान-क्रम का नाम 'ईहा' है। इसकी विमर्श-पद्धति अन्वय-व्यतिरेकपूर्वक होती है। ज्ञात वस्तु के प्रतिकूल तथ्यों का निरसन और अनुकूल तथ्यों का संकलन कर यह उसके स्वरूप निर्णय की परम्परा को आगे बढ़ाता है।

ईहा से पहले संशय होता है पर वे दोनों एक नहीं हैं। संशय कोरा विकल्प खड़ा कर देता है किन्तु समाधान नहीं करता। ईहा संशय के द्वारा खड़े किये हुए विकल्पों को पृथक् करती है। संशय समाधायक नहीं होता, इसीलिए उसे ज्ञानक्रम में नहीं रखा जाता। अवग्रह में अर्थ के सामान्य रूप का ग्रहण होता है और ईहा में उसके विशेष धर्मों (स्वरूप, नाम जाति आदि) का पर्यालोचन शुरू हो जाता है।

अवाय

ईहा के द्वारा ज्ञात सत्-अर्थ का निर्णय होता है, जैसे—'यह शब्द ही है, स्पर्श, नहीं है'—उसका नाम 'अवाय' है। यह ईहा के पर्यालोचन का समर्थन ही नहीं करता, किन्तु उसका विशेष अवधानपूर्वक निर्णय भी कर डालता है।

धारणा

अवाय द्वारा किया गया निर्णय कुछ समय के लिए टिकता है और मन के विषयान्तरित होते ही वह चला जाता है। पीछे अपना संस्कार छोड़ जाता है। वह स्मृति का हेतु होता है।

धारणाकाल में जो सतत उपयोग चलता है, उसे अविच्युति कहा जाता है। उपयोगान्तर होने पर धारणा वासना के रूप में परिवर्तित हो जाती है। यही वासना कारण-विशेष से उद्‌बुद्ध होकर स्मृति का कारण बनती है। वासना स्वयं ज्ञान नहीं है किन्तु अविच्युति का कार्य और स्मृति का कारण होने से दो ज्ञानों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में ज्ञान मानी जाती है।

व्यवहार-प्रत्यक्ष की परम्परा यहाँ पूरी हो जाती है। इसके बाद स्मृति आदि की परोक्ष परम्परा शुरू होती है।

अवग्रह के दो भेद हैं—व्यावहारिक और नैश्चयिक।

श्री भिक्षुन्यायकर्णिका में व्यवहार-प्रत्यक्ष की जो रूपरेखा है, वह नैश्चयिक अवग्रह की भित्ति पर है। व्यावहारिक अवग्रह की धारा का रूप कुछ दूसरा बनता है।

नैश्चयिक अवग्रह अविशेषित-सामान्य का ज्ञान कराने वाला होता है। इसकी चर्चा ऊपर की गई है। व्यावहारिक अवग्रह विशेषित-सामान्य को ग्रहण करने वाला होता है। नैश्चयिक अवग्रह के बाद होने वाले ईहा, अवाय से जिसके विशेष धर्मों की मीमांसा हो चुकती है, उसी वस्तु के नये-नये धर्मों की जिज्ञासा और निश्चय करना व्यावहारिक अवग्रह का का काम है। अवाय के द्वारा एक तथ्य का निश्चय होने पर फिर तत्सम्बन्धी दूसरे तथ्य की जिज्ञासा होती है, तब पहले का अवाय व्यावहारिक-अर्थावग्रह बन जाता है और उस जिज्ञासा के निर्णय के लिए फिर ईहा और अवाय होते हैं। यह काम तब तक चलता है, जब तक जिज्ञासाएँ पूरी नहीं होतीं।

नैश्चयिक अवग्रह की परम्परा—'यह शब्द ही है'—यहाँ समाप्त हो जाती है। इसके बाद व्यावहारिक-अवग्रह की धारा चलती है। जैसे :—

(१) व्यावहारिक अवग्रह—यह शब्द है।

[संशय—पशु का है या मनुष्य का ?]

(२) ईहा—स्पष्ट भाषात्मक है, इसलिए मनुष्य का होना चाहिए।

(३) अवाय—(विशेष परीक्षा के पश्चात्) मनुष्य का ही है।

व्यवहार प्रत्यक्ष के उक्त आकार में—'यह शब्द है' यह अपायात्मक

निश्चय है। इसका फलित यह होता है कि नैश्चयिक अवग्रह का अपाय रूप व्यावहारिक अवग्रह का आदि रूप बनता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर अनेक जिज्ञासाएं हो सकती हैं। जैसे—

अवस्था-भेद से—यह शब्द बालक का है या बुड्ढे का?

लिङ्ग-भेद से स्त्री का है या पुरुष का? आदि-आदि।

व्यवहार-प्रत्यक्ष का क्रमविभाग

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा का न उत्क्रम होता है और न व्यतिक्रम। अर्थ ग्रहण के बाद ही विचार हो सकता है, विचार के बाद ही निश्चय और निश्चय के बाद ही धारणा। इसलिए ईहा अवग्रहपूर्वक होती है, अवाय ईहापूर्वक और धारणा अवायपूर्वक।

व्यवहार-प्रत्यक्ष के ये विभाग निर्हेतुक नहीं हैं। यद्यपि वे एक-वस्तु-विषयक ज्ञान की धारा के अविरल रूप हैं, फिर भी उनकी अपनी विशेष स्थितियां हैं, जो उन्हें एक दूसरे से पृथक् करती हैं। (१) 'यह कुछ है'—इतना-सा ज्ञान होते ही प्रमाता दूसरी बात में ध्यान देने लगा, बस वह फिर आगे नहीं बढ़ता। इसी प्रकार 'यह अमुक होना चाहिए'—'यह अमुक ही है'—यह भी एक-एक हो सकते हैं। यह एक स्थिति है जिसे 'असामस्त्येन उत्पत्ति' कहा जाता है।

(२) दूसरी स्थिति है—'क्रमभावित्व'—धारा-निरोध। इनकी धारा अन्त तक चले, यह कोई नियम नहीं किन्तु जब चलती है तब क्रम का उल्लंघन नहीं होता। 'यह कुछ है' इसके बिना 'यह अमुक होना चाहिए'—यह ज्ञान नहीं होता। 'यह अमुक होना चाहिए'—इसके बिना 'यह अमुक ही है' यह नहीं जाना जाता। 'यह अमुक ही है'—इसके बिना धारणा नहीं होती।

(३) तीसरी स्थिति है—'क्रमिक प्रकाश'—ये एक ही वस्तु के नये-नये पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं। इससे एक बात और भी साफ होती है कि अपने-अपने विषय में इन सबकी निर्णायकता है, इसलिए ये सब प्रमाण हैं। अवाय स्वतन्त्र निर्णय नहीं करता। ईहा के द्वारा ज्ञात अंश की अपेक्षा से ही उस पर विशेष प्रकाश डालता है।

अपरिचित वस्तु के ज्ञान में इस क्रम का सहज अनुभव होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं, हम एक-एक तथ्य का संकलन करते-करते अन्तिम तथ्य तक पहुँचते हैं। परिचित वस्तु को जानते समय हमें इस क्रम का स्पष्ट भान नहीं होता। इसका कारण है—'ज्ञान का आशु उत्पाद'—शीघ्र उत्पत्ति। वहाँ भी यह क्रम नहीं टूटता। क्षण भर में बिजली-घर से सुदूर तक बिजली पहुँच जाती है। एक साथ नहीं जाती—गति में क्रम होता है किन्तु गति का वेग अति तीव्र होता है, इसलिए वह सहज बुद्धिगम्य नहीं होता।

संशय, ईहा और अवाय का क्रम गौतमोक्त सोलह पदार्थगत संशय,[१५] तर्क[१६] और निर्णय के साथ तुलनीय है[१७]।

ईहा और तर्क का भेद

परोक्ष प्रमाणगत तर्क से ईहा भिन्न है। तर्क से व्याप्ति (अन्वय व्यतिरेक का त्रैकालिक नियम) का निर्णय होता है और ईहा से केवल वर्तमान अर्थ का अन्वय व्यतिरेकपूर्वक विमर्श होता है[१८]।

न्याय के अनुसार अविज्ञात वस्तु को जानने की इच्छा होती है। जिज्ञासा के बाद संशय उत्पन्न होता है। संशयावस्था में जिस पक्ष की ओर कारण की उत्पत्ति देखने में आती है, उसी की सम्भावना मानी जाती है और वही सम्भावना तर्क है। 'संशयावस्था में तर्क का प्रयोजन होता है'—यह लक्षण ईहा के साथ संगति कराने वाला है।

प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी

साधारणतया पाँच इन्द्रियां समकक्ष मानी जाती हैं किन्तु योग्यता की दृष्टि से चक्षु का स्थान कुछ विशेष है। शेष चार इन्द्रियां अपना विषय ग्रहण करने में पटु हैं। इस दशा में चक्षु पटुतर है।

स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र ग्राह्य वस्तु से संपृक्त होने पर उसे जानते हैं, इसलिए वे पटु हैं। चक्षु ग्राह्य वस्तु को उचित सामीप्य से ही जान लेता है, इसलिए यह पटुतर है। पटु इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं, इसलिए उनका व्यञ्जनावग्रह होता है। चक्षु प्राप्यकारी नहीं, इसलिए इसका व्यञ्जनावग्रह नहीं होता।

व्यञ्जनावग्रह सम्पर्कपूर्वक होने वाला अव्यक्त ज्ञान है। अर्थावग्रह उसी का चरम अंश है। पटु इन्द्रियां एक साथ विषय को पकड़ नहीं सकतीं। व्यञ्जनावग्रह के द्वारा अव्यक्त ज्ञान होते-होते जब वह पुष्ट हो जाता है, तब उसको अर्थ का अवग्रह होता है। चक्षु अपना विषय तत्काल पकड़ लेता है, इसलिए उसे पूर्वभावी अव्यक्त ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती।

मन की भी यही बात है। वह चक्षु की भांति व्यवहित पदार्थ को जान लेता है, इसलिए उसे भी व्यञ्जनावग्रह की उपेक्षा नहीं होती।

बौद्ध श्रोत्र को भी अप्राप्यकारी मानते हैं। नैयायिक-वैशेषिक चक्षु और मन को अप्राप्यकारी नहीं मानते। उक्त दोनों दृष्टियों से जैन दृष्टि भिन्न है।

श्रोत्र व्यवहित शब्द को नहीं जानता। जो शब्द श्रोत्र से संपृक्त होता है, वही उसका विषय बनता है। इसलिए श्रोत्र अप्राप्यकारी नहीं हो सकता। चक्षु और मन व्यवहित पदार्थ को जानते हैं, इसलिए वे प्राप्यकारी नहीं हो सकते। इनका ग्राह्य वस्तु के साथ सम्पर्क नहीं होता।

विज्ञान के अनुसार

······चक्षु में दृश्य वस्तु का तदाकार प्रतिबिम्ब पड़ता है। उससे चक्षु को अपने विषय का ज्ञान होता है। नैयायिकों की प्राप्यकारिता का आधार है चक्षु की सूक्ष्म-रश्मियों का पदार्थ से संपृक्त होना। विज्ञान इसे स्वीकार नहीं करता। वह आँख को एक बढ़िया कैमेरा (Camera) मानता है। उसमें दूरस्थ वस्तु का चित्र अंकित हो जाता है। जैन दृष्टि की अप्राप्यकारिता में इससे कोई बाधा नहीं आती। कारण कि विज्ञान के अनुसार चक्षु का पदार्थ के साथ सम्पर्क नहीं होता। काच स्वच्छ होता है, इसलिए उसके सामने जो वस्तु आती है, उसकी छाया काच में प्रतिबिम्बित हो जाती है। ठीक यही प्रक्रिया आँख के सामने कोई वस्तु आने पर होती है। काच में पड़ने वाला वस्तु का प्रतिबिम्ब और वस्तु एक नहीं होते, इसलिए काच उस वस्तु से संपृक्त नहीं कहलाता। ठीक यही बात आँख के लिए है।

व्यवहार प्रत्यक्ष के २८ भेद :—

	अवग्रह		ईहा	अवाय	धारणा
	व्यञ्जनावग्रह	अर्थावग्रह			
स्पर्शन	,,	,,	,,	,,	,,
रसन	,,	,,	,,	,,	,,
घ्राण	,,	,,	,,	,,	,,
चक्षु	×	,,	,,	,,	,,
श्रोत्र	,,	,,	,,	,,	,,
मन	×	,,	,,	,,	,,

अवग्रह आदि का काल मान

व्यञ्जनावग्रह—असंख्य समय।

अर्थावग्रह—एक समय।

ईहा—अन्तर-मुहूर्त्त।

अवाय—अन्तर-मुहूर्त्त।

धारणा—संख्येय काल और असंख्येय काल।

मति के दो भेद हैं—(१) श्रुत-निश्रित (२) अश्रुत-निश्रत [१९]। श्रुत-निश्रित मति के २८ भेद हैं, जो व्यवहार-प्रत्यक्ष कहलाते हैं [२०]। औत्पत्तिकी आदि बुद्धि-चतुष्टय अश्रुत-निश्रित है [२१]। नन्दी में श्रुत-निश्रित मति के २८ भेदों का विवरण है। अश्रुत निश्रित के चार भेदों का इन में समावेश होता है या नहीं इसकी कोई चर्चा नहीं। मति के २८ भेद वाली परम्परा सर्वमान्य है किन्तु २८ भेदों की स्वरूप रचना में दो परम्पराएँ मिलती हैं। एक परम्परा अवग्रह-अभेदवादियों की है। इसमें व्यञ्जनावग्रह की अर्थावग्रह से भिन्न गणना नहीं होती, इसलिए श्रुत निश्रित मति के २४ भेद व अश्रुत-निश्रित के चार—इस प्रकार मति के २८ भेद बनते हैं [२२]।

दूसरी परम्परा जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण की है। इसके अनुसार अवग्रह आदि चतुष्टय अश्रुत-निश्रित और श्रुत-निश्रित मति के सामान्य धर्म हैं, इसलिए भेद-गणना में अश्रुत-निश्रित मति श्रुत-निश्रित में समाहित हो जाती है [२३]।

फलस्वरूप व्यवहार प्रत्यक्ष के २८ भेद और मति के २८ भेद एक रूप बन जाते हैं। इसका आधार स्थानाङ्ग २-१-७१ है। वहाँ व्यञ्जनावग्रह और अर्थावग्रह की श्रुत-निश्रित और अश्रुत-निश्रित—इन दोनों भेदों में गणना की है। अश्रुत-निश्रित बुद्धि-चतुष्टय मानस ज्ञान होता है। उसका व्यञ्जनावग्रह नहीं होता, इससे फलित होता है कि बुद्धि-चतुष्टय के अतिरिक्त भी अवग्रह आदि चतुष्क अश्रुत-निश्रित होता है।

नन्दी के अनुसार अवग्रहादि चतुष्क केवल श्रुत-निश्रित हैं। विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार वह श्रुत-निश्रित और अश्रुत निश्रित दोनों है। स्थानाङ्ग के अनुसार वह दोनों तो है ही, विशेष बात यह है कि बुद्धि-चतुष्टय में होने वाला अवग्रहादि चतुष्क ही अश्रुत-निश्रित नहीं किन्तु उसके अतिरिक्त भी अवग्रहादि चतुष्क अश्रुत-निश्रित होता है[२४]।

ग्यारह

२७७—२९४

परोक्ष प्रमाण

परोक्ष

स्मृति प्रामाण्य

प्रत्यभिज्ञा

तर्क का प्रयोजकत्व

अनुमान

अनुमान का परिवार

स्वार्थ और परार्थ

व्याप्ति

हेतु—भाव और अभाव

साध्य—धर्म और धर्मी

हेतु के प्रकार

विधि-साधक उपलब्धि हेतु

निषेध-साधक उपलब्धि हेतु

निषेध-साधक अनुपलब्धि हेतु

विधि-साधक अनुपलब्धि हेतु

परोक्ष

(१) इन्द्रिय और मन की सहायता से आत्मा को जो ज्ञान होता है, वह 'आत्म-परोक्ष' है।

आत्मा—इन्द्रिय ज्ञान—पौद्गलिक-इन्द्रिय—पदार्थ।

(२) धूम आदि की सहायता से अग्नि आदि का जो ज्ञान होता है, वह 'इन्द्रिय परोक्ष' है।

आत्मा—इन्द्रिय—धूम—अग्नि।

पहली परिभाषा नैश्चयिक है। इसके अनुसार संव्यवहार-प्रत्यक्ष को वस्तुतः परोक्ष माना जाता है।

मति और श्रुत—ये दोनों ज्ञान आत्म निर्भर नहीं हैं, इसलिए ये परोक्ष कहलाते हैं [1]। मति, साक्षात् रूप में पौद्गलिक इन्द्रिय और मन के और परम्परा के रूप में अर्थ और आलोक के, अधीन होती है। श्रुत, साक्षात् रूप में मन के और परम्परा के रूप में शब्द-संकेत तथा इन्द्रिय (मति-ज्ञानांश) के अधीन होता है। मति में इन्द्रिय मन की अपेक्षा समकक्ष है, श्रुत में मन का स्थान पहला है।

मति के दो साधन हैं—इन्द्रिय और मन। मन द्विविध धर्मा है—अवग्रह आदि धर्मवान् और स्मृत्यादि धर्मवान्। इस स्थिति में मति दो भागों में बंट जाती है—(१) व्यवहार-प्रत्यक्ष मति। (२) परोक्ष-मति। इन्द्रियात्मक और अवग्रहादि धर्मक मनरूप मति व्यवहार-प्रत्यक्ष है, जिसका स्वरूप प्रत्यक्ष-विभाग में बतलाया जा चुका है।

स्मृत्यादि धर्मक, मन रूप परोक्ष-मति के चार विभाग होते हैं :—

(१) स्मृति।

(२) प्रत्यभिज्ञा।

(३) तर्क।

(४) अनुमान।

स्मृति धारणामूलक, प्रत्यभिज्ञा स्मृति और अनुभवमूलक, तर्क प्रत्यभिज्ञा-मूलक, अनुमान तर्क निर्णीत साधनमूलक होते हैं, इसलिए ये परोक्ष हैं। श्रुत

का साधन मन होता है। उसका एक भेद है—'आगम'। वह वचनमूलक होता है, इसलिए परोक्ष है।

स्मृति प्रामाण्य

जैन तर्क-पद्धति के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्राच्य भारतीय तर्क-पद्धति में स्मृति का प्रामाण्य स्वीकृत नहीं है। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि स्मृति अनुभव के द्वारा गृहीत विषय को ग्रहण करती है, इसलिए गृहीतग्राही होने के कारण वह अप्रमाण है—स्वतन्त्र प्रमाण नहीं है। जैन दर्शन की युक्ति यह है कि अनुभव वर्तमान अर्थ को ग्रहण करता है और स्मृति अतीत अर्थ को, इसलिए यह कथंचित् अगृहीतग्राही है। काल की दृष्टि से इसका विषय स्वतन्त्र है। दूसरी बात—गृहीतग्राही होने मात्र से स्मृति का प्रामाण्य धुल नहीं जाता।

प्रामाण्य का प्रयोजक अविसंवाद होता है, इसलिए अविसंवादक स्मृति का प्रामाण्य अवश्य होना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञा

न्याय, वैशेषिक और मीमांसक प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष से पृथक् नहीं मानते। क्षणिकवादी बौद्ध की दृष्टि में प्रत्यक्ष और स्मृति की संकलना हो भी कैसे सकती है।

जैन-दृष्टि के अनुसार यह प्रत्यक्ष ज्ञान हो नहीं सकता। प्रत्यक्ष का विषय होता है—दृश्य वस्तु (वर्तमान-पर्यायव्यापी द्रव्य)। इसका (प्रत्यभिज्ञा) का विषय बनता है संकलन—अतीत और प्रत्यक्ष की एकता, पूर्व और अपर पर्यायव्यापी द्रव्य, अथवा दो प्रत्यक्ष द्रव्यों या दो परोक्ष द्रव्यों का संकलन। हमारा प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय-प्रत्यक्ष की भांति त्रिकालविषयक नहीं होता, इसलिए उससे सामने खड़ा व्यक्ति जाना जा सकता है किन्तु 'यह वही व्यक्ति है'—यह नहीं जाना जा सकता। उसकी एकता का बोध स्मृति के मेल से होता है, इसलिए यह अस्पष्ट-परोक्ष है। प्रत्यक्ष और तर्क के मेल से होने वाला अनुमान स्वतन्त्र प्रमाण है, तब फिर प्रत्यक्ष और स्मृति के मेल से होने वाली प्रत्यभिज्ञा का स्वतन्त्र स्थान क्यों नहीं होना चाहिए?

प्रत्यक्षद्वय के संकलन में दोनों वस्तुएं सामने होती हैं फिर भी उनका

संकलन इन्द्रिय से नहीं होता, विचारने से होता है। विचार के समय उनमें से एक ही वस्तु मन के प्रत्यक्ष होती है, इसलिए यह भी प्रत्यक्ष नहीं होता। परोक्ष द्वय के संकलन में दोनों वस्तुएं सामने नहीं होतीं, इसलिए वह प्रत्यक्ष का स्पर्श नहीं करता।

प्रत्यभिज्ञा को दूसरे शब्दों में तुलनात्मक ज्ञान, उपमित करना या पहचानना भी कहा जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञान में दो अर्थों का संकलन होता है। उसके तीन रूप बनते हैं—

(१) प्रत्यक्ष और स्मृति का संकलन :—

(क) यह वही निर्ग्रन्थ है।

(ख) यह उसके सदृश है।

(ग) यह उससे विलक्षण है।

(घ) यह उससे छोटा है।

पहले आकार में—निर्ग्रन्थ की वर्तमान अवस्था का अतीत की अवस्था के साथ संकलन है, इसलिए यह 'एकत्व प्रत्यभिज्ञा' है।

दूसरे आकार में—दृष्ट वस्तु की पूर्व दृष्ट वस्तु से तुलना है। इसलिए यह 'सादृश्य प्रत्यभिज्ञा है।

तीसरे आकार में—दृष्ट वस्तु की पूर्व दृष्ट वस्तु से विलक्षणता है, इसलिए यह 'वैसदृश्य-प्रत्यभिज्ञा' है।

चौथे आकार में—दृष्ट वस्तु की पूर्व दृष्ट वस्तु प्रतियोगी है, इसलिए यह 'प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञा' है।

(२) दो प्रत्यक्षों का संकलन

(क) यह इसके सदृश है।

(ख) यह इससे विलक्षण है।

(ग) यह इससे छोटा है।

इसमें दोनों प्रत्यक्ष हैं।

(३) दो स्मृतियों का संकलन

(क) वह उसके सदृश है।

(ख) वह उससे विलक्षण है।

(ग) वह उससे छोटा है।

इसमें दोनों परोक्ष हैं।

तर्क

नैयायिक तर्क को प्रमाण का अनुग्राहक या सहायक मानते हैं[२]। बौद्ध इसे अप्रमाण मानते हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार यह परोक्ष-प्रमाण का एक भेद है। यह प्रत्यक्ष में नहीं समाता। प्रत्यक्ष से दो वस्तुओं का ज्ञान हो सकता है किन्तु वह उनके सम्बन्ध में कोई नियम नहीं बनाता।

यह अग्नि है, यह धुंआ है—यह प्रत्यक्ष का विषय है किन्तु :—

(१) धूम होने पर अग्नि अवश्य होती है। (२) धूम अग्नि में ही होता है।	अन्वय व्याप्ति
(३) अग्नि के अभाव में धूम नहीं होता।	व्यतिरेक व्याप्ति

—यह प्रत्यक्ष का काम नहीं, तर्क का है।

हम प्रत्यक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की सहायता से अनेक प्रामाणिक नियमों की सृष्टि करते हैं। वे ही नियम हमें अनुमान करने का साहस बंधाते हैं। तर्क को प्रमाण माने बिना अनुमान की प्रामाणिकता अपने आप मिट जाती है। तर्क और अनुमान की नींव एक है। भेद सिर्फ ऊपरी है। तर्क एक व्यापक नियम है और अनुमान उसका एकदेशीय प्रयोग। तर्क का काम है, धुएं के साथ अग्नि का निश्चित सम्बन्ध बताना। अनुमान का काम है, उस नियम के सहारे अमुक स्थान में अग्नि का ज्ञान कराना। तर्क से धुएं के साथ अग्नि की व्याप्ति जानी जाती है किन्तु इस पर्वत में 'अग्नि है' यह नहीं जाना जाता। 'इस पर्वत में अग्नि है'—यह अनुमान का साध्य है। तर्क का साध्य केवल अग्नि (धर्म) होता है। अनुमान का साध्य होता है—"अग्निमान् पर्वत" (धर्मी)। दूसरे शब्दों में तर्क के साध्य का आधार अनुमान का साध्य बनता है।

न्याय की तीन परिधियां हैं—

(१) सम्भव-सत्य।

(२) अनुमानतः सत्य ।

(३) ध्रुव सत्य ।

अकुशल व्यक्ति सम्भव-सत्य से सत्य को ढूंढता है । न्यायाधीश अनुमानित सत्य से सत्य का पता लगाते हैं। दार्शनिक का न्याय इन दोनों से भिन्न है। वह ध्रुव सत्य—व्याप्ति के द्वारा सत्य की शोध करता है। ध्रुव-सत्य नियमों की निश्चित जानकारी तर्क है । उसके द्वारा निश्चित नियमों के अनुसार अनुमान होता है।

तर्क का प्रयोजकत्व

"स्वभावे तार्किका भग्नाः"—स्वभाव के क्षेत्र में तर्क का कोई प्रयोजन नहीं होता। इसीलिए जैन दर्शन में दो प्रकार के पदार्थ माने हैं—हेतु गम्य (तर्क-गम्य) और अहेतुगम्य (तर्क-अगम्य)।

पहली बात—तर्क का अपना क्षेत्र कार्य-कारणवाद या अविनाभाव या व्याप्ति है। व्याप्ति का निश्चय तर्क के बिना और किसी से नहीं होता। इसका निश्चय अनुमान से किया जाये तो उसकी (व्याप्ति के निश्चय के लिए प्रयुक्त अनुमान की) व्याप्ति के निश्चय के लिए फिर एक दूसरे अनुमान की आवश्यकता होगी। कारण यह है कि अनुमान व्याप्ति का स्मरण होने पर ही होता है। साधन और साध्य के सम्बन्ध का निश्चय होने पर ही साध्य का ज्ञान होता है।

पहले अनुमान की व्याप्ति 'ठीक है या नहीं' इस निश्चय के लिए दूसरा अनुमान आये तो दूसरे अनुमान की वही गति होगी और उसकी व्याप्ति का निर्णय करने के लिए फिर तीसरा अनुमान आयेगा। इस प्रकार अनुमान-परम्परा का अन्त न होगा। यह अनवस्था का रास्ता है, इससे कोई निर्णय नहीं मिलता।

दूसरी बात—व्याप्ति अपने निश्चय के लिए अनुमान का सहारा ले और अनुमान व्याप्ति का—यह अन्योन्याश्रय दोष है। अपने-अपने निश्चय में परस्पर एक दूसरे के आश्रित होने का अर्थ है—अनिश्चय। जिसका यह घोड़ा है, मैं उसका सेवक हूं और जिसका मैं सेवक हूं उसका यह घोड़ा है—इसका अर्थ

यह हुआ कि कुछ भी समझ में नहीं आया। इसलिए व्याप्ति का निश्चय करने के लिए तर्क को प्रमाण मानना आवश्यक है।

अनुमान

अनुमान तर्क का कार्य है। तर्क द्वारा निश्चित नियम के आधार पर यह उत्पन्न होता है। पर्वत सिद्ध होता है और अग्नि भी। अनुमान इन्हें नहीं साधता। वह 'इस पर्वत में अग्नि है' (अग्निमानयं पर्वतः) इसे साधता है। इस सिद्धि का आधार व्याप्ति है।

अनुमान का परिवार

तर्क-शास्त्र के बीज का विकास अनुमानरूपी कल्पतरु के रूप में होता है। कई नैयायिक आचार्य पञ्चवाक्यात्मक प्रयोग को ही न्याय मानते हैं [३]। निगमन फल-प्राप्ति है। वह समस्त प्रमाणों के व्यापार से होती है [४]। प्रतिज्ञा में शब्द, हेतु में अनुमान, दृष्टान्त में प्रत्यक्ष, उपनय में उपमान—इस प्रकार सभी प्रमाण आ जाते हैं। इन सबके योग से फलितार्थ निकलता है—ऐसा न्याय-वार्तिककार का मत है। व्यवहार-दृष्टि से जैन-दृष्टि भी इससे सहमत है। यद्यपि पञ्चावयव में प्रमाण का समावेश करना आवश्यक नहीं लगता, फिर भी तर्क-शास्त्र का मुख्य विषय साधन के द्वारा साध्य की सिद्धि है, इसमें द्वैत नहीं हो सकता।

अनुमान अपने लिए स्वार्थ होता है, वैसे दूसरों के लिए परार्थ भी होता है। 'स्वार्थ' ज्ञानात्मक होता है और 'परार्थ' वचनात्मक। 'स्वार्थ' की दो शाखाएं होती हैं—पक्ष और हेतु। 'परार्थ' की, जहाँ श्रोता तीव्र बुद्धि होता है वहाँ सिर्फ ये दो शाखाएं और जहाँ श्रोता मंद बुद्धि होता है वहाँ पांच शाखाएं होती हैं —

(१) पक्ष।
(२) हेतु।
(३) दृष्टान्त।
(४) उपनय।
(५) निगमन।

स्वार्थ और परार्थ

अनुमान वास्तव में 'स्वार्थ' ही होता है। अनुमाता श्रोता को वचनात्मक हेतु के द्वारा साध्य का ज्ञान कराता है, तब वह वचन श्रोता के अनुमान का कारण बनता है। वचन-प्रतिपादक के अनुमान का कार्य और श्रोता के अनुमान का कारण बनता है। प्रतिपादक के अनुमान की अपेक्षा कार्य को कारण मानकर (कारण में कार्य का उपचार कर) और श्रोता के अनुमान की अपेक्षा कारण को कार्य मानकर (कार्य में कारण का उपचार कर) वचन को अनुमान कहा जाता है।

व्याप्ति

व्याप्ति के दो भेद हैं—अन्तर्व्याप्ति और बहिर्व्याप्ति। पक्षीकृत विषय में ही साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिले, अन्यत्र न मिले, यह अन्तर्व्याप्ति होती है। आत्मा है यह हमारा पक्ष है। 'चैतन्यगुण मिलता है, इसलिए वह है' यह हमारा साधन है। इसकी व्याप्ति यों बनती है—'जहाँ-जहाँ चैतन्य है, वहाँ-वहाँ आत्मा है'—किन्तु इसके लिए दृष्टान्त कोई नहीं बन सकता। क्योंकि यह व्याप्ति अपने विषय को अपने आप में समेट लेती है। उसका समानधर्मा कोई बचा नहीं रहता। बहिर्व्याप्ति में साधर्म्य मिलता है। पक्षीकृत विषय के सिवाय भी साधन की साध्य के साथ व्याप्ति मिलती है। पर्वत अग्निमान है'—यह पक्ष है। धूम है, इसलिए वह अग्निमान् है—यह साधन है। 'जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि है'—इसका दृष्टान्त बन सकता है—जैसे—रसोई घर या अन्य अग्निमान प्रदेश।

हेतु—भाव और अभाव

अभाव चार होते हैं[१]:—

(१) प्राक्।

(२) प्रध्वंस।

(३) इतरेतर।

(४) अत्यन्त।

भाव जैसे वस्तु स्वरूप का साधक है, वैसे अभाव भी। भाव के बिना वस्तु की सत्ता नहीं बनती तो अभाव के बिना भी उसकी सत्ता स्वतन्त्र नहीं बनती।

'है' यह जैसे वस्तु का स्वभाव है वैसे ही 'स्व लक्षण है—असंकीर्ण है'—यह भी उसका स्वभाव है।

अगर हम वस्तु को केवल भावात्मक मानें तो उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता। वह होता है। एक क्षण से दूसरे क्षण में, एक देश से दूसरे देश में, एक स्थिति से दूसरी स्थिति में वस्तु जाती है। यह कालकृत, देशकृत और अवस्थाकृत परिवर्तन वस्तु से सर्वथा भिन्न नहीं होता। दूसरे क्षण, देश और अवस्थावर्ती वस्तु से पहले क्षण, देश और अवस्थावर्ती वस्तु का सम्बन्ध जुड़ ही नहीं सकता, अगर अभाव उसका स्वभाव न हो। परिवर्तन का अर्थ ही यही है—भाव और अभाव की एकाश्रयता। 'सर्वथा मिट जाय, सर्वथा नया बन जाय' यह परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन यह होता है—'जो मिटे भी बने भी और फिर भी धारा न टूटे'।

उपादान कारण में इसकी साफ भावना है। कारण ही कार्य बनता है। कारण का भाव मिटता है, कार्य का अभाव मिटता है तब एक वस्तु बनती है। बनते बनते उसमें कारण का अभाव और कार्य का भाव आ जाता है। यह कार्यकारण सापेक्ष भावाभाव एक वस्तुगत होते हैं, वैसे ही स्वगुण-परगुणापेक्ष भावाभाव भी एक वस्तुगत होते हैं। अगर यह न माना जाय तो वस्तु निर्विकार, अनन्त, सर्वात्मक और एकात्मक बन जाएगी[1]। किन्तु ऐसा होता नहीं। वस्तु में विकार होता है। पहला रूप मिटता है, दूसरा बनता है। मिटने वाला रूप बनने वाले रूप का प्राक् अभाव होता है, दूसरे शब्दों में उपादान-कारण कार्य का प्राक्-अभाव होता है। बीज मिटा, अंकुर बना। बीज के मिटने की दशा में ही अंकुर का प्रादुर्भाव होगा। प्राक्-अभाव अनादि-सान्त है। जब तक बीज का अंकुर नहीं बनता, तब तक बीज में अंकुर का प्राक्-अभाव रहता है। अंकुर बनते ही प्राक्-अभाव मिट जाता है। जो लोग प्रत्येक अनादि वस्तु को नाश रहित (अनन्त) मानते हैं, यह अयुक्त है, यह इससे समझा जा सकता है।

प्राक्-अभाव जैसे निर्विकारता का विरोधी है, वैसे ही प्रध्वंसाभाव वस्तु की अनन्तता का विरोधी है। प्रध्वंस-अभाव न हो तो वस्तु बनने के बाद मिटने का नाम ही न ले, वह अनन्त हो जाय। पर ऐसा होता कहाँ है ?

दूसरी पर्याय बनती है, पहली मिट जाती है। वृक्ष कार्य है। वह टूटता है, तब उसकी लकड़ी बनती है। दूसरे कार्य में पहले कार्य का प्रध्वंस-रूप अभाव होता है। लकड़ी में वृक्ष का अभाव है या यों कहिए लकड़ी वृक्ष का प्रध्वंसाभाव है। लकड़ी की आविर्भाव-दशा में वृक्ष की तिरोभाव-दशा हुई है। प्रध्वंसाभाव सादि-अनन्त है। जिस वृक्ष की लकड़ी बनी, उससे वही वृक्ष कभी नहीं बनता। इससे यह भी समझिए कि प्रत्येक सादि पदार्थ सान्त नहीं होता।

ऊपर की पंक्तियों को थोड़े में यूं समझ लीजिए—वर्तमान दशा पूर्वदशा का कार्य बनती है और उत्तर दशा का कारण। पूर्वदशा उसका प्राक्-अभाव होता है और उत्तर दशा प्रध्वंस-अभाव।

एक बात और साफ कर लेनी चाहिए कि द्रव्य सादि-सान्त नहीं होते। सादि-सान्त द्रव्य की पर्याएं (अवस्थाएं) होती हैं। अवस्थाएं अनादि-अनन्त नहीं होतीं किन्तु पूर्व-अवस्था कारण रूप में अनादि है। उससे बनने वाली वस्तु पहले कभी नहीं बनी। उत्तर अवस्था मिटने के बाद फिर वैसी कभी नहीं बनेगी, इसलिए वह अनन्त है। यह सारी एक ही द्रव्य की पूर्व-उत्तरवर्ती दशाओं की चर्चा है। अब हमें अनेक सजातीय द्रव्यों की चर्चा करनी है। खम्भा पौद्गलिक और घड़ा भी पौद्गलिक है किन्तु खम्भा घड़ा नहीं है और घड़ा खम्भा नहीं है। दोनों एक जाति के हैं फिर भी दोनों दो हैं। यह 'इतर-इतर-अभाव' आपस में एक दूसरे का अभाव है [७]। खम्भे में घड़े का और घड़े में खम्भे का अभाव है। यह न हो तो हम वस्तु का लक्षण कैसे बनायें? किसको खम्भा कहें और किसको घड़ा। फिर सब एकमेक बन जाएंगे, यह अभाव सादि-सान्त है। खम्भे के पुद्गल स्कन्ध घड़े के रूप में और घड़े के पुद्गल-स्कंध खम्भे के रूप में बदल सकते हैं किन्तु सर्वथा विजातीय द्रव्य के लिए यह नियम नहीं। चेतन-अचेतन और अचेतन-चेतन तीन काल में भी नहीं होते। इसका नाम है—अत्यन्त अभाव [८]। यह अनादि-अनन्त है। इसके बिना चेतन और अचेतन—इन दो अत्यन्त भिन्न पदार्थों की तादात्म्य-निवृत्ति सिद्ध नहीं होती।

साध्य—धर्म और धर्मी

साध्य और साधन का सम्बन्ध मात्र जानने में साध्य धर्म ही होता है।

कारण कि धुएं के साथ अग्नि होने का नियम है, वैसे अग्निमान् पर्वत होने का नियम नहीं बनता। अग्नि पर्वत के सिवाय अन्यत्र भी मिलती है। साधन के प्रयोगकाल में साध्य धर्मी होता है। धर्मी तीन प्रकार का होता है—

(१) बुद्धि-सिद्ध।

(२) प्रमाण-सिद्ध।

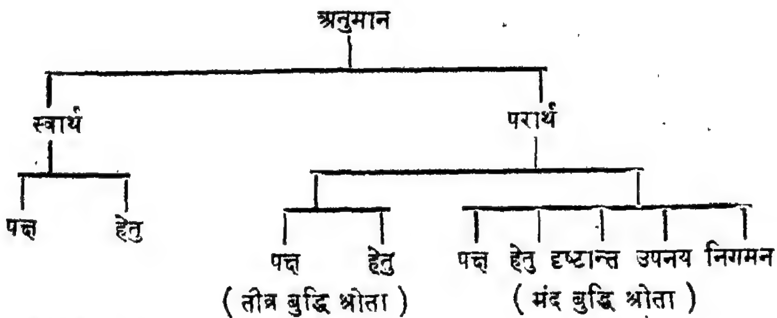
(३) उभय-सिद्ध।

(१) प्रमाण से जिसका अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध न हो किन्तु अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध करने के लिए जो शाब्दिक रूप में मान लिया गया हो, वह 'बुद्धि-सिद्ध धर्मी' होता है। जैसे—'सर्वज्ञ है'। अस्तित्व सिद्धि से पहले सर्वज्ञ किसी भी प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं है। उसका अस्तित्व सिद्ध करने के लिए पहले पहल जब धर्मी बनाया जाता है, तब उसका अस्तित्व बुद्धि से ही माना जाता है। प्रमाण द्वारा उसका अस्तित्व बाद में सिद्ध किया जाएगा। थोड़े में यों समझिए—जिस साध्य का अस्तित्व या नास्तित्व साधना हो, वह धर्मी बुद्धि-सिद्ध या विकल्प-सिद्ध होता है।

(२) जिसका अस्तित्व प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से सिद्ध हो, वह धर्मी 'प्रमाण सिद्ध' होता है। 'इस बादल में पानी है'—बादल हमारे प्रत्यक्ष है। उसमें पानी धर्म को सिद्ध करने के लिए हमें बादल, जो धर्मी है, को कल्पना से मानने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

(३) 'मनुष्य मरणशील है'—यहाँ म्रियमाण मनुष्य प्रत्यक्ष-सिद्ध है और मृत तथा मरिष्यमाण मनुष्य बुद्धि-सिद्ध। "मनुष्य मरणशील है" इसमें कोई एक खास धर्मी नहीं, सभी मनुष्य धर्मी हैं। प्रमाण-सिद्ध धर्मी व्यक्त्यात्मक होता है, उस स्थिति में उभय-सिद्ध धर्मी जात्यात्मक। उभय-सिद्ध धर्मी में सत्ता-असत्ता के सिवाय शेष सब धर्म साध्य हो सकते हैं।

अनुमान को नास्तिक के सिवाय प्रायः सभी दर्शन प्रमाण मानते हैं। नास्तिक व्याप्ति की निर्णायकता स्वीकार नहीं करते। उसके बिना अनुमान हो नहीं सकता। व्याप्ति को संदिग्ध मानने का अर्थ तर्क से परे हटना होना चाहिए।



हेतु के प्रकार

हेतु के दो प्रकार होते हैं —(१) उपलब्धि (२) अनुपलब्धि । ये दोनों विधि और निषेध के साधक हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने अनुपलब्धि को विधि-साधक हेतु के रूप में स्थान नहीं दिया है।

परीक्षामुख में विधि-साधक छह उपलब्धियों एवं तीन अनुपलब्धियों का तथा निषेध-साधक छह उपलब्धियों एवं सात अनुपलब्धियों का निरूपण है। इसका विकास प्रमाणनयतत्वालोक में हुआ है। वहाँ विधि-साधक छह उपलब्धियों एवं पांच अनुपलब्धियों का तथा निषेध-साधक सात सात उपलब्धियों एवं अनुपलब्धियों का उल्लेख है। प्रस्तुत वर्गीकरण प्रमाणनयतत्वालोक के अनुसार है।

विधि-साधक उपलब्धि-हेतु

साध्य से अविरुद्ध रूप में उपलब्ध होने के कारण जो हेतु साध्य की सत्ता को सिद्ध करता है, वह अविरुद्धोपलब्धि कहलाता है।

अविरुद्ध-उपलब्धि के छह प्रकार हैं :—

(१) अविरुद्ध-व्याप्य-उपलब्धि :—साध्य—शब्द परिणामी है ।

हेतु—क्योंकि वह प्रयत्न-जन्य है। यहाँ प्रयत्न-जन्यत्व व्याप्य है। वह परिणामित्व से अविरुद्ध है। इसलिए प्रयत्न-जन्यत्व से शब्द का परिणामित्व सिद्ध होता है।

(२) अविरुद्ध-कार्य उपलब्धि :—साध्य—इस पर्वत पर अग्नि है।

हेतु—क्योंकि धुआं है।

धुआं अग्नि का कार्य है। वह अग्नि से अविरुद्ध है। इसलिए धूम-कार्य से पर्वत पर ही अग्नि की सिद्धि होती है।

(३) अविरुद्ध-कारण-उपलब्धि :—

साध्य—वर्षा होगी ।

हेतु—क्योंकि विशिष्ट प्रकार के बादल मंडरा रहे हैं ।

बादलों की विशिष्ट-प्रकारता वर्षा का कारण है और उसका विरोधी नहीं है ।

(४) अविरुद्ध-पूर्वचर-उपलब्धि :—

साध्य—एक मूहुर्त्त के बाद तिष्य नक्षत्र का उदय होगा ।

हेतु—क्योंकि पुनर्वसु का उदय हो चुका है ।

'पुनर्वसु का उदय' यह हेतु 'तिष्योदय' साध्य का पूर्वचर है और उसका विरोधी नहीं है ।

(५) अविरुद्ध-उत्तरचर-उपलब्धि :—

साध्य—एक मूहुर्त्त पहले पूर्वा-फाल्गुनी का उदय हुआ था ।

हेतु—क्योंकि उत्तर-फाल्गुनी का उदय हो चुका है ।

उत्तर-फाल्गुनी का उदय पूर्वा-फाल्गुनी के उदय का निश्चित उत्तरवर्ती है ।

(६) अविरुद्ध-सहचर-उपलब्धि :—

साध्य—इस आम में रूप विशेष है ।

हेतु—क्योंकि रस विशेष आस्वाद्यमान है ।

यहाँ रस (हेतु) रूप (साध्य) का नित्य सहचारी है ।

निषेध-साधक उपलब्धि-हेतु

साध्य से विरुद्ध होने के कारण जो हेतु उसके अभाव को सिद्ध करता है, वह विरुद्धोपलब्धि कहलाता है ।

विरुद्धोपलब्धि के सात प्रकार हैं :—

(१) स्वभाव-विरुद्ध-उपलब्धि :—

साध्य—सर्वथा एकान्त नहीं है ।

हेतु—क्योंकि अनेकान्त उपलब्ध हो रहा है ।

अनेकान्त—एकान्त स्वभाव के विरुद्ध है ।

(२) विरुद्ध-व्याप्य-उपलब्धि :—

साध्य—इस पुरुष का तत्त्व में निश्चय नहीं है ।

हेतु—क्योंकि सन्देह है।

'सन्देह है' यह 'निश्चय नहीं है' इसका व्याप्य है। इसलिए सन्देह-दशा में निश्चय का अभाव होगा। ये दोनों विरोधी हैं।

(३) विरुद्ध-कार्य-उपलब्धि :—

साध्य—इस पुरुष का क्रोध शान्त नहीं हुआ है।

हेतु—क्योंकि मुख-विकार हो रहा है।

मुख-विकार क्रोध की विरोधी वस्तु का कार्य है।

(४) विरुद्ध-कारण-उपलब्धि :—

साध्य—यह महर्षि असत्य नहीं बोलता।

हेतु—क्योंकि इसका ज्ञान राग-द्वेष की कलुषता से रहित है।

यहाँ असत्य-वचन का विरोधी, सत्य-वचन है और उसका कारण राग-द्वेष रहित ज्ञान-सम्पन्न होना है।

(५) अविरुद्ध-पूर्वचर उपलब्धि :—

साध्य—एक मूहर्त्त के पश्चात् पुष्य नक्षत्र का उदय नहीं होगा।

हेतु—क्योंकि अभी रोहिणी का उदय है।

यहाँ प्रतिषेध्य पुष्य नक्षत्र के उदय से विरुद्ध पूर्वचर रोहिणी नक्षत्र के उदय की उपलब्धि है। रोहिणी के पश्चात् मृगशीर्ष, आर्द्रा और पुनर्वसु का उदय होता है। फिर पुष्य का उदय होता है।

(६) विरुद्ध-उत्तरचर-उपलब्धि :—

साध्य—एक मुहूर्त्त के पहिले मृगशिरा का उदय नहीं हुआ था।

हेतु—क्योंकि अभी पूर्वा-फाल्गुनी का उदय है।

यहाँ मृगशीर्ष का उदय प्रतिषेध्य है। पूर्वा-फाल्गुनी का उदय उसका विरोधी है। मृगशिरा के पश्चात् क्रमशः आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा और पूर्वा फाल्गुनी का उदय होता है।

(७) विरुद्ध-सहचर-उपलब्धि :—

साध्य—इसे मिथ्या ज्ञान नहीं है।

हेतु—क्योंकि सम्यग् दर्शन है।

मिथ्या ज्ञान और सम्यग् दर्शन एक साथ नहीं रह सकते।

निषेध-साधक-अनुपलब्धि-हेतु

प्रतिषेध्य से अविरुद्ध होने के कारण जो हेतु, उसका प्रतिषेध्य सिद्ध करता है, वह अविरुद्धानुपलब्धि कहलाता है।

अविरुद्धानुपलब्धि के सात प्रकार हैं :—

(१) अविरुद्ध-स्वभाव-अनुपलब्धि :—

साध्य—यहाँ घट नहीं है।

हेतु—क्योंकि उसका दृश्य स्वभाव उपलब्ध नहीं हो रहा है।

चक्षु का विषय होना घट का स्वभाव है। यहाँ इस अविरुद्ध स्वभाव से ही प्रतिषेध्य का प्रतिषेध है।

(२) अविरुद्ध-व्यापक-अनुपलब्धि :—

साध्य—यहाँ पनस नहीं है।

हेतु—क्योंकि वृक्ष नहीं है।

वृक्ष व्यापक है, पनस व्याप्य। यह व्यापक की अनुपलब्धि में व्याप्य का प्रतिषेध है।

(३) अविरुद्ध-कार्य-अनुपलब्धि :—

साध्य—यहाँ अप्रतिहत शक्ति वाले बीज नहीं हैं।

हेतु—क्योंकि अंकुर नहीं दीख रहे हैं।

यह अविरोधी कार्य की अनुपलब्धि के कारण का प्रतिषेध है।

(४) अविरुद्ध-कारण-अनुपलब्धि :—

साध्य—इस व्यक्ति में प्रशमभाव नहीं है।

हेतु—क्योंकि इसे सम्यग् दर्शन प्राप्त नहीं हुआ है।

प्रशमभाव—सम्यग् दर्शन का कार्य है। यह कारण के अभाव में कार्य का प्रतिषेध है।

(५) अविरुद्ध-पूर्वचर-अनुपलब्धि :—

साध्य—एक मुहूर्त्त के पश्चात् स्वाति का उदय नहीं होगा।

हेतु—क्योंकि अभी चित्रा का उदय नहीं है।

यह चित्रा के पूर्ववर्ती उदय के अभाव द्वारा स्वाति के उत्तरवर्ती उदय का प्रतिषेध है।

(६) अविरुद्ध-उत्तरचर-अनुपलब्धि :—

साध्य—एक मुहूर्त्त पहले पूर्वाभाद्रपदा का उदय नहीं हुआ था।

हेतु—क्योंकि उत्तर भाद्रपदा का उदय नहीं है।

यह उत्तर भाद्रपदा के उत्तरवर्ती उदय के अभाव के द्वारा पूर्व भाद्रपदा के पूर्ववर्ती उदय का प्रतिषेध है।

(७) अविरुद्ध-सहचर-अनुपलब्धि :—

साध्य—इसे सम्यग् ज्ञान प्राप्त नहीं है।

हेतु—क्योंकि सम्यग् दर्शन नहीं है।

सम्यग् ज्ञान और सम्यग् दर्शन दोनों नियत सहचारी हैं। इसलिए यह एक के अभाव में दूसरे का प्रतिषेध है।

विधि-साधक अनुपलब्धि-हेतु

साध्य के विरुद्ध रूप की उपलब्धि न होने के कारण जो हेतु उसकी सत्ता को सिद्ध करता है, वह विरुद्धानुपलब्धि कहलाता है।

विरुद्धानुपलब्धि हेतु के पांच प्रकार हैं :—

(१) विरुद्ध-कार्य-अनुपलब्धि :—

साध्य—इसके शरीर में रोग है।

हेतु—क्योंकि स्वस्थ प्रवृत्तियां नहीं मिल रहीं हैं। स्वस्थ प्रवृत्तियों का भाव रोग विरोधी कार्य है। उसकी यहाँ अनुपलब्धि है।

(२) विरुद्ध-कारण-अनुपलब्धि :—

साध्य—यह मनुष्य कष्ट में फंसा हुआ है।

हेतु—क्योंकि इसे इष्ट का संयोग नहीं मिल रहा है। कष्ट के भाव का विरोधी कारण इष्ट संयोग है, वह यहाँ अनुपलब्ध है।

(३) विरुद्ध-स्वभाव-अनुपलब्धि :—

साध्य—वस्तु समूह अनेकान्तात्मक है।

हेतु—क्योंकि एकान्त स्वभाव ही अनुपलब्धि है।

(४) विरुद्ध-व्यापक-अनुपलब्धि :—

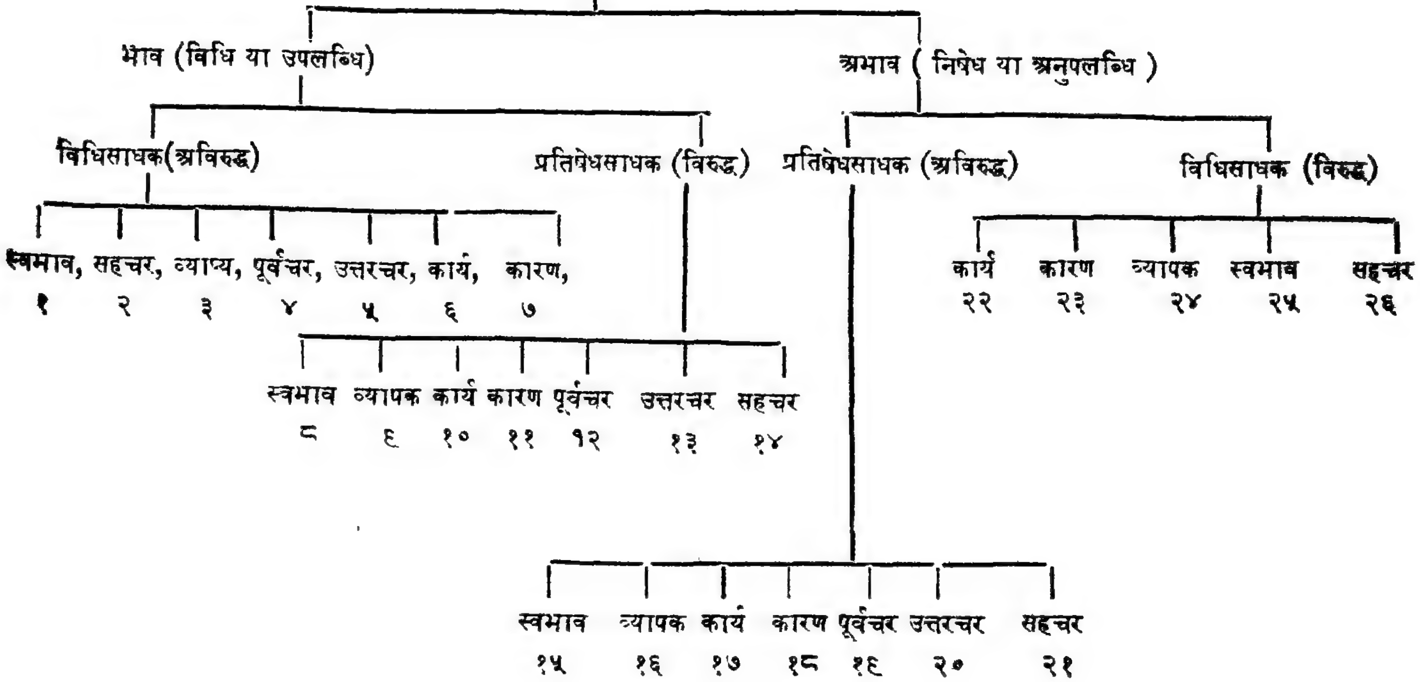
साध्य—यहाँ छाया है।

हेतु—क्योंकि उष्णता नहीं है।

(५) विरुद्ध-सहचर-अनुपलब्धि :—

साध्य—इसे मिथ्या ज्ञान प्राप्त है।

हेतु—क्योंकि इसे सम्यग् दर्शन प्राप्त नहीं है।


हेतु
भाव (विधि या उपलब्धि)
अभाव (निषेध या अनुपलब्धि)
विधिसाधक(अविरुद्ध)
प्रतिषेधसाधक (विरुद्ध)
प्रतिषेधसाधक (अविरुद्ध)
विधिसाधक (विरुद्ध)
स्वभाव, सहचर, व्याप्य, पूर्वचर, उत्तरचर, कार्य, कारण,
१ २ ३ ४ ५ ६ ७
स्वभाव व्यापक कार्य कारण पूर्वचर उत्तरचर सहचर
८ ९ १० ११ १२ १३ १४
स्वभाव व्यापक कार्य कारण पूर्वचर उत्तरचर सहचर
१५ १६ १७ १८ १९ २० २१
कार्य कारण व्यापक स्वभाव सहचर
२२ २३ २४ २५ २६

आगम

"जुत्तीए अविरुद्धो सदागमो सावि तयविरुद्धत्ति।[1]

इय अण्णोण्णाणुगयं उभयं पडिवत्ति हेउ त्ति [1]॥" —पंचा० वि० १८

"जो हेउवाय पक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ।

सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अन्नो"[2]॥ —सन्म ३।४५।

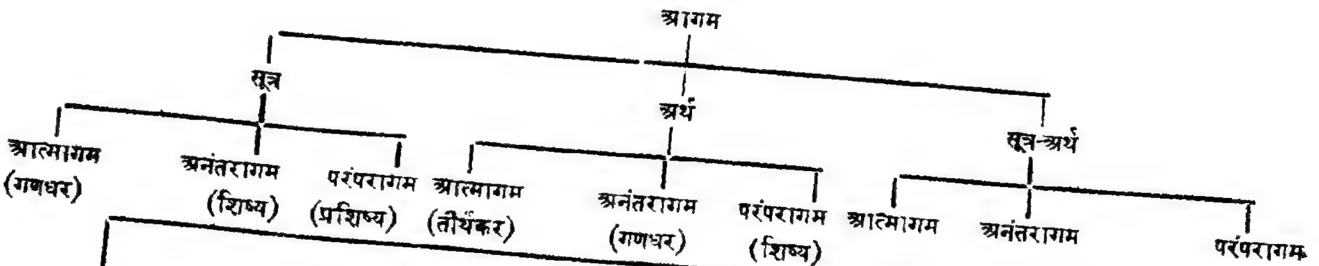
"इह त्रिविधश्रुतं-मिथ्याश्रुतं, नयश्रुतं, स्याद्वाद श्रुतम्।"

—न्याया० टी० पृ० ६३।

आगम श्रुतज्ञान या शाब्द-ज्ञान है। उपचार से आप्तवचन या द्रव्यश्रुत को भी आगम कहा जाता है किन्तु वास्तव में आगम वह ज्ञान है जो श्रोता या पाठक को आप्त की मौखिक या लिखित वाणी से होता है।

वैशेषिक शाब्द-प्रमाण को अनुमान का ही रूप मानते हैं। जैन दर्शन को यह बात मान्य नहीं। पूर्व-अभ्यास की स्थिति में शब्द-ज्ञान व्याप्तिनिरपेक्ष होता है। एक व्यक्ति खोटे खरे सिक्के को जानने वाला है। वह उसे देखते ही पहचान लेता है। उसे ऊहापोह की आवश्यकता नहीं होती। यही बात शब्द ज्ञान के लिए है। शब्द सुनते ही सुनने वाला समझ जाता है। वह अनुमान नहीं होता। शब्द सुनने पर उसका अर्थ बोध न हो, उसके लिए व्याप्ति का सहारा लेना पड़े तो वह अवश्य अनुमान होगा, शाब्द नहीं। प्रत्यक्ष के लिए भी यही बात है। प्रत्येक वस्तु के लिए 'यह अमुक होना चाहिए' ऐसा विकल्प बने, तब यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होगा, अनुमान होगा। आगम व्याप्तिनिरपेक्ष होने के कारण अनुमान के अन्तर्गत नहीं आता [3]।

जैन-दृष्टि के अनुसार आगम स्वतः प्रमाण, पौरुषेय[4] और आप्तप्रणीत होता है [5]। वचन-रचना को सूत्रागम, ज्ञान को अर्थागम और समन्वित रूप में दोनों को उभयागम कहा जाता है [6]। प्रकारान्तर से आत्मागम, अनन्त-रागम और परम्परागम, यों तीन प्रकार का आगम होता है। उपदेश के बिना अपने आप अर्थ ज्ञान होता है, वह आत्मागम है। यह तीर्थंकर या स्वयम्बुद्ध आदि के होता है। उनकी उपदेश-वाणी से शिष्य के सूत्र की अपेक्षा आत्मागम और अर्थ की अपेक्षा अन्तरागम होता है। तीसरी कक्षा में प्रशिष्य के सूत्र की अपेक्षा अन्तरागम और अर्थ की अपेक्षा परम्परागम होता है। चौथी कक्षा में सूत्र और अर्थ दोनों परम्परागम होते हैं [7]।



तीर्थंकर की अपेक्षा—अर्थ—आत्मागम।
गणधर की अपेक्षा—सूत्र—आत्मागम-अर्थ—अनंतरागम।
गणधर -शिष्य की अपेक्षा—सूत्र—अनंतरागम-अर्थ—परम्परागम।
तद्-शिष्य शिष्य-की अपेक्षा—सूत्र—परंपरागम-अर्थ—परम्परागम।

ज्ञाता, ज्ञेय और वचन, इन तीनों की संहिता आगम का समग्र रूप है।

ज्ञाता ज्ञान कराने वाला और करने वाला दोनों होते हैं। ज्ञेय पहले ने जान रखा है, दूसरे को जानना है। वचन पहले के ज्ञान का प्रकाश है और दूसरे के ज्ञान का साधन। ज्ञेय अनन्तशक्तियों, गुणों, अवस्थाओं का अखण्ड-पिण्ड होता है। उसका स्वरूप अनेकान्तात्मक होता है। ज्ञेय आगम की रीढ़ होता है, फिर भी उसके आधार पर आगम के विभाग नहीं होते। ज्ञाता की दृष्टि से इसका एक भेद होता है—अर्थागम। वचन की दृष्टि से इसके तीन विभाग बनते हैं—

(१) स्याद्वाद—प्रमाण वाक्य।

(२) सद्वाद—नय वाक्य।

(३) दुर्णय—मिथ्या श्रुत।

दूसरे शब्दों में—

(१) अनेकान्त वचन,

(२) सत्-एकान्त वचन

(३) असत्-एकान्त वचन।

वाक्-प्रयोग

वर्ण से पद, पद से वाक्य और वाक्य से भाषा बनती है। भाषा अनक्षर भी होती है पर वह स्पष्ट नहीं होती। स्पष्ट भाषा अक्षरात्मक ही होती है। अक्षर तीन प्रकार के हैं[८]—

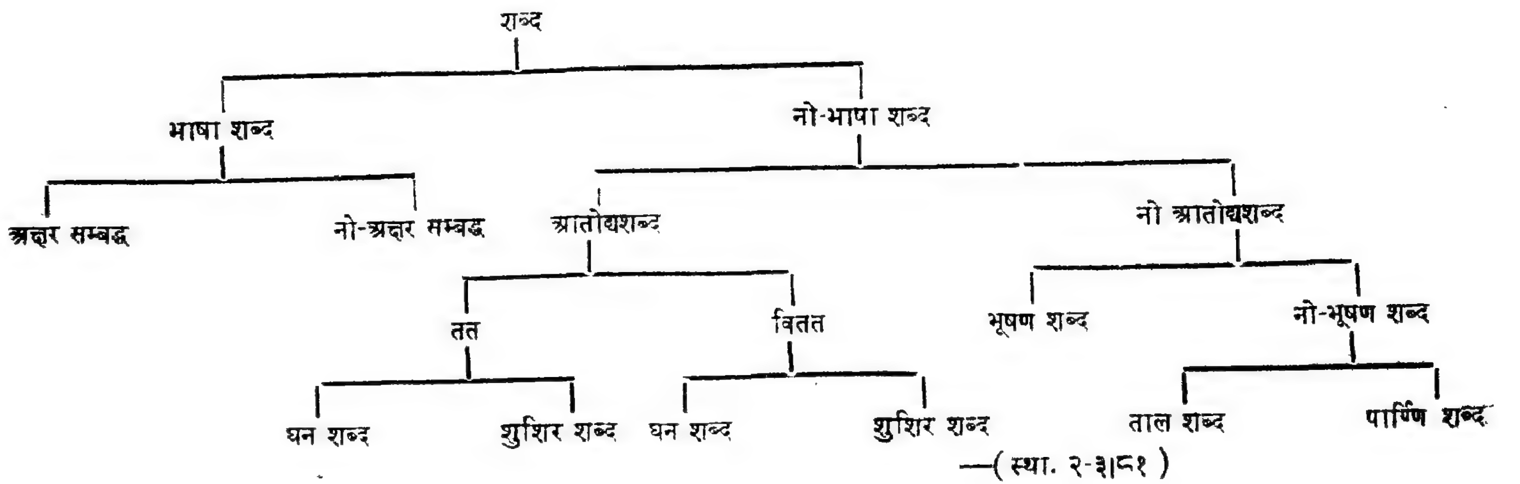
(१) संज्ञाक्षर—अक्षर—लिपि।

(२) व्यञ्जनाक्षर—अक्षर का उच्चारण।

(३) लब्ध्यक्षर—अक्षर का ज्ञान—उपयोग।

ये तीन प्रकार के हैं—(१) रूढ़ (२) यौगिक (३) मिश्र। जिनकी उत्पत्ति नहीं होती, वे शब्द 'रूढ़' होते हैं[९]। गुण, क्रिया, सम्बन्ध आदि के योग से बनने वाले शब्द 'यौगिक' कहलाते हैं[१०]। जिनमें दो शब्दों का योग होने पर भी परावृत्ति नहीं हो सकती, वे 'मिश्र' हैं[११]।

नाम और क्रिया के एकाश्रयी योग को वाक्य कहते हैं। शब्द या वचन ध्वनि रूप पौद्गलिक परिणाम होता है। वह ज्ञापक या बताने वाला होता है। वह चेतन के वाक्प्रयत्न से पैदा होता है और अवयव-संयोग से भी, सार्थक भी होता है और निरर्थक भी। अचेतन के संघात और भेद से पैदा होता है, वह निरर्थक ही होता है, अर्थ प्रेरित नहीं होता[१२]।


शब्द
भाषा शब्द
नो-भाषा शब्द
अक्षर सम्बद्ध
नो-अक्षर सम्बद्ध
आतोद्यशब्द
नो आतोद्यशब्द
तत
वितत
भूषण शब्द
नो-भूषण शब्द
घन शब्द
शुशिर शब्द
घन शब्द
शुशिर शब्द
ताल शब्द
पार्णि शब्द
—(स्था. २-३।८१)

शब्द की अर्थ बोधकता

शब्द अर्थ का बोधक बनता है, इसके दो हेतु हैं (१) स्वाभाविक (२) समय या संकेत [१३]। नैयायिक स्वाभाविक शक्ति को स्वीकार नहीं करते। वे केवल संकेत को ही अर्थज्ञान का हेतु मानते हैं [१४]। इस पर जैन-दृष्टि यह है कि यदि शब्द में अर्थ बोधक शक्ति सहज नहीं होती तो उसमें संकेत भी नहीं किया जा सकता। संकेत रुढ़ि है, वह व्यापक नहीं। "अमुक वस्तु के लिए अमुक शब्द"—यह मान्यता है। देश-काल के भेद से यह अनेक भेद वाली होती है। एक देश में एक शब्द का अर्थ कुछ ही होता है और दूसरे देश में कुछ ही। हमें इस संकेत या मान्यता के आधार पर दृष्टि डालनी चाहिए। संकेत का आधार है शब्द की सहज अर्थ-प्रकाशन शक्ति। शब्द अर्थ को बता सकता है, किसको बताए, यह बात संकेत पर निर्भर है। संकेत ज्ञातकालीन और अज्ञातकालीन दोनों प्रकार के होते हैं। अर्थ की अनेकता के कारण शब्द के अनेक रूप बनते हैं, जैसे—जातिवाचक, व्यक्तिवाचक, क्रियावाचक आदि-आदि।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध है। वाच्य से वाचक न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सर्वथा भेद होता तो शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान नहीं होता। वाच्य को अपनी सत्ता के ज्ञापन के लिए वाचक चाहिए और वाचक को अपनी सार्थकता के लिए वाच्य चाहिए। शब्द की वाचकपर्याय वाच्य के निमित्त से बनती है और अर्थ की वाच्यपर्याय शब्द के निमित्त से बनती है, इसलिए दोनों में कथंचित् तादात्म्य है। सर्वथा अभेद इसलिए नहीं कि वाच्य की क्रिया वाचक की क्रिया से भिन्न है। वाचक बोध कराने की पर्याय में होता है और वाच्य ज्ञेय पर्याय में।

वाच्य-वाचकभाव की प्रतीति तर्क के द्वारा होती है [१५]। एक आदमी ने अपने सेवक से कहा—'रोटी लाओ'। सेवक रोटी लाया। एक तीसरा व्यक्ति जो रोटी को नहीं जानता, वह दोनों की प्रवृत्ति देख कर जान जाता है कि यह वस्तु 'रोटी' शब्द के द्वारा वाच्य है। इसकी व्याप्ति यों बनती है—"वस्तु के प्रति जो शब्दानुसारी प्रवृत्ति होती है, वह वाच्य-वाचक भाव वाली

होती है। "जहाँ वाच्य-वाचक भाव नहीं होता, वहाँ शब्द के अनुसार अर्थ के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती।"

शब्द का याथार्थ्य और अयाथार्थ्य

शब्द पौद्गलिक होता है। वह अपने आप में यथार्थ या अयथार्थ कुछ भी नहीं होता। वक्ता के द्वारा उसका यथार्थ या अयथार्थ प्रयोग होता है। यथार्थ प्रयोग के स्याद्वाद् और नय—ये दो प्रकार हैं। दुर्णय इसलिए आगमाभास होता है कि वह यथार्थ-प्रयोग नहीं होता।

वचन की सत्यता के दो पहलू हैं, प्रयोगकालीन और अर्थग्रहणकालीन। एक वक्ता पर निर्भर है, दूसरा श्रोता पर। वक्ता यथार्थ-प्रयोग करता है, वह सत्य है। श्रोता यथार्थ ग्रहण करता है, वह सत्य है। ये दोनों सत्य अपेक्षा से जुड़े हुए हैं।

सत्य वचन की दस अपेक्षाएं

सत्य वचन के लिए दस अपेक्षाएं हैं[१६] :—

(१) जनपद, देश या राष्ट्र की अपेक्षा सत्य।

(२) सम्मत या रूढ़ि-सत्य।

(३) स्थापना की अपेक्षा सत्य।

(४) नाम की अपेक्षा सत्य।

(५) रूप की अपेक्षा सत्य।

(६) प्रतीत्य-सत्य—दूसरी वस्तु की अपेक्षा सत्य।

जैसे—कनिष्ठा की अपेक्षा अनामिका बड़ी और मध्यमा की अपेक्षा छोटी है। एक ही वस्तु छोटी और बड़ी दोनों हो; यह विरुद्ध बात है, ऐसा आरोप आता है किन्तु यह ठीक नहीं[१७]। एक ही वस्तु का छोटापन और मोटापन दोनों तात्त्विक हैं और परस्पर विरुद्ध भी नहीं हैं। इसलिए नहीं हैं कि दोनों के निमित्त दो हैं। यदि अनामिका को एक ही कनिष्ठा या मध्यमा की अपेक्षा छोटी-बड़ी कहा जाय तब विरोध आता है किन्तु "छोटी की अपेक्षा बड़ी और बड़ी की अपेक्षा छोटी" इसमें कोई विरोध नहीं आता। एक निमित्त से परस्पर विरोधी दो कार्य नहीं हो सकते किन्तु दो निमित्त से वैसे दो कार्य होने में कोई आपत्ति नहीं। छोटापन और मोटापन तात्त्विक नहीं है; अणुत्व

और वक्रता की भाँति दूसरे निमित्त की अपेक्षा रखे बिना प्रतीत नहीं होती। इसलिए उनकी प्रतीति दूसरे की अपेक्षा से होती है, इसलिए वे काल्पनिक हैं, ऐसी शंका होती है पर समझने पर बात ऐसी नहीं है। वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते हैं[१८]—

(१) परप्रतीति-सापेक्ष—सहकारी द्वारा व्यक्त।

(२) परप्रतीति-निरपेक्ष—स्वतः व्यक्त।

अस्तित्व आदि गुण स्वतः व्यक्त होते हैं। छोटा, बड़ा आदि धर्म सहकारी द्वारा व्यक्त होते हैं। गुलाब में सुरभि अपने आप व्यक्त है। पृथ्वी में गन्ध पानी के संयोग से व्यक्त होती है।

छोटा, बड़ा—ये धर्म काल्पनिक हों तो एक वस्तु में दूसरी वस्तु के समावेश की (बड़ी वस्तु में छोटी के समाने की) बात अनहोनी होती। इसलिए हमें मानना चाहिए कि सहकारी व्यंग धर्म काल्पनिक नहीं है[१९]। वस्तु में अनन्त परिणतियों की क्षमता होती है। जैसा जैसा सहकारी का सन्निधान होता है वैसा ही उसका रूप बन जाता है। "कोई व्यक्ति निकट से लम्बा और वही दूर से ठिंगना दीखता है, पर वह लम्बा और ठिंगना एक साथ नहीं हो सकता। अतः लम्बा व ठिंगना केवल मनस् के विचार मात्र हैं।" बर्कले का यह मत उचित नहीं है। लम्बा और ठिंगना ये केवल मनस् के विचार मात्र होते तो दूरी और सामीप्य सापेक्ष नहीं होते। उक्त दोनों धर्म सापेक्ष हैं—एक व्यक्ति जैसे लम्बे व्यक्ति की अपेक्षा ठिंगना और ठिंगने की अपेक्षा लम्बा हो सकता है; वैसे ही एक ही व्यक्ति दूरी की अपेक्षा ठिंगना और सामीप्य की अपेक्षा लम्बा हो सकता है। लम्बाई और ठिंगनापन एक साथ नहीं होते, भिन्न-भिन्न सहकारियों द्वारा भिन्न-भिन्न काल में अभिव्यक्त होते हैं। सामीप्य की अपेक्षा लम्बाई सत्य है और दूरी की अपेक्षा ठिंगनापन।

(७) व्यवहारसत्य—औपचारिक सत्य—पर्वत जल रहा है।

(८) भावसत्य—व्यक्त पर्याय की अपेक्षा से सत्य—दूध सफेद है।

(९) योगसत्य—सम्बन्ध सत्य।

(१०) औपम्य-सत्य।

प्रत्येक वस्तु को अच्छी-बुरी, उपयोगी-अनुपयोगी, हितकर-अहितकर जो कहा जाता है वह देश, काल, स्थिति की अपेक्षा से सत्य है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—"सत्यवादी के लिए विभज्यवाद का अवलम्बन ही श्रेयस्कर है [२०]।" वे स्वयं इसी मार्ग पर चले। आत्मा, लोक आदि प्रश्नों पर वे मौन नहीं रहे। उन्होंने इन प्रश्नों को महात्मा बुद्ध की भाँति अव्याकृत नहीं कहा और न संजय-वेलट्ठी पुत्त की भाँति बीच में लटकाए रखा। उन्होंने सत्य के अनेक रूपों का अनेक दृष्टियों से वर्णन किया। लोक में जितने द्रव्य हैं उतने ही थे और रहेंगे [२१]। उनमें न अणु मात्र कम होता है और न अधिक। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश केवल अवस्था-परिवर्तन है। जो स्थिति आत्मा की है, वही एक परमाणु या पौद्गलिक-स्कंध या शरीर की है। आत्मा एकान्त नित्य नहीं है, शरीर एकान्त अनित्य नहीं है। प्रत्येक पदार्थ का परिवर्तन होता रहता है। पहला रूप जन्म या उत्पाद और दूसरा रूप मृत्यु या विनाश है। अव्युच्छेदनय की दृष्टि से पदार्थ सान्त है। अविच्छेदनय की दृष्टि से चेतन और अचेतन सभी वस्तुएं सदा अपने रूप में रहती हैं, अनन्त हैं [२२]। प्रवाह की अपेक्षा पदार्थ अनादि है, स्थिति (एक अवस्था) की अपेक्षा सादि [२३]। लोक व्यक्ति-संख्या की दृष्टि से एक है, इसलिए सान्त है। लोक की लम्बाई-चौड़ाई असंख्य-योजन कोड़ाकोड़ी है, इस क्षेत्र-दृष्टि से सान्त है। काल और भाव की दृष्टि से वह अनन्त है [२४]।

इस प्रकार एक वस्तु की अनेक स्थिति-जन्य अनेकरूपता स्वीकार कर भगवान् महावीर ने विरुद्ध प्रतीत होने वाले मतवाद एक सूत्र में पिरो दिये, तात्त्विक चर्चा के निर्णय का मार्ग प्रशस्त कर दिया। भगवान् से पूछा गया—"भगवन्! जीव परभव को जाते समय स इन्द्रिय जाता है या अन् इन्द्रिय?"

भगवान्—"स-इन्द्रिय भी जाता है और अन्-इन्द्रिय भी।"

गौतम—"कैसे? भगवन्!"

भगवान्—"ज्ञान इन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय और पौद्गलिक इन्द्रिय की अपेक्षा अन्-इन्द्रिय।"

पौद्गलिक इन्द्रियां स्थूल शरीर से और ज्ञान इन्द्रियां आत्मा से सम्बद्ध होती हैं। स्थूल शरीर छूटने पर पौद्गलिक इन्द्रियां नहीं रहतीं, उनकी अपेक्षा

परभवगामी जीव अन्-इन्द्रिय जाता है। ज्ञान शक्ति आत्मा में बनी रहती है, इस दृष्टि से वह स-इन्द्रिय जाता है [२५]।

गौतम—"भगवन्! दुःख आत्मकृत है, परकृत है या उभयकृत?"

भगवान्—"दुःख आत्मकृत है, परकृत नहीं है, उभयकृत नहीं [२६]।"

महात्मा बुद्ध शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों को सत्य नहीं मानते थे। उनसे पूछा गया —

"भगवन् गौतम! क्या दुःख स्वयंकृत है [२७]?"

"काश्यप! ऐसा नहीं है।"

"क्या दुःख परकृत है?"

"नहीं।"

"क्या दुःख स्वकृत और परकृत है?"

"नहीं।"

"क्या अस्वकृत अपरकृत दुःख है?"

"नहीं।"

"तब क्या है? आप तो सभी प्रश्नों का उत्तर नकार में देते हैं, ऐसा क्यों?

"दुःख स्वकृत है, ऐसा कहने का अर्थ होता है कि जो करता है, वही भोगता है, यह शाश्वतवाद है। दुःख परकृत है ऐसा कहने का अर्थ होता है कि दुःख करने वाला कोई दूसरा है और उसे भोगने वाला कोई दूसरा, यह उच्छेदवाद है?" उनने इन दोनों को छोड़कर मध्यम मार्ग—प्रतीत्य-समुत्पाद का उपदेश दिया। उनकी दृष्टि में "उत्तर पूर्व से सर्वथा असम्बद्ध हो, अपूर्व हो यह बात भी नहीं, किन्तु पूर्व के अस्तित्व के कारण ही उत्तर होता है। पूर्व की सारी शक्ति उत्तर में आ जाती है। पूर्व का कुल संस्कार उत्तर को मिल जाता है। अतएव पूर्व अब उत्तर रूप में अस्तित्व में हैं। उत्तर पूर्व से सर्वथा भिन्न भी नहीं, अभिन्न भी नहीं किन्तु अव्याकृत है, क्योंकि भिन्न कहने पर उच्छेदवाद और अभिन्न कहने पर शाश्वतवाद होता है" [२८]। महात्मा बुद्ध को ये दोनों वाद मान्य नहीं थे, अतएव ऐसे प्रश्नों का उन्होंने अव्याकृत कहकर उत्तर दिया।

भगवान् महावीर भी शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के विरुद्ध थे। इस विषय में दोनों की भूमिका एक थी फिर भी भगवान् महावीर ने कहा—"दुःख आत्मकृत है।" कारण कि वे इन दोनों वादों से दूर भागने वाले नहीं थे। उनकी अनेकान्तदृष्टि में एकान्तशाश्वत या उच्छेद जैसी कोई वस्तु थी ही नहीं। दुःख के करण और भोग में जैसे आत्मा की एकता है वैसे ही करणकाल में और भोगकाल में उसकी अनेकता है। आत्मा की जो अवस्था करणकाल में होती है, वही भोगकाल में नहीं होती, यह उच्छेद है। करण और भोग दोनों एक आधार में होते हैं, यह शाश्वत है। शाश्वत और उच्छेद के भिन्न-भिन्न रूप कर जो विकल्प-पद्धति से निरूपण किया जाता है, वही विभज्यवाद है।

इस विकल्प-पद्धति के समर्थक अनेक संवाद उपलब्ध होते हैं। एक संवाद देखिए[२९]—

सोमिल—"भगवन्! क्या आप एक हैं या दो? अक्षय, अव्यय, अवस्थित हैं या अनेक भूत भव्य-भविक?"

भगवान्—"सोमिल! मैं एक भी हूँ और दो भी।"

सोमिल—"यह कैसे भगवन्!?"

भगवान्—"द्रव्य की दृष्टि से एक हूँ; सोमिल! ज्ञान और दर्शन की दृष्टि से दो।"

"आत्म-प्रदेश की दृष्टि से मैं अक्षय, अव्यय, अवस्थित भी हूँ और भूत-भावी काल में विविध विषयों पर होने वाले उपयोग (चेतना-व्यापार) की दृष्टि से परिवर्तनशील भी हूँ।"

यह शंकित भाषा नहीं है। तत्त्व-निरूपण में उन्होंने निश्चित भाषा का प्रयोग किया और शिष्यों को भी ऐसा ही उपदेश दिया। छद्मस्थ मनुष्य धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, शरीर रहित जीव आदि को सर्वभाव से नहीं जान सकते[३०]।

अतीत, वर्तमान, या भविष्य की जिस स्थिति की निश्चित जानकारी न हो तब 'ऐसे ही है' यूं निश्चित भाषा नहीं बोलनी चाहिए और यदि असंदिग्ध जानकारी हो तो 'एवमेव' कहना चाहिए[३१]। केवल भावी कार्य के बारे में

निश्चयपूर्वक नहीं बोलना चाहिए। न मालूम जो काम करने का संकल्प है, वह अधूरा रह जाय। इसलिए भावी कार्य के लिए 'अमुक कार्य करने का विचार है' या 'यह होना सम्भव है'—यह भाषा होनी चाहिए। यह कार्य से सम्बन्धित सत्यभाषा की मीमांसा है, तत्त्व-निरूपण से इसका सम्बन्ध नहीं है। तत्त्व-प्रतिपादन के अवसर पर अपेक्षापूर्वक निश्चय भाषा बोलने में कोई आपत्ति नहीं है [३२]।

महात्मा बुद्ध ने कहा :—

(१) मेरी आत्मा है।

(२) मेरी आत्मा नहीं है।

(३) मैं आत्मा को आत्मा समझता हूँ।

(४) मैं अनात्मा को आत्मा समझता हूँ।

(५) यह जो मेरी आत्मा है, वह पुण्य और पाप कर्म के विपाक की भोगी है।

(६) यह मेरी आत्मा नित्य है, ध्रुव है, शाश्वत है, अविपरिणामिधर्मा है, जैसी है वैसी सदैव रहेगी [३३]।

इन छह दृष्टियों में फंसकर अज्ञानी जीव जरा-मरण से मुक्त नहीं होता इसलिए साधक को इनमें फंसना उचित नहीं। उनके विचारानुसार—"मैं भूत काल में क्या था? मैं भविष्यत् काल में क्या होऊंगा? मैं क्या हूँ? यह सत्त्व कहाँ से आया? यह कहाँ जाएगा?—इस प्रकार का चिन्तन 'अयोनिसो मनसिकार' विचार का अयोग्य ढंग है। इससे नये आस्रव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न आस्रव वृद्धिगत होते हैं।"

भगवान् महावीर का सिद्धान्त ठीक इसके विपरीत था। उन्होंने कहा—

(१) आत्मा नहीं है।

(२) आत्मा नित्य नहीं है।

(३) आत्मा कर्म की कर्ता नहीं है।

(४) आत्मा कर्म-फल की भोक्ता नहीं है।

(५) निर्वाण नहीं है।

(६) निर्वाण का उपाय नहीं है।

—ये छह मिथ्यात्व की प्ररूपणा के स्थान हैं।

(१) आत्मा है।

(२) आत्मा नित्य है।

(३) आत्मा कर्म की कर्ता है।

(४) आत्मा कर्म की भोक्ता है।

(५) निर्वाण है।

(६) निर्वाण के उपाय हैं।

—ये छह सम्यकत्व की प्ररूपणा के स्थान हैं [३४]।

"कई व्यक्ति यह नहीं जानते—'मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? जो अपने आप या पर—व्याकरण से यह जानता है, वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है [३५]।

इस दृष्टि को लेकर भगवान् महावीर ने तत्त्व-चिन्तन की पृष्ठभूमि पर बहुत बल दिया। उन्होंने कहा—"जो जीव को नहीं जानता, अजीव को नहीं जानता, जीव-अजीव दोनों को नहीं जानता; वह संयम को कैसे जान सकेगा [३६]?" "जिसे जीव-अजीव, त्रस-स्थावर का ज्ञान नहीं, उसके प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान हैं और जिसे इनका ज्ञान है, उसके प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान हैं [३७]।" यही कारण है कि भगवान् महावीर की परम्परा में तत्त्व-चिन्तन की अनेक धाराएं अविच्छिन्न प्रवाह के रूप में बहीं।

आत्मा, कर्म, गति, आगति, भाव, अपर्याप्त, पर्याप्त आदि के बारे में ऐसा मौलिक चिन्तन है, जो जैन दर्शन की स्वतन्त्रता का स्वयम्भू प्रमाण है।

जैन दर्शन में प्रतिपादन की पद्धति में अव्याकृत का स्थान है—वस्तु मात्र कथंचित् अवक्तव्य है। तत्त्व-चिन्तन में कोई वस्तु अव्याकृत नहीं। उपनिषद् के ऋषि परमब्रह्म को मुख्यतया 'नेति-नेति' द्वारा बताते हैं [३८]। वेदान्त में वह अनिर्वचनीय है। 'नेति नेति' से अभाव की शंका न आए, इसलिए ब्रह्म को सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। तात्पर्य में वह अनिर्वचनीय ही है कारण कि वह वाणी का विषय नहीं बनता [३९]।

बौद्ध दर्शन में लोक शाश्वत है या अशाश्वत? सान्त है या अनन्त?

जीव और शरीर भिन्न या अभिन्न ? मृत्यु के बाद तथागत होते हैं या नहीं होते ?—होते भी हैं, नहीं भी होते, न होते हैं, न नहीं भी होते हैं[४०] ?—इन प्रश्नों को अव्याकृत कहा है। बौद्ध दर्शन का यह निषेधक दृष्टिकोण शाश्वतवाद और उच्छेदवाद, दोनों का अस्वीकार है। इसमें जैन-दृष्टि का मतद्वैध नहीं है किन्तु वह इससे आगे बढ़ती है। भगवान् महावीर ने शाश्वत और उच्छेद दोनों का समन्वय कर विधायक दृष्टिकोण सामने रखा। वही अनेकान्त दर्शन और स्याद्वाद है।

प्रमाण-समन्वय

उपमान[४१] :—

सादृश्य प्रत्यभिज्ञा जैन न्याय का उपमान है

अर्थापत्ति[४२] :—

अनुमान में जैसे साध्य-साधन का निश्चित अविनाभाव होता है, वैसे ही अर्थापत्ति में भी होता है। पुष्ट देवदत्त दिन में नहीं खाता—इसका अर्थ यह आया कि वह रात को अवश्य खाता है। इसके साध्य देवदत्त के रात्रि-भोजन के साथ 'पुष्टत्व' साधन का निश्चित अविनाभाव है। इसलिए यह अनुमान से भिन्न नहीं है कोरा कथन-भेद है।

अभाव[४३] :—

अभाव प्रमाण दो विरोधियों में से एक के भाव से दूसरे का अभाव और एक के अभाव से दूसरे का भाव सिद्ध करने वाला है। केवल भूतल देखने से घट का ज्ञान नहीं होता। भूतल में घट, पट आदि अनेक वस्तुओं का अभाव हो सकता है, इसलिए घट-रिक्त भूतल में घट के अभाव का प्रतियोगी जो घट है, उसका स्मरण करने पर ही अभाव के द्वारा भूतल में घटाभाव जाना जा सकता है।

जैन-दृष्टि से—(१) 'वह अघट भूतल है'—इसका समावेश स्मरण में, (२) 'यह वही अघट भूतल है'—इसका प्रत्यभिज्ञा में, (३) 'जो अग्निमान् नहीं होता, वह धूमवान् नहीं होता'—इसका तर्क में, (४) 'इस भूतल में घट नहीं है, क्योंकि यहाँ घट का जो स्वभाव मिलना चाहिए, वह नहीं मिल

रहा है'—इसका अनुमान में, तथा (५) 'सोहन घर पर नहीं है'—इसका आगम में समावेश हो जाता है [४४]।

सामान्य अभाव का ग्रहण प्रत्यक्ष से होता है। कोई भी वस्तु केवल सद्रूप या केवल असद्रूप नहीं है। वस्तु मात्र सत्-असत्-रूप (उभयात्मक) है। प्रत्यक्ष के द्वारा जैसे सद्भाव का ज्ञान होता है, वैसे असद्भाव का भी [४५]। कारण स्पष्ट है। ये दोनों इतने घुलेमिले हैं कि किसी एक को छोड़कर दूसरे को जाना नहीं जा सकता।

एक वस्तु के भाव से दूसरी का अभाव और एक के अभाव से दूसरी का भाव निश्चित चिह्न के मिलने या न मिलने पर निर्भर है।

स्वस्तिक चिह्न वाली पुस्तक के लिए जैसे स्वस्तिक उपलब्धि-हेतु बनता है, वैसे ही अचिन्हित पुस्तक के लिए चिन्हाभाव अनुपलब्धि-हेतु बनता है, इसलिए यह अनुमान की परिधि से बाहर नहीं जाता।

सम्भव[४६] :—

अविनाभावी अर्थ—जिसके बिना दूसरा न हो सके, वैसे अर्थ की सत्ता ग्रहण करने से दूसरे अर्थ की सत्ता बतलाना 'सम्भव' है। इसमें निश्चित अविनाभाव है—पौर्वापर्य, साहचर्य या व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है। इसलिए यह भी अनुमान-परिवार का ही एक सदस्य है।

ऐतिह्य[४७] :—

प्रवाद-परम्परा का आदि-स्थान न मिले, वह ऐतिह्य है। जो प्रवाद-परम्परा अयथार्थ होती है, वह अप्रमाण है और जिस प्रवाद-परम्परा का आदि-स्रोत आप्त पुरुष की वाणी मिले, वह आगम से अतिरिक्त नहीं है।

प्रातिभ :—

प्रातिभ के बारे में जैनाचार्यों में दो विचार परम्पराएं मिलती हैं। वादिदेव सूरि आदि जो न्याय प्रधान रहे, उन्होंने इसका प्रत्यक्ष और अनुमान में समावेश किया और हरिभद्र सूरि, उपाध्याय यशोविजयजी आदि जो न्याय के साथ-साथ योग के क्षेत्र में भी चले, उन्होंने इसे प्रत्यक्ष और श्रुत के बीच का माना।

पहली परम्परा के अनुसार इन्द्रिय, हेतु और शब्द-व्यापार निरपेक्ष जो

स्पष्ट आत्म-प्रतिभान होता है, वह मानस-प्रत्यक्ष में चला जाता है।

प्रसाद और उद्वेग के निश्चित लिङ्ग से जो प्रिय-अप्रिय फल प्राप्ति का प्रतिभान होता है, वह अनुमान की श्रेणी में है [४८]।

दूसरी परम्परा—प्रातिभ ज्ञान न केवल ज्ञान है, न श्रुतज्ञान और न ज्ञानान्तर [४९]। इसकी दशा ठीक अरुणोदय-संध्या जैसी है। अरुणोदय न दिन है, न रात और न दिन-रात से अतिरिक्त है। यह आकस्मिक प्रत्यक्ष है और यह उत्कृष्ट क्षयोपशम-निरावरण दशा या योग-शक्ति से उत्पन्न होता है।

प्रातिभ ज्ञान विवेक-जनित ज्ञान का पूर्व रूप है। सूर्योदय से कुछ पूर्व प्रकट होने वाली सूर्य की प्रभा से मनुष्य सब वस्तुओं को देख सकता है, वैसे ही प्रातिभ ज्ञान के द्वारा योगी सब बातों को जान लेता है [५०]।

समन्वय

वस्तुतः जैन ज्ञान-मीमांसा के अनुसार प्रातिभ ज्ञान अश्रुत-निश्रित मति ज्ञान का एक प्रकार है, जिसका नाम है—"औत्पत्तिकी बुद्धि।" सूत्र कृतांग (१।१३) में आए हुए 'पडिहाणव' प्रतिभावान् का अर्थ वृत्तिकार ने औत्पत्तिकी बुद्धि किया है। नन्दी में उसके निम्न लक्षण बतलाए हैं—'पहले अदृष्ट, अश्रुत, अज्ञात अर्थ का तत्काल बुद्धि के उत्पादकाल में अपने आप सम्यग निर्णय हो जाता है और उसका परिच्छेद्य अर्थ के साथ अबाधित योग होता है, वह औत्पत्तिकी बुद्धि है [५१]।

मति ज्ञान के दो भेद होते हैं—श्रुतनिश्रित और अश्रुत निश्रित [५२]। श्रुत निश्रित के अवग्रह आदि चार भेद व्यावहारिक प्रत्यक्ष में चले जाते हैं[५३] और स्मृति आदि चार भेद परोक्ष में [५४]। अश्रुत निश्रित मति के चार भेद औत्पत्तिकी आदि बुद्धिचतुष्टय का समावेश किसी प्रमाण के अन्तर्गत किया हुआ नहीं मिलता।

जिनभद्रगणि ने बुद्धि चतुष्टय में भी अवग्रह आदि की योजना की है[५५], परन्तु उसका सम्बन्ध मति ज्ञान के २८ भेद विषयक चर्चा से है [५६]। अश्रुत निश्रित मति को किस प्रमाण में समाविष्ट करना चाहिए, यह वहाँ मुख्य चर्चनीय नहीं है।

औत्पत्तिकी आदि बुद्धि-चतुष्टय में अवग्रह आदि होते हैं, फिर भी यह व्यवहार प्रत्यक्ष से पूर्ण समता नहीं रखता। इसमें पदार्थ का इन्द्रिय से

साक्षात् होता है, इसमें नहीं। वह शास्त्रोपदेशजनित संस्कार होता है और यह आत्मा की सहज स्फुरणा। इसलिए यह केवल और श्रुत के बीच का ही होना चाहिए तथा इसका प्रातिभ के साथ पूर्ण सामंजस्य दीखता है। इसे केवल और श्रुत के बीच का ज्ञान इसलिए मानना चाहिए कि इससे न तो समस्त द्रव्य पर्यायों का ज्ञान होता है और न यह इन्द्रिय लिंग आदि की सहायता तथा शास्त्राभ्यास आदि के निमित्त से उत्पन्न होता है। पहली परम्परा के प्रातिभज्ञान के लक्षण इससे भिन्न नहीं हैं। मानस-प्रत्यक्ष इसी का नामान्तर हो सकता है और जो निश्चित लिङ्ग के द्वारा होने वाला प्रातिभ कहा गया है, वह वास्तव में अनुमान है। जो उसे प्रातिभ मानते हैं, उनकी अपेक्षा उसे प्रातिभ कहकर उसे अनुमान के अन्तर्गत किया गया है।

प्रमाता और प्रमाण का भेदाभेद

प्रमाता आत्मा है, वस्तु है। प्रमाण निर्णायक ज्ञान है, आत्मा का गुण है। प्रमेय आत्मा भी है और आत्म-अतिरिक्त पदार्थ भी। प्रमिति प्रमाण का फल है।

गुणी से गुण न अत्यन्त भिन्न होता है और न अत्यन्त अभिन्न किन्तु दोनों भिन्नाभिन्न होते हैं। प्रमाण प्रमाता में ही होता है, इस दृष्टि से इनमें कथंचिद् अभेद है। कर्ता और करण के रूप में ये भिन्न हैं—प्रमाता कर्ता है और प्रमाण करण। अभेद-कक्षा में ज्ञाता और ज्ञान का साधन—ये दोनों आत्मा या जीव कहलाते हैं। भेद कक्षा में आत्मा ज्ञाता कहलाता है और ज्ञान जानने का साधन [५७]। ज्ञान आत्मा ही है, आत्मा ज्ञान भी है और ज्ञान-व्यतिरिक्त भी—इस दृष्टि से भी प्रमाता और प्रमाण में भेद है[५८]।

प्रमाता व प्रमेय का भेदाभेद

प्रमाता चेतन ही होता है, प्रमेय चेतन और अचेतन दोनों होते हैं, इस दृष्टि से प्रमाता प्रमेय से भिन्न है। ज्ञेय-काल में जो आत्मा प्रमेय बनती है, वही ज्ञान-काल में प्रमाता बन जाती है, इस दृष्टि से ये अभिन्न भी हैं।

प्रमाण और फल का भेदाभेद

प्रमाण साधन है और फल साध्य—इस दृष्टि से दोनों भिन्न हैं। प्रमाण और फल इन दोनों का अधिकरण एक ही प्रमाता होता है। प्रमाण रूप में परिणत आत्मा ही फल रूप में परिणत होती है—इस दृष्टि से ये अभिन्न भी हैं [५९]।

स्याद्वाद

"न चाऽसियावायं वियागरेज्जा"......सू० १-१४-१६

अ स्याद्वाद पद्धति से नहीं बोलना चाहिए।

"विभज्जवायं च वियागरेज्जा"......सू० १-१३

विभज्यवाद की पद्धति से बोलना चाहिए।

"सम्पूर्णार्थविनिश्चायि स्याद्वादश्रुतमुच्यते"

—न्याया० ८-३०

"आद्रकुमार ने कहा—गोशालक! जो श्रमण और ब्राह्मण (उन्हीं) के दर्शन के अनुसार चलने से मुक्ति होगी, दूसरे दर्शनों के अनुसार चलने से मुक्ति नहीं होगी—यूं कहते हैं—इस एकान्त दृष्टि की मैं निन्दा करता हूँ। मैं किसी व्यक्ति की निन्दा नहीं करता [1]।"

जैन दर्शन के चिन्तन की शैली अनेकान्त-दृष्टि है और प्रतिपादन की शैली स्याद्वाद। जानना ज्ञान का काम है, बोलना वाणी का (ज्ञान की शक्ति अपरिमित है, वाणी की परिमित।) ज्ञेय, अनन्त, ज्ञान अनन्त, किन्तु वाणी अनन्त नहीं, इसलिए नहीं कि एक क्षण में अनन्त ज्ञान अनन्त ज्ञेयों को जान सकता है, किन्तु वाणी के द्वारा कह नहीं सकता।

एक तत्त्व—(परमार्थ सत्य) अभिन्न अनन्त सत्यों की समष्टि होता है।

एक शब्द एक क्षण में एक सत्य को बता सकता है। इसलिए कहा है—"वस्तु के दो रूप होते हैं:—

(१) अनभिलाप्य—अवाच्य

(२) अभिलाप्य—वाच्य

अनभिलाप्य (अप्रज्ञापनीय) का अनन्तवां भाग अभिलाप्य, अभिलाप्य का अनन्त वां भाग सूत्र-ग्रथित आगम होता है [2]।

प्रज्ञापनीय भावों का निरूपण वाग्-योग के द्वारा होता है [3]। वह श्रोता के भाव-श्रुत का कारण बनता है। इसलिए द्रव्यश्रुत (ज्ञान का साधन) होता है। यहाँ एक समस्या बनती है—हम जानें कुछ और ही और कहें कुछ

और ही अथवा सुनें कुछ और ही और जानें कुछ और ही, यह कैसे ठीक हो सकता है ?

इसका उत्तर जैनाचार्य स्यात् शब्द के द्वारा देते हैं। 'मनुष्य स्यात् है'—इस शब्दावलि में सत्ता धर्म की अभिव्यक्ति है। मनुष्य केवल 'अस्ति-धर्म' मात्र नहीं है। उसमें 'नास्ति-धर्म' भी है। स्यात्-शब्द यह बताता है कि अभिव्यक्त सत्यांश को ही पूर्ण सत्य मत समझो। अनन्त धर्मात्मक वस्तु ही सत्य है। ज्ञान अपने आप में सत्य ही है। उसके सत्य और असत्य—ये दो रूप प्रमेय के सम्बन्ध से बनते हैं। प्रमेय का यथार्थग्राही ज्ञान सत्य और अयथार्थग्राही ज्ञान असत्य होता है। जैसे प्रमेय-सापेक्षज्ञान सत्य या असत्य बनता है, वैसे ही वचन भी प्रमेय-सापेक्ष होकर सत्य या असत्य बनता है। शब्द न सत्य है और न असत्य। वक्ता दिन को दिन कहता है, तब वह यथार्थ होने के कारण सत्य होता है और यदि रात को दिन कहे तब वही अयथार्थ होने के कारण असत्य बन जाता है। 'स्यात्' शब्द पूर्ण सत्य के प्रतिपादन का माध्यम है। एक धर्म की मुख्यता से वस्तु को बताते हुए भी हम उसकी अनन्तधर्मात्मकता को ओझल नहीं करते। इस स्थिति को सम्भालने वाला 'स्यात्' शब्द है। यह प्रतिपाद्य धर्म के साथ शेष अप्रतिपाद्य धर्मों की एकता बनाए रखता है। इसीलिए इसे प्रमाण वाक्य या सकलादेश कहा जाता है।

विकलादेश और सकलादेश

वस्तु-प्रधान ज्ञान सकलादेश और गुण-प्रधान ज्ञान विकलादेश होता है। इसके सम्बन्ध में तीन मान्यताएं हैं। पहली के अनुसार सप्तभंगी का प्रत्येक भंग सकलादेश और विकलादेश दोनों होता है [४]।

दूसरी मान्यता के अनुसार प्रत्येक भंग विकलादेश होता है और सम्मिलित सातों भंग सकलादेश कहलाते हैं।

तीसरी मान्यता के अनुसार पहला, दूसरा और चौथा भंग विकलादेश और शेष सब सकलादेश होते हैं [५]।

"द्रव्य नय की मुख्यता और पर्याय-नय की अमुख्यता से गुणों की अभेदवृत्ति बनती है। उससे स्याद्वाद-सकलादेश या प्रमाणवाक्य बनता है।

पर्याय-नय की मुख्यता और द्रव्य-नय की अमुख्यता से गुणों की भेदवृत्ति बनती है। उससे स्याद्‌वाद-विकलादेश या नय-वाक्य बनता है।

वाक्य दो प्रकार के होते हैं—सकलादेश और विकलादेश। अनन्त धर्म वाली वस्तु के अखण्ड रूप का प्रतिपादन करने वाला वाक्य सकलादेश होता है। वाक्य में यह शक्ति अभेद-वृत्ति की मुख्यता और अभेद का उपचार—इन दो कारणों से आती है। अनन्त धर्मों को अभिन्न बनाने वाले ८ कारण हैं—

(१) काल	(५) उपकार
(२) आत्म-रूप	(६) गुणी-देश
(३) अर्थ-आधार	(७) संसर्ग
(४) सम्बन्ध	(८) शब्द

वस्तु और गुण-धर्मों के सम्बन्ध की जानकारी के लिए इनका प्रयोग किया जाता है।

हम वस्तु के अनन्त गुणों को एक-एक कर बताएं और फिर उन्हें एक धागे में पिरोएं, यह हमारा अनन्त जीवन हो तब बनने की बात है। बिखेरने के बाद समेटने की बात ठीक बैठती नहीं, इसलिए एक ऐसा द्वार खोलें या एक ऐसी प्रकाश-रेखा डालें, जिसमें से या जिसके द्वारा समूची वस्तु दीख जाय। यह युक्ति हमें भगवान् महावीर ने सुझाई। वह है, उनकी वाणी में 'सिय' शब्द। उसी का संस्कृत अनुवाद होता है 'स्यात्'। कोई एक धर्म 'स्यात्' से जुड़ता है और वह बाकी के सब धर्मों को अपने में मिला लेता है। 'स्यात् जीव हैं'— यहाँ हम 'है' इसके द्वारा जीव की अस्तिता बताते हैं और 'है' स्यात् से जुड़कर आया है, इसलिए यह अखण्ड रूप में नहीं, किन्तु अखण्ड बनकर आया है। एक धर्म में अनेक धर्मों की अभिन्नता वास्तविक नहीं होती, इसलिए यह अभेद एक धर्म की मुख्यता या उपचार से होता है।

(१) जिस समय वस्तु में 'है' है, उस समय अन्य धर्म भी हैं, इसलिए काल की दृष्टि से 'है' और बाकी के सब धर्म अभिन्न हैं।

(२) 'है' धर्म जैसे वस्तु का आत्मरूप है, वैसे अन्य धर्म भी उसके आत्मरूप हैं। इस आत्मरूप की दृष्टि से प्रतिपाद्य धर्म का अप्रतिपाद्य धर्मों से अभेद है।

(३) जो अर्थ 'है' का आधार है, वही अन्य धर्मों का है। जिसमें एक है, उसीमें सब हैं—इस अर्थ-दृष्टि या आधार भूत द्रव्य की दृष्टि से सब धर्म एक हैं—समानाधिकरण हैं।

(४) वस्तु के साथ 'है' का जो अविष्वग्भाव या अपृथग्भाव सम्बन्ध है, वही अन्य धर्मों का है—इस तादात्म्य सम्बन्ध की दृष्टि से भी सब धर्म अभिन्न हैं।

(५) जैसे वस्तु के स्वरूप-निर्माण में 'है' अपना योग देता है, वैसे ही दूसरे धर्मों का भी उसके स्वरूप-निर्माण में योग है। इस योग या उपचार की दृष्टि से भी सब में अभेद है। पके हुए आम में मिठास और पीलेपन का उपचार भिन्न नहीं होता। यही स्थिति शेष सब धर्मों की है।

(६) जो वस्तु सम्बन्धी क्षेत्र 'है' का होता है, वही अन्य धर्मों का होता है—इस गुणी-देश की दृष्टि से भी सब धर्मों में भेद नहीं है। उदाहरण स्वरूप आम के जिस भाग में मिठास है, उसीमें पीलापन है। इस प्रकार वस्तु के देश—भाग की दृष्टि से वे दोनों एक रूप हैं।

(७) वस्त्वात्मा का 'है' के साथ जो संसर्ग होता है, वही अन्य धर्मों के साथ होता है—इस संसर्ग की दृष्टि से भी सब धर्म भिन्न नहीं हैं। आम का मिठास के साथ होने वाला सम्बन्ध उसके पीलेपन के साथ होने वाले सम्बन्ध से भिन्न नहीं होता। इसलिए वे दोनों अभिन्न हैं। धर्म और धर्मी भिन्ना-भिन्न होते हैं। अविष्वग्भाव सम्बन्ध में अभेद प्रधान होता है और भेद गौण।

(८) जो 'है' शब्द अस्तित्व धर्म वाली वस्तु का वाचक है, वह शेष अनन्त धर्म वाली वस्तु का भी वाचक है—इस शब्द-दृष्टि से भी सब धर्म अभिन्न हैं।

काल आदि की दृष्टि से भिन्न धर्मों का अभेद-उपचार

(१) समकाल एक में अनेक गुण हों, यह सम्भव नहीं, यदि हों तो उनका आश्रय भिन्न होगा।

(२) अनेक विध गुणों का आत्मरूप एक हो, यह सम्भव नहीं, यदि हो तो उन गुणों में भेद नहीं माना जाएगा।

(३) अनेक गुणों के आश्रयभूत अर्थ अनेक होंगे,, यह न हो तो एक अनेक गुणों का आश्रय कैसे बने ?

(४) अनेक सम्बन्धियों का एक के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

(५) अनेक गुणों के उपकार अनेक होंगे—एक नहीं हो सकता।

(६) गुणी का क्षेत्र—प्रत्येक भाग प्रतिगुण के लिए भिन्न होना चाहिए नहीं तो दूसरे गुणी के गुणों का भी इस गुणी-देश से भेद नहीं हो सकेगा।

(७) संसर्ग प्रतिसंसर्गी का भिन्न होगा।

(८) प्रत्येक विषय के शब्द पृथक् होंगे। सब गुणों को एक शब्द बता सके तो सब अर्थ एक शब्द के वाच्य बन जाएंगे और दूसरे शब्दों का कोई अर्थ नहीं होगा।

स्याद्वाद के बारे में जैन-दृष्टि (भ्रान्त दृष्टिकोण और उसकी समीक्षा)

'मूलं नास्ति कुतः शाखा'—कवि ने इसे असम्भव बताया है। स्याद्वाद की जैन-व्याख्या पढ़ने के बाद आप कुछ जैनेतर विद्वानों की व्याख्या पढ़ें, आपको मालूम होगा कि मूल के बिना भी शाखा होती है।

'स्यात्' शब्द तिङन्त प्रति रूपक अव्यय है। इसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, अनेकान्त, संशय, प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं। जैन-दर्शन में इसका प्रयोग अनेकान्त के अर्थ में भी होता है। स्याद्वाद अर्थात्—अनेकान्तात्मक वाक्य।

स्याद्वाद की नींव है अपेक्षा। अपेक्षा वहाँ होती है, जहाँ वास्तविक एकता और ऊपर से विरोध दीखे। विरोध वहाँ होता है, जहाँ निश्चय होता है। दोनों संशयशील हों, उस दशा में विरोध का क्या रूप बने ?

स्याद्वाद का उद्गम अनेकान्त वस्तु है। तत्स्वरूप वस्तु के यथार्थ-ग्रहण के लिए अनेकान्त-दृष्टि है। स्याद्वाद उस दृष्टि को वाणी द्वारा व्यक्त करने की पद्धति है। वह निमित्तभेद या अपेक्षाभेद से निश्चित विरोधि-धर्मयुगलों का विरोध मिटाने वाला है। जो वस्तु सत् है, वही असत् भी है, किन्तु जिस रूप से सत् है, उसी रूप से असत् नहीं है। स्वरूप की दृष्टि से

सत् है और पर-रूप की दृष्टि से असत्। दो निश्चित दृष्टि-बिन्दुओं के आधार पर वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन करने वाला वाक्य संशयरूप हो ही नहीं सकता। स्याद्वाद को अपेक्षावाद या कथंचिद्वाद भी कहा जा सकता है।

भगवान् महावीर ने स्याद्वाद की पद्धति से अनेक प्रश्नों का समाधान किया है, जिसे आगम युग का अनेकान्तवाद या स्याद्वाद कहा जाता है। दार्शनिक युग में उसी का विस्तार हुआ, किन्तु उसका मूल रूप नहीं बदला। परिव्राजक स्कन्दक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने बताया— एक जीव—

द्रव्य दृष्टि से सान्त है,
क्षेत्र दृष्टि से सान्त है,
काल दृष्टि से अनन्त है,
भाव दृष्टि से अनन्त है [१]।

इसमें द्रव्य-दृष्टि के द्वारा जीव की स्वतन्त्र सत्ता का निर्देश किया गया है। योजना करते-करते जीव अत्यन्त बनते हैं, किन्तु अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता की दृष्टि से जीव एक-एक हैं—सान्त हैं।

दूसरी बात—अनन्त गुणों के समुदय से एक गुणी बनता है। गुणों से गुणी अभिन्न होता है। इसलिए अनन्त गुण होने पर भी गुणी अनन्त नहीं होता, एक या सान्त होता है। जीव असंख्य प्रदेश वाला है या आकाश के असंख्य प्रदेशों में अवगाह पाता है, इसलिए क्षेत्र-दृष्टि से भी वह अनन्त नहीं है, सर्वत्र व्याप्त नहीं है। काल-दृष्टि से अनन्त है। वह सदा था, है और रहेगा। ज्ञान, दर्शन और अगुरुलघु पर्यायों की दृष्टि से अनन्त हैं। भगवान् महावीर की उत्तर-पद्धति में ये चार दृष्टियां मिलती हैं, वैसे ही अर्पित-अनर्पित दृष्टि या व्याख्या पद्धति और मिलती है, जिसके द्वारा स्याद्वाद विरोध मिटाने में समर्थ होता है [२]। जमाली को उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा— "जीव शाश्वत है वह कभी भी नहीं था, नहीं है और नहीं होगा—ऐसा नहीं होता।" वह था, है और होगा, इसलिए वह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित है। जीव अशाश्वत है—वह नैरयिक होकर तिर्यञ्च हो

हो जाता है, तिर्यञ्च होकर मनुष्य और मनुष्य होकर देव। यह अवस्था-चक्र बदलता रहता है। इस दृष्टि से जीव अशाश्वत है। विविध अवस्थाओं में परिवर्तित होने के उपरान्त भी उसकी जीवरूपता नष्ट नहीं होती। इस दृष्टि से वह शाश्वत है। इस प्रतिपादन का आधार द्रव्य और पर्याय—ये दो दृष्टियां हैं। गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में वे स्पष्ट रूप में मिलती हैं :—

गौतम ! जीव स्यात् शाश्वत है, स्यात् अशाश्वत। द्रव्यार्थिक दृष्टि से शाश्वत है और पर्यायार्थिक दृष्टि से अशाश्वत [८]।

ये दोनों धर्म वस्तु में प्रतिपल सम स्थितिक रहते हैं, किन्तु अर्पित मुख्य और अनर्पित गौण होता है। "जीव शाश्वत है"—इसमें शाश्वत धर्म मुख्य है और अशाश्वत धर्म गौण। "जीव अशाश्वत है" इसमें अशाश्वत धर्म मुख्य है और शाश्वत धर्म गौण। यह द्विरूपता वस्तु का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। काल-भेद या एकरूपता हमारे वचन से उत्पन्न है। शाश्वत और अशाश्वत का काल भिन्न नहीं होता। फिर भी हम पदार्थ को शाश्वत या अशाश्वत कहते हैं—यह अर्पितानर्पित व्याख्या है। पदार्थ का नियम न शाश्वतवाद है और न उच्छेदवाद। ये दोनों उसके सतत—सहचारी धर्म हैं। भगवान् महावीर ने इन दोनों समन्वित धर्मों के आधार पर अन्य जातीयवाद (जात्यन्तर-वाद) की देशना दी। उन्होंने कहा—"पदार्थ न शाश्वत है और न अशाश्वत, वह स्यात् शाश्वत है—अव्युच्छित्तिनय की दृष्टि से और स्यात् अशाश्वत है—व्युच्छित्तिनय की दृष्टि से। वह उभयात्मक है, फिर भी जिस दृष्टि (द्रव्य दृष्टि) से शाश्वत है उससे शाश्वत ही है और जिस दृष्टि (पर्याय-दृष्टि) से अशाश्वत है उस दृष्टि से अशाश्वत ही है, जिस दृष्टि से शाश्वत है, उसी दृष्टि से अशाश्वत नहीं है और जिस दृष्टि से अशाश्वत है उसी दृष्टि से शाश्वत नहीं है। एक ही पदार्थ एक ही काल में शाश्वत और अशाश्वत इस विरोधी धर्मयुगल का आधार है, इसलिए वह अनेकधर्मात्मक है। ऐसे अनन्तविरोधी-धर्मयुगलों का वह आधार है, इसलिए अनन्तधर्मात्मक है।

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है, इसलिए वाच्य भी है—विसदृश भी है, अवाच्य भी है, सदृश भी है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से विसदृश होता है, इसलिए कि उनके सब गुण समान नहीं होते। वे दोनों सदृश भी होते हैं—इसलिए कि

उनके अनेकों गुण समान भी होते हैं। चेतन गुण की दृष्टि से जीव अचेतन पुद्गल से भिन्न है तो अस्तित्व या प्रमेय गुण की अपेक्षा वह पुद्गल से अभिन्न भी है [९]। कोई भी पदार्थ दूसरे पदार्थ से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। किन्तु भिन्नाभिन्न है। विशेषगुण की दृष्टि से भिन्न है और सामान्य गुण की दृष्टि से अभिन्न [१०]। भगवती सूत्र हमें बताता है—"जीव पुद्गल भी है और पुद्गली भी है" [११]। शरीर आत्मा भी है और आत्मा से भिन्न भी है [१२]। शरीर रूपी भी है और अरूपी भी है, सचित्त भी है और अचित्त भी [१३]।

जीव की पुद्गल संज्ञा है, इसलिए वह पुद्गल है। पौद्गलिक इन्द्रिय सहित है, पुद्गल का उपभोक्ता है, इसलिए पुद्गली है अथवा जीव और पुद्गल में निमित्त नैमित्तिक भाव है (संसारी दशा में जीव के निमित्त से पुदगल की परिणति होती है और पुद्गल के निमित से जीव की परिणति होती है) इसलिए पुद्गली है। शरीर आत्मा की पौद्गलिक सुख-दुःख की अनुभूति का साधन बनता है, इसलिए वह उससे अभिन्न है। आत्मा चेतन है, काय अचेतन है, वह पुनर्भवी है काय एकभवी है—इसलिए दोनों भिन्न हैं। स्थूल शरीर (औदारिक शरीर) की अपेक्षा वह रूपी है और सूक्ष्मशरीर (कार्मण शरीर) की अपेक्षा वह अरूपी है।

शरीर आत्मा से कथंचित् अपृथक् भी है, इस दृष्टि से जीवित शरीर चेतन है। वह पृथक् भी है इस दृष्टि से अचित्त है। मृतशरीर भी अचित्त है। रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् है, स्यात् नहीं है और स्यात् अवक्तव्य है [१४]। वस्तु स्व-दृष्टि से है, पर-दृष्टि से नहीं है, इसीलिए वह सत्-असत् उभयरूप है। एक काल में एक धर्म की अपेक्षा वस्तु वक्तव्य है और एक काल में अनेक धर्मों की अपेक्षा वस्तु अवक्तव्य है। इसलिए वह वक्तव्य अवक्तव्य उभयरूप है। यहाँ भी सन्देह नहीं है—जिस रूप में सत् है, उस रूप में सत् ही है और जिस रूप में असत् है, उस रूप में असत् ही है। वक्तव्य-अवक्तव्य का भी यही रूप बनता है।

इस आगम-पद्धति के आधार पर दार्शनिक युग में स्याद्वाद का रूप-चतुष्टय बना—

१—वस्तु स्यात् नित्य है, स्यात् अनित्य है।

२—वस्तु स्यात् सामान्य है, स्यात् विशेष है।

३—वस्तु स्यात् सत् है, स्यात् असत् है।

४—वस्तु स्यात् वक्तव्य है, स्यात् अवक्तव्य है।

उक्त चर्चा में कहीं भी "स्यात्" शब्द संदेह के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। फिर भी शांकरभाष्य से लेकर आज तक के आलोचक साहित्य में स्याद्वाद को अनिर्धारित रूप ज्ञान या संशयवाद कहा गया है।

शंकराचार्य की युक्ति के अनुसार —"स्याद्वाद की पद्धति से जैन सम्मत सात पदार्थों की संख्या और स्वरूप का निश्चय नहीं हो सकता[१५]। वे वैसे ही हैं या वैसे नहीं हैं, यह निश्चय हुए बिना उनकी, प्रामाणिकता चली जाती हैं।"

आज के परिवर्तित युग में यह आलोचना मूल-स्पर्शी नहीं मानी जाती, तब कई व्यक्ति एक नई दिशा सुझाते हैं। जैसा कि डा० एस० के० बेलबालकर एम० ए०, पी० एच० डी० ने लिखा है—शंकराचार्य ने अपनी व्याख्या में पुरातन जैन-दृष्टि का प्रतिपादन किया है, और इसलिए उनका प्रतिपादन जान बूझकर मिथ्याप्ररूपण नहीं कहा जा सकता। जैनधर्म का जैनेतर साहित्य में सबसे प्राचीन उल्लेख बादरायण के वेदान्त सूत्र में मिलता है, जिस पर शंकराचार्य की टीका है। हमें इस बात को स्वीकार करने में कोई कारण नजर नहीं आता कि जैनधर्म की पुरातन बात को यह द्योतित करता है। यह बात जैनधर्म की सबसे दुर्बल और सदोष रही है...हाँ, आगामी काल में स्याद्वाद का दूसरा रूप हो गया, जो हमारे आलोचकों के समक्ष है और अब उस पर विशेष विचार करने की किसी को आवश्यकता प्रतीत नहीं होती[१६]।

(समीक्षा)...अगर हमारा झुकाव व्यक्तिवाद की ओर नहीं है तो हमें यह समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि शंकराचार्य ने स्याद्वाद का जिस रूप में खण्डन किया है, उसका वह रूप जैन दर्शन में कभी भी नहीं रहा है। बादरायण के "नैकस्मिन्नसम्भवात्" सूत्र में जैन-दर्शन द्वारा एक पदार्थ में अनेक विरोधी धर्मों के स्वीकार की बात मिलती है, संशय की नहीं। फिर भी शंकराचार्य ने स्याद्वाद का संशयवाद की भित्ति पर निराकरण किया, वह

जैन दर्शन की मान्य दृष्टि को हृदयंगम किये बिना किया—यह कहते हुए हमारी तटस्थ बुद्धि में कोई कम्पन नहीं होता।

इस परम्परा के उपजीवी विद्वान् डा० देवराज आज फिर एक बार उसकी पुनरावृत्ति चाहते हैं। वे लिखते हैं—"स्यादवाद का वाच्यार्थ है शायद-वाद।" "अंग्रेजी में इसे प्रोबेबिलिज्म (Probabilism) कह सकते हैं। अपने अतिरंजित रूप में स्याद्वाद संदेहवाद का भाई है। वास्तव में जैनियों को भगवान् बुद्ध की तरह तत्त्व-दर्शन सम्बन्धी प्रश्नों पर मौन धारण करना था। जिसके आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि पर निश्चित सिद्धान्त हो, उसके मुख से स्याद्वाद की दुहाई शोभा नहीं देती [१७]।"

(समीक्षा)...महात्मा बुद्ध की भांति भगवान् महावीर के तात्विक प्रश्नों पर मौन रखने की सम्मति देते हुए भी विद्वान् लेखक यह स्वीकार करते हैं कि भगवान् महावीर के आत्मा आदि विषयक सिद्धान्त निश्चित हैं। उन्हें आपत्ति इस पर है—एक ओर निश्चित सिद्धान्त और दूसरी ओर स्याद्वाद—वे इन दोनों को एक साथ देखना नहीं चाहते। यह ठीक भी है। निश्चित सिद्धान्त के लिए अनिश्चयवाद की दुहाई शोभा नहीं देती। किन्तु जैन-दृष्टि ऐसी नहीं है। वह पदार्थ के अनेक विरोधी धर्मों को निश्चित किन्तु अनेक बिन्दुओं द्वारा ग्रहण करती है। आश्चर्य की बात यह है कि आलोचक विद्वान् स्याद्वाद की अनेक-विरोधी धर्म-ग्राहक स्थिति देखते हैं, वैसे उसकी निश्चित अपेक्षा को नहीं देखते। यदि दोनों पहलू सम दृष्टि से देखे जाते तो स्याद्वाद को संशयवाद कहने का मौका ही नहीं मिलता। विद्वान् लेखक ने अपनी दूसरी पुस्तक—"पूर्वी और पश्चिमी दर्शन" में स्यात का अर्थ कदाचित् किया है [१८]। इसमें कोई संदेह नहीं—"स्यात्" का अर्थ संशय भी होता है और "कदाचित्" भी। किन्तु 'स्याद्वाद', जो अनेकान्त दृष्टि का प्रतिनिधि है, में 'स्यात्' को कथंचित् या अपेक्षा के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। स्याद्वाद का अर्थ है—कथंचित्वाद या अपेक्षावाद। आलोचकों की दृष्टि स्याद्वाद में प्रयुक्त 'स्यात्' का संशय और कदाचित् अर्थ करने की ओर दौड़ती है तो कथंचित् और अपेक्षा की ओर क्यों नहीं दौड़ती ?

अपेक्षा-दृष्टि से विरोध होना एक बात है और अपेक्षा-दृष्टि को संशय-दृष्टि या कदाचित् दृष्टि दिखाकर विरोध करना दूसरी बात।

हाँ, जैन-आगम में कदाचित् के अर्थ में 'स्यात्' शब्द का प्रयोग हुआ है[११]। किन्तु वह स्याद्वाद नहीं; उसकी संज्ञा 'भजना' है। भजना 'नियम' की प्रतिपक्षी है। दो धर्मों या धर्मों का साहचर्य निश्चित होता है, वह नियम है। और वह कभी होता है, कभी नहीं होता—यह भजना है।

व्याप्य के होने पर व्यापक के, कार्य होने पर कारण के, उत्तरवर्ती होने पर पूर्ववर्ती के और सहभावी रूप में एक के होने पर दूसरे के होने का नियम होता है। व्यापक में व्याप्य की, कारण में कार्य की, पूर्ववर्ती में उत्तरवर्ती की और संयोग की भजना (विकल्प) होती है। इसलिए स्याद्वाद संशय और भजना (कदाचिदवाद) दोनों से पृथक् है। इनकी आकृति-रचना भी एक सी नहीं है। देखिए निम्नवर्ती यन्त्र :—

१—भजना—

अग्नि कदाचित् सधूम होती है अग्नि कदाचित् निर्धूम होती है	निष्कर्ष—अमुक संयोग दशा में सधूम, अन्यथा निर्धूम,

२—संशय—

पदार्थ नित्य है या पदार्थ अनित्य है	निष्कर्ष—कुछ पता नहीं।

३—स्याद्वाद—

पदार्थ नित्य भी है पदार्थ अनित्य भी है	निष्कर्ष—पदार्थ नित्यानित्य है।

भजना अनेकों की एकत्र स्थिति या अ-स्थिति बताती है। इसलिए भजना साहचर्य का विकल्प है।

संशय एक-रूप पदार्थ में अनेक रूपों की कल्पना करता है। संशय अनिर्णायक विकल्प है।

स्याद्वाद अनेक धर्मात्मक पदार्थों में अनेक धर्मों की निश्चित स्थिति बताता है। स्याद्वाद निर्णायक विकल्प है।

भजना कालापेक्ष है, जैसे—वह वहाँ कदाचित् होता है, कदाचित् नहीं

होता। संशय दोषपूर्ण सामग्री-सापेक्ष है। पदार्थ का स्वरूप निश्चित होता है। किन्तु दोषपूर्ण सामग्री से आत्मा का संशय ज्ञान अनिश्चित बन जाता है। स्याद्वाद पदार्थगत और ज्ञानगत उभय है। पदार्थ का स्वरूप भी अनेकान्तात्मक है और हमारे ज्ञान में भी वह अनेकान्तात्मक प्रतिभासित होता है।

डा० बलदेव उपाध्याय ने स्याद्वाद को संशयवाद का रूपान्तर नहीं माना है। परन्तु अनेकान्तवाद का दार्शनिक विवेचन उन्हें अनेक अंशों में त्रुटिपूर्ण लगता है। वे लिखते हैं--"यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है। परन्तु अनेकान्तवाद का दार्शनिक विवेचन अनेक अंश में त्रुटिपूर्ण प्रतीत हो रहा है। जैन दर्शन ने वस्तु-विशेष के विषय में होने वाली विविध लौकिक कल्पनाओं के एकीकरण का श्लाध्य प्रयत्न किया है, परन्तु उसका उसी स्थान पर ठहर जाना दार्शनिक दृष्टि से दोष ही माना जाएगा। यह निश्चित ही है कि इसी समन्वय-दृष्टि से वह पदार्थों के विभिन्न रूपों का समीकरण करता जाता तो समग्र विश्व में अनुस्यूत परम तत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता। इसी दृष्टि को ध्यान में रख कर शंकराचार्य ने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खण्डन अपने शारीरिक भाष्य (२-२-३३) में प्रबल युक्तियों के सहारे किया है[२०]।

(समीक्षा)...स्याद्वाद का एकीकरण वेदान्त के दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल नहीं, इसीलिए वह उपाध्यायजी को त्रुटिपूर्ण लगता हो तब तो दूसरी बात है अन्यथा हमें कहना होगा कि स्याद्वाद में वह त्रुटि नहीं जो दिखाई गई है। अनेकान्त दृष्टि को पर-संग्रह की दृष्टि से 'विश्वमेकम्' तक का एकीकरण मान्य है। किन्तु यही दृष्टि सर्वतोभद्र सत्य है, यह बात मान्य नहीं है। महा सत्ता की दृष्टि से सब का एकीकरण हो सकता है, सब दृष्टियों से नहीं। चैतन्य की दृष्टि से चेतन और अचेतन की मूल सत्ता एक नहीं हो सकती। यदि अचेतन का उपादान या मूल स्रोत चेतन बन सकता है तब 'अचेतन चेतन का उपादान या आदि स्रोत बनता है' यह भूतवादी धारणा असम्भव नहीं मानी जा सकती।

अनेकान्त के अनुसार एक परम तत्त्व ही परमार्थ सत्य नहीं है। चेतन-अचेतन द्वयात्मक जगत् परमार्थ सत्य है।

विद्वान् लेखक ने अनेकान्त को आपाततः उपादेय और मनोरंजक बताते हुए मूलभूत तत्त्व का स्वरूप समझाने में नितान्त असमर्थ बताया है और इसी कारण वह परमार्थ के बीचोबीच तत्त्व-विचार को "कतिपय क्षण के लिए विस्रम्भ तथा विराम देने वाले विश्राम गृह से बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" ऐसा माना जाता है [२१]।

(समीक्षा)···अनेकान्त दृष्टि—"कर्तु मकर्तु मन्यथाकर्तुं समर्थ ईश्वर :" नहीं है, जो कि मूलभूत तत्त्व बना डाले। वह यथार्थ वस्तु को यथार्थतया जानने वाली दृष्टि है। वस्तुवृत्त्या मूलभूत तत्त्व ही दो हैं। यदि अचेतन तत्त्व चेतन की भांति मूल तत्त्व नहीं होता—परमब्रह्म की ही माया या रूपान्तर होता तो अनेकान्तवाद को वहाँ तक पहुंचने में कोई आपत्ति नहीं होती। किन्तु बात ऐसी नहीं है, तब अनेकान्त दृष्टि सर्व दृष्टि से परम तत्त्व की एकात्मक सत्ता कैसे स्वीकार करे?

डा० देवराज ने स्याद्वाद की समीक्षा करते हुए लिखा है—"विभिन्न दृष्टिकोणों अथवा विभिन्न अपेक्षाओं से किये गए एक पदार्थ के विभिन्न वर्णनों में सामञ्जस्य या किसी प्रकार की एकता कैसे स्थापित की जाय, यह जैन दर्शन नहीं बतलाता। प्रत्येक सत् पदार्थ में ध्रुवता या स्थिरता रहती है, और प्रत्येक सत् पदार्थ उत्पाद और व्यय वाला अथवा परिवर्तनशील है, इन दो तथ्यों पर जैन दर्शन अलग-अलग और समान गौरव देता है। क्या इन दोनों सत्यों को किसी प्रकार एक करके, एक सामञ्जस्य के रूप में नहीं देखा जा सकता। तत्व मीमांसा (Ontology) में ही नहीं सत्य-मीमांसा (Theory of Truth) में भी जैन दर्शन अनेकवादी है। विशिष्ट सत्य एक सामान्य सत्य के अंश या अंग नहीं हैं। परमाणुओं की भांति उनका भी अलग-अलग अस्तित्व है। सत्य एक नहीं अनेक हैं, यहीं पर संगतिवाद और अनेकान्तवाद में भेद है। अनेक सत्यवादी होने के कारण ही जैन दर्शन सापेक्ष सत्यों से निरपेक्ष सत्य तक पहुंचने का रास्ता नहीं बना पाता। वह यह मानता प्रतीत होता है कि पूर्ण सत्य अपूर्ण सत्यों का योगमात्र है, उनकी समष्टि (system) नहीं [२२]।"

(समीक्षा)···जैन दर्शन ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय को पृथक्-पृथक् सत्य नहीं मानता। सत्य के दो रूप नहीं हैं। पदार्थ की उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्ता ही सत्य है। यह दो सत्यों का योग नहीं, किन्तु एक ही सत्य के अनेक अभिन्न रूप हैं। तात्पर्य यह है कि न भेद सत्य है और न अभेद सत्य है—भेदाभेद सत्य है। द्रव्य के बिना पर्याय नहीं मिलते, पर्याय के बिना द्रव्य नहीं मिलता, जात्यन्तर मिलता है—द्रव्य-पर्यायात्मक पदार्थ मिलता है, इसलिए भेद-अन्वित अभेद भी सत्य है और अभेद-अन्वित भेद भी सत्य है। एक शब्द में भेदाभेद सत्य है [२३]।

सत्य की मीमांसा में पूर्ण या अपूर्ण यह भेद नहीं होता। यह भेद हमारी प्रतिपादन पद्धति का है। सत्य स्वरूप-दृष्टि से अविभाज्य है। ध्रौव्य से उत्पाद-व्यय तथा उत्पाद-व्यय से ध्रौव्य कभी पृथक् नहीं हो सकता। अनन्त धर्मों की एकरूपता नहीं, इस दृष्टि से कथंचित् विभाज्य भी है। इसी स्थिति के कारण वह शब्द या वर्णन का विषय बनता है। यही सापेक्ष सत्यता है। पदार्थ निरपेक्ष सत्य है। उसके लिए सापेक्ष सत्यता की कोई कल्पना नहीं की जा सकती। सापेक्ष सत्यता, एक पदार्थ में अनेक विरोधी धर्मों की स्थिति से हमारे ज्ञान में जो विरोध की छाया पड़ती है उसको मिटाने के लिए है। जैन दर्शन जितना अनेकवादी है, उतना ही एकवादी है। वह सर्वथा एकवादी या अनेकवादी नहीं है। वेदान्त जैसे व्यवहार में अनेकवादी और परमार्थ में एकवादी है, वैसे जैन एक या अकनेवादी नहीं है। जैन दृष्टि के अनुसार एकता और अनेकता दोनों वास्तविक हैं। अनन्त धर्मों की अपृथक्-भाव सत्ता समन्वित सत्य है। यह सत्य की एकता है। ऐसे सत्य अनन्त हैं। उनकी स्वतंत्र सत्ता है। वे किसी एक सामान्य सत्य के अंश या प्रतिबिम्ब नहीं हैं। वेदान्त की विश्व-विषयक कल्पना की जैन की एक-पदार्थ-विषयक कल्पना से तुलना होती है। दूसरे शब्दों में यों कहना चाहिए कि जैन दर्शन एक पदार्थ के बारे में वैसे एकवादी है जैसे वेदान्त विश्व के बारे में। अनन्त सत्यों का समीकरण या वर्गीकरण एक में या दो में किया जा सकता है, किन्तु वे एक नहीं किये जा सकते। अस्तित्व (है) की दृष्टि से समूचा विश्व एक और स्वरूप की दृष्टि से समूचा विश्व दो (चेतन, अचेतन) रूप है। यह निश्चित

है कि अनन्त पदार्थों में व्यक्तिगत एकता न होने पर भी विशेष-गुणगत समानता और सामान्य-गुणगत एकता है। अनन्त चेतन व्यक्तियों में चैतन्य गुण-कृत समानता और अनन्त अचेतन व्यक्तियों में अचेतन गुण-कृत समानता है। वस्तुत्व गुण की दृष्टि से चेतन और अचेतन दोनों एक हैं। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से न सर्वथा भिन्न है—न सर्वथा अभिन्न है। सर्वथा अभिन्न नहीं है, इसलिए पदार्थों की नानात्मक सत्ता है और सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए एकात्मक सत्ता है। विशेष गुण की दृष्टि से पदार्थ निरपेक्ष है। सामान्य गुण की दृष्टि से पदार्थ सापेक्ष है। पदार्थों की एकता और अनेकता स्वयं सिद्ध या सांयोगिक है, इसलिए वह सदा रही है और रहेगी। इसलिए हमारा वैसा ज्ञान कभी सत्य नहीं हो सकता, जो अनेक को अवास्तविक मानकर एक को वास्तविक माने अथवा एक को अवास्तविक मानकर अनेक को वास्तविक माने।

जैन दर्शन का प्रसिद्ध वाक्य—'जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ' जो एक को जानता है वह सबको जानता है, अद्वैत का बहुत बड़ा पोषक है [२४]। किन्तु यह अद्वैत ज्ञेयत्व या प्रमेयत्व गुण की दृष्टि से है। जो ज्ञान एक ज्ञेय की अनन्त पर्यायों को जानता है, वह ज्ञेय मात्र को जानता है। जो एक ज्ञेय को सर्वरूप से नहीं जानता, वह सब ज्ञेयों को भी नहीं जानता। यही बात एक प्राचीन श्लोक बताता है—

"एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टाः, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः।"

एक को जान लेने पर सबको जान लेने की बात अथवा सबको जान लेने पर एक को जान लेने की बात सर्वथा अद्वैत में तात्त्विक नहीं है। कारण कि उसमें एक ही तात्त्विक है, सब तात्त्विक नहीं। अनेकान्त-सम्मत ज्ञेय-दृष्टि से जो अद्वैत है, उसीमें—"एक और सब दोनों तात्त्विक हैं, इसलिए जो एक को जानता है, वही सबको और जो सबको जानता है, वही एक को जानता है"—इसका पूर्ण सामञ्जस्य है।

तर्क-शास्त्र के लेखक गुलाबराय एम० ए० ने स्याद्वाद को अनिश्चयवाद मानकर एक काल्पनिक भय की रेखा खींची है। जैसे—"जैनों के

अनेकान्तवाद में एक प्रकार से मनुष्य की दृष्टि को विस्तृत कर दिया है, किन्तु व्यवहार में हमको निश्चयता के आधार पर ही चलना पड़ता है। यदि हम पैर बढ़ाने से पूर्व पृथ्वी की दृढ़ता के "स्यादस्ति स्यान्नास्ति" के फेर में पड़ जांय तो चलना ही कठिन हो जाएगा [२५]।"

(समीक्षा)...लेखक ने सही लिखा है। अनिश्चय-दशा में वैसा ही बनता है। किन्तु विद्वान् लेखक को यह आशंका स्याद्वाद को संशयवाद समझने के कारण हुई है। इसलिए स्याद्वाद का सही रूप जानने के साथ-साथ यह अपने आप मिट जाती है—"शायद घड़ा है, शायद घड़ा नहीं है"—इससे दृष्टि का विस्तार नहीं होता प्रत्युत जानने वाला कुछ जान ही नहीं पाता। दृष्टि का विस्तार तब होता है, जब हम अनन्त दृष्टिबिन्दु-ग्राह्य सत्य को एकदृष्टिग्राह्य ही न मानें। सत्य की एक रेखा को भी हम निश्चय-पूर्वक न माप सकें, यह दृष्टि का विस्तार नहीं, उसकी बुराई है।

डा० सर् राधाकृष्णन् ने स्याद्वाद को अर्धसत्य बताते हुए लिखा है—"स्याद्वाद हमें अर्ध सत्यों के पास लाकर पटक देता है। निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्यों का योग पूर्ण सत्य नहीं हो सकता [२६]"।

(समीक्षा)...इस पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि स्याद्वाद पूर्णसत्य को देश काल की परिधि से मिथ्यारूप बनने से बचाने वाला है। सत् की अनन्त पर्यायें हैं, वे अनन्तसत्य हैं। वे विभक्त नहीं होतीं, इसलिए सत् अनन्त सत्यों का योग नहीं होता, किन्तु उन (अनन्त सत्यों) की विरोधात्मक सत्ता को मिटाने वाला होता है। दूसरी बात अनिश्चित सत्य स्याद्वाद को छूते ही नहीं। स्याद्वाद प्रमाण की कोटि में है। अनिश्चय अप्रमाण है। यह सही है—पूर्ण सत्य शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता, इसीलिए "स्यात्" को संकेत बनाना पड़ा। स्याद्वाद निरुपचरित अखण्ड सत्य को कहने का दावा नहीं करता। वह हमें सापेक्ष सत्य की दिशा में ले जाता है।

राहुलजी स्याद्वाद को संजय के विक्षेपवाद का अनुकरण बताते हुए लिखते हैं—"आधुनिक जैन दर्शन का आधार स्याद्वाद है, जो मालूम होता है, संजय बेलट्ठिपुत्त के चार अंग वाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात अंग वाला किया गया है, संजय ने तत्त्वों (परलोक, देवता) के बारे में कुछ

भी निश्चयात्मक रूप से कहने से इन्कार करते हुए उस इन्कार को चार प्रकार कहा है—

(१) है·········नहीं कह सकता।

(२) नहीं है······नहीं कह सकता।

(३) है भी और नहीं भी···नहीं कह सकता।

(४) न है और न नहीं है···नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनों के सात प्रकार के स्याद्वाद से—

(१) है···················हो सकता है (स्याद्-अस्ति)

(२) नहीं है············नहीं भी हो सकता है (स्यान्नास्ति)

(३) है भी और नहीं भी···हो सकता है और नहीं भी हो सकता है।

(स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते (वक्तव्य) हैं?

इसका उत्तर जैन "नही" में देते हैं—

(४) "स्याद्" (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है? नहीं "स्याद्" अवक्तव्य है।

(५) "स्याद् अस्ति" क्या यह वक्तव्य है? नहीं, "स्याद् अस्ति" अवक्तव्य है।

(६) "स्याद् नास्ति" क्या यह वक्तव्य है? नहीं, "स्याद् नास्ति" अवक्तव्य है।

(७) स्याद् अस्ति च नास्ति च"—क्या यह वक्तव्य है? नहीं, स्याद् अस्ति च नास्ति च" अवक्तव्य है।

दोनो के मिलाने से मालूम होगा कि जैनों ने संजय के पहिले वाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग-अलग करके अपने स्याद्वाद की छह भंगियां बनाई और उसके चौथे वाक्य "न है और न नहीं है" को छोड़ कर "स्याद्" भी वक्तव्य है, यह सातवां भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।

उपलब्ध सामग्री से मालूम होता है कि संजय अपने अनेकान्तवाद का प्रयोग—परलोक, देवता, कर्म-फल, मुक्त पुरुष जैसे परोक्ष विषयों पर करता था। जैन संजय की युक्ति को प्रत्यक्ष वस्तुओं पर भी लागू करते हैं। उदाहर-

पार्थ सामने मौजूद घट की सत्ता के बारे में जैन दर्शन से यदि प्रश्न पूछा जाए तो उत्तर निम्नप्रकार मिलेगा—

(१) घट यहाँ है ?—हो सकता है। (स्याद् अस्ति)

(२) घट यहाँ नहीं है ?—नहीं भी हो सकता है। (स्यान्नास्ति)

(३) क्या यहाँ घट है भी और नहीं भी है ?—है भी और नहीं भी हो सकता है। (स्याद् अस्ति च नास्ति च)

(४) हो सकता है (स्याद्) क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है ? नहीं, "स्याद्" यह अवक्तव्य है।

(५) "घट यहाँ हो सकता है" (स्याद् अस्ति) यह कहा जा सकता है ? नहीं, "घट यहाँ हो सकता है", यह नहीं कहा जा सकता।

(६) "घट यहाँ नहीं हो सकता" (स्याद् नास्ति) क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, घट यहाँ नहीं हो सकता, यह नहीं कहा जा सकता।

(७) "घट यहाँ हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है"—क्या यह कहा जा सकता है ? नहीं, घट यहाँ हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, यह नहीं कहा जा सकता—

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (वाद) की स्थापना न करना, जो कि संजय का वाद था, उसी को संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर जैनों ने अपना लिया और उसकी चतुर्भङ्गी न्याय को सप्तभंगी में परिणत कर दिया [२७]।

(समीक्षा)···यह गड्डरी-प्रवाह क्यों चला और क्यों चलता जा रहा है पता नहीं। संजय के अनिश्चयवाद का स्याद्वाद से कोई वास्ता तक नहीं, फिर भी पिसा आटा बार-बार पिसा जा रहा है। संजय का वाद न सद्भाव बताता है और न असद्भाव [२८]। अनेकान्त, विधि और प्रतिषेध दोनों का निश्चयपूर्वक प्रतिपादन करता है। अनेकान्त सिर्फ अनेकान्त ही नहीं, वह एकान्त भी है। प्रमाण-दृष्टि को मुख्य मानने पर अनेकान्त फलता है और नय दृष्टि को मुख्य मानने पर एकान्त [२९]। एकान्त भी स्याद्वाद के अंकुश से परे नहीं हो सकता। एकान्त असत्-एकान्त न बन जाय—"यह भी है" को छोड़कर 'यही है' का रूप न ले ले, इसलिए वह जरूरी भी है।

भगवान् महावीर का युग दर्शन-प्रणयन का युग था। आत्मा, परलोक, स्वर्ग, मोक्ष है या नहीं? इन प्रश्नों की गूंज थी। सामान्य विषय भी जीखोल कर चर्चे जाते थे। प्रत्येक दर्शन-प्रणेता की अपने-अपने ढंग की उत्तर-शैली थी। महात्मा बुद्ध मध्यम प्रतिपदावाद या विभज्यवाद के द्वारा समझाते थे। संजयवेलट्ठीपुत्त विक्षेपवाद या अनिश्चयवाद की भाषा में बोलते ··· भगवान् महावीर का प्रतिपादन स्याद्वाद के सहारे होता। इन्हें एक दूसरे का बीज मानना आग्रह से अधिक और कुछ नहीं लगता।

संजय की उत्तर-प्रणाली को अनेकान्तवादी कहना अनेकान्तवाद के प्रति घोर अन्याय है। भगवान् महावीर ने यह कभी नहीं कहा कि मैं समझता होऊं कि अमुक है तो आपको बतलाऊं। वे निर्णय की भाषा में बोलते। उनके अनेकान्त में अनन्त धर्मों को परखने वाली अनन्त दृष्टियां और अनन्त वाणी के विकल्प हैं। किन्तु याद रखिए, वे सब निर्णायक हैं। संजय के भ्रम-वाद की भांति लोगों को भूलभुलैया में डालने वाले नहीं हैं। अनन्त धर्मों के लिए अनन्त दृष्टिकोणों और कुछ भी निर्णय न करने वाले दृष्टिकोणों को एक कोटि में रखने का आग्रह धूप छांह को मिलाने जैसा है। इसे "हां और "नहीं" का भेद नहीं कहा जा सकता। यह मौलिक भेद है। 'अस्तीति न भणामि'—'है' नहीं कह सकता और "नास्तीति च न भणामि"—"नहीं है" नहीं कह सकता। संजय की इस संशयशीलता के विरुद्ध अनेकान्त कहता है— "स्यात् अस्ति"—अमुक अपेक्षा से यह है ही, "स्यात् नास्ति"—अमुक अपेक्षा से यह नहीं ही है।

'घट यहाँ हो सकता है'—यह स्याद्वाद की उत्तर-पद्धति नहीं है। उसके अनुसार 'घट है—अपनी अपेक्षा से निश्चित है' यह रूप होगा।

अहिंसा-विकास में अनेकान्त दृष्टि का योग

जैन धर्म का नाम याद आते ही अहिंसा साकार हो आँखों के सामने आ जाती है। अहिंसा की आर्धात्मा जैन शब्द के साथ इस प्रकार घुली मिली हुई है कि इनका विभाजन नहीं किया जा सकता। लोक-भाषा में यही प्रचलित है कि जैन धर्म यानी अहिंसा, अहिंसा यानी जैन धर्म।

धर्म मात्र अहिंसा को आगे किये चलते हैं। कोई भी धर्म ऐसा नहीं

मिलता, जिसका मूल या पहला तत्त्व अहिंसा न हो। तब फिर जैन धर्म के साथ अहिंसा का ऐसा तादात्म्य क्यों ? यहाँ विचार कुछ आगे बढ़ता है।

अहिंसा का विचार अनेक भूमिकाओं पर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा के बारे में अनेक धर्मों में विभिन्न धारणाएं मिलती हैं। स्थूल रूप में सूक्ष्मता के बीज भी न मिलते हों, वैसी बात नहीं, किन्तु बौद्धिक अहिंसा के क्षेत्र में भगवान् महावीर से जो अनेकान्त-दृष्टि मिली, वही खास कारण है कि जैन धर्म के साथ अहिंसा का अविच्छिन्न सम्बन्ध हो चला।

भगवान् महावीर ने देखा कि हिंसा की जड़ विचारों की विप्रतिपत्ति है। वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसा के रूप में अभिव्यक्त होती है। शरीर जड़ है, वाणी भी जड़ है, जड़ में हिंसा-अहिंसा के भाव नहीं होते। इनकी उद्‌भव-भूमि मानसिक चेतना है। उसकी भूमिकाएं अनन्त हैं।

प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हैं। उनको जानने के लिए अनन्त दृष्टियां हैं। प्रत्येक दृष्टि सत्यांश है। सब धर्मों का वर्गीकृत रूप अखण्ड वस्तु और सत्यांशों का वर्गीकरण अखण्ड सत्य होता है।

अखण्ड वस्तु जानी जा सकती है किन्तु एक शब्द के द्वारा एक समय में कही नहीं जा सकती। मनुष्य जो कुछ कहता है, उसमें वस्तु के किसी एक पहलू का निरूपण होता है। वस्तु के जितने पहलू हैं, उतने ही सत्य हैं जितने सत्य हैं, उतने ही द्रष्टा के विचार हैं। जितने विचार हैं, उतनी ही आकांक्षाएं हैं। जितनी आकांक्षाएं हैं, उतने ही कहने के तरीके हैं। जितने तरीके हैं, उतने ही मतवाद हैं। मतवाद एक केन्द्र-बिन्दु है। उसके चारों ओर विवाद-संवाद, संघर्ष समन्वय, हिंसा और अहिंसा की परिक्रमा लगती है। एक से अनेक के सम्बन्ध जुड़ते हैं, सत्य या असत्य के प्रश्न खड़े होने लगते हैं। बस यहीं से विचारों का स्रोत दो धाराओं में बह चलता है—अनेकान्त या सत्-एकान्त दृष्टि—अहिंसा, असत्-एकान्त दृष्टि—हिंसा।

कोई बात या कोई शब्द सही है या गलत इसकी परख करने के लिए एक दृष्टि की अनेक धाराएं चाहिए। वक्ता ने जो शब्द कहा, तब वह किस

अवस्था में था ? उसके आस-पास की परिस्थितियां कैसी थीं ? उसका शब्द किस शब्द-शक्ति से अन्वित था ? विवक्षा में किसका प्राधान्य था ? उसका उद्देश्य क्या था ? वह किस साध्य को लिए चलता था ? उसकी अन्य निरूपण-पद्धतियां कैसी थीं ? तत्कालीन सामयिक स्थितियां कैसी थीं ? आदि-आदि अनेक छोटे-बड़े बाट मिलकर एक-एक शब्द को सत्य के तराजू में तोलते हैं।

सत्य जितना उपादेय है, उतना ही जटिल और छिपा हुआ है। उसे प्रकाश में लाने का एक मात्र साधन है शब्द। उसके सहारे सत्य का आदान-प्रदान होता है। शब्द अपने आप में सत्य या असत्य कुछ भी नहीं है। वक्ता की प्रवृत्ति से वह सत्य या असत्य से जुड़ता है। 'रात' एक शब्द है, वह अपने आपमें सही या झूठ कुछ भी नहीं। वक्ता अगर रात को रात कहे तो वह शब्द सत्य है और अगर वह दिन को रात कहे तो वही शब्द असत्य हो जाता है। शब्द की ऐसी स्थिति है, तब कैसे कोई व्यक्ति केवल उसीके सहारे सत्य को ग्रहण कर सकता है।

इसीलिए भगवान् महावीर ने बताया—"प्रत्येक धर्म (वस्त्वंश) को अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है। एक सत्यांश के साथ लगे या छिपे अनेक सत्यांशों को ठुकरा कर कोई उसे पकड़ना चाहे तो वह सत्यांश भी उसके सामने असत्यांश बनकर आता है।"

दूसरों के प्रति ही नहीं किन्तु उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरों को समझने की भी चेष्टा करो। यही है अनेकान्त दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसीका नाम है—बौद्धिक अहिंसा। भगवान् महावीर ने इसे दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा, इसे जीवन-व्यवहार में भी उतारा। चंडकौशिक साँप ने भगवान् के डंक मारे तब उनने सोचा—"यह अज्ञानी है, इसीलिए मुझे काट रहा है, इस दशा में मैं इस पर क्रोध कैसे करूँ ?" संगम ने भगवान् को कष्ट दिये, तब उनने सोचा—"यह मोह व्याक्षिप्त है, इसलिए यह ऐसा जघन्य कार्य करता है। मैं मोह-व्याक्षिप्त नहीं हूँ, इसलिए मुझे क्रोध करना उचित नहीं।"

भगवान् ने चण्डकौशिक और अपने भक्तों को समान दृष्टि से देखा, इसलिए देखा कि उनकी विश्वमैत्री की अपेक्षा दोनों समकक्ष मित्र थे।

चण्डकौशिक अपनी उग्रता की अपेक्षा भगवान् का शत्रु माना जा सकता है किन्तु भगवान् की मैत्री की अपेक्षा वह उनका शत्रु नहीं माना जा सकता। इस बौद्धिक अहिंसा का विकास होने की आवश्यकता है।

स्कन्दक संन्यासी को उत्तर देते हुए भगवान् ने बताया—विश्व सान्त भी है, अनन्त भी। यह अनेकान्त दार्शनिक क्षेत्र में उपयुज्य है। दार्शनिक संघर्ष इस दृष्टि से बहुत सरलता से सुलझाये जा सकते हैं, किन्तु कलह का क्षेत्र सिर्फ मतवाद ही नहीं है। कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनीतिक अखाड़े संघर्षों के लिए सदा खुले रहते हैं। उनमें अनेकान्त दृष्टि लभ्य बौद्धिक अहिंसा का विकास किया जाय तो बहुत सारे संघर्ष टल सकते हैं। जो कहीं भय या द्वैधीभाव बढ़ता है, उसका कारण ऐकान्तिक आग्रह ही है। एक रोगी कहे, मिठाई बहुत हानिकारक वस्तु है, उस स्थिति में स्वस्थ व्यक्ति को यकायक झेंपना नहीं चाहिए। उसे सोचना चाहिए—"कोई भी निरपेक्ष वस्तु लाभकारक या हानिकारक नहीं होती", उसकी लाभ और हानि की वृत्ति किसी व्यक्ति-विशेष के साथ जुड़ने से बनती है। जहर किसी के लिए जहर है, वही किसी के लिए अमृत होता है, परिस्थिति के परिवर्तन में जहर जिसके लिए जहर होता है, उसीके लिए अमृत भी बन जाता है। साम्यवाद पूंजीवाद को बुरा लगता है और पूंजीवाद साम्यवाद को, इसमें ऐकान्तिकता ठीक नहीं हो सकती। किसी में कुछ और किसी में कुछ विशेष तथ्य मिल ही जाते हैं। इस प्रकार हर क्षेत्र में जैन धर्म अहिंसा को साथ लिए चलता है [३०]।

तत्त्व और आचार पर अनेकान्तदृष्टि

"बाल होकर भी अपने को पंडित मानने वाले व्यक्ति एकान्त पक्ष के आश्रय से उत्पन्न होने वाले कर्मबन्ध को नहीं जानते [३१]"। व्यावहारिक और तात्त्विक सभी जगह अनेकान्त का आश्रयण ही कल्याणकर होता है। एकान्तवाद आग्रह या संक्लिष्ट मनोदशा का परिणाम है। उससे कर्मबन्ध होता है। अहिंसक के कर्मबन्ध नहीं होता। अनेकान्तदृष्टि में आग्रह या संक्लेश नहीं होता, इसलिए वह अहिंसा है। साधक को उसी का प्रयोग करना

चाहिए। एकान्तदृष्टि से व्यवहार भी नहीं चलता, इसलिए उसका स्वीकार अनाचार है। अनेकान्तदृष्टि से व्यवहार का भी लोप नहीं होता, इसलिए उस का स्वीकार आचार है। इनके अनेक स्थानों का वर्णन करते हुए सूत्रकृतांग में बताया है—

(१) पदार्थ नित्य ही है या अनित्य ही है—यह मानना अनाचार है। पदार्थ कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य—यह मानना आचार है।

(२) शास्ता—तीर्थंकर, उनके शिष्य या भव्य, इनका सर्वथा उच्छेद हो जाएगा—संसार भव्य जीवन शून्य हो जाएगा, या मोक्ष होता ही नहीं—यह मानना अनाचार है। भवस्थ केवली मुक्त होते हैं, इसलिए वे शाश्वत नहीं हैं और प्रवाह की अपेक्षा केवली सदा रहते हैं, इसलिए शाश्वत भी हैं—यह मानना आचार है।

(३) सब जीव विसदृश ही हैं या सदृश ही हैं—यह मानना अनाचार है। चैतन्य, अमूर्तत्व आदि की दृष्टि से प्राणी आपस में समान भी हैं और कर्म, गति, जाति, विकास आदि की दृष्टि से विलक्षण भी हैं—यह मानना आचार है।

(४) सब जीव कर्म की गांठ से बन्धे हुए ही रहेंगे अथवा सब छूट जाएंगे—यह मानना अनाचार है। काल, लब्धि, वीर्य, पराक्रम आदि सामग्री पाने वाले मुक्त होंगे भी और नहीं पाने वाले नहीं भी होंगे—यह मानना आचार है।

(५) छोटे और बड़े जीवों को मारने में पाप सरीखा होता है अथवा सरीखा नहीं होता—यह मानना अनाचार है। हिंसा में बन्ध की दृष्टि से सादृश्य भी है और बन्ध की मन्दता, तीव्रता की दृष्टि से असादृश्य भी—यह मानना आचार है।

(६) आधाकर्म आहार खाने से मुनि कर्म से लिप्त होते ही हैं या नहीं ही होते—यह मानना अनाचार है। जान बूझकर आधा कर्म आहार खाने से लिप्त होते हैं और शुद्ध नीति से व्यवहार में शुद्ध जानकर लिया हुआ आधाकर्म आहार खाने से लिप्त नहीं भी होते—यह मानना आचार है।

(७) औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर अभिन्न ही हैं, या भिन्न ही है—यह मानना अनाचार है। इन शरीरों की घटक वर्गणाएं भिन्न हैं, इस दृष्टि से ये भिन्न भी हैं और एक देश-काल में उपलब्ध होते हैं, इसलिए अभिन्न भी हैं—यह मानना आचार है।

(८) सर्वत्र वीर्य है, सब सब जगह है, सर्व सर्वात्मक है, कारण में कार्य का सर्वथा सद्भाव है या सब में सबकी शक्ति नहीं है—कारण में कार्य का सर्वथा अभाव है—यह मानना अनाचार है। अस्तित्व आदि सामान्य धर्मों की अपेक्षा पदार्थ एक-सर्वात्मक भी है और कार्य-विशेष गुण आदि की अपेक्षा अ-सर्वात्मक-भिन्न भी है। कारण में कार्य का सद्भाव भी है और असद्भाव भी—यह मानना आचार है।

(९) कोई पुरुष कल्याणवान् ही है या पापी ही है—यह नहीं कहना चाहिए। एकान्ततः कोई भी व्यक्ति कल्याणवान् या पापी नहीं होता।

(१०) जगत् दुःख रूप ही है—यह नहीं कहना चाहिए। मध्यस्थ दृष्टि वाले इस जगत् में परम सुखी भी होते हैं।

भगवान् महावीर ने तत्त्व और आचार दोनों पर अनेकान्त दृष्टि से विचार किया। इन पर एकान्त दृष्टि से किया जाने वाला विचार मानस-संक्लेश या आग्रह का हेतु बनता है। अहिंसा और संक्लेश का जन्मजात विरोध है। इसलिए अहिंसा को पल्लवित करने के लिए अनेकान्तदृष्टि परम आवश्यक है। आत्मवादी दर्शनों का मुख्य लक्ष्य है—बन्ध और मोक्ष की मीमांसा करना। बन्ध, बन्ध-कारण, मोक्ष और मोक्ष-कारण—यह चतुष्टय अनेकान्त को माने बिना घट नहीं सकता। अनेकान्तात्मकता के साथ क्रम-अक्रम व्याप्त है। क्रम-अक्रम से अर्थ-क्रिया व्याप्त है। अर्थ-क्रिया से अस्तित्व व्याप्त है।

स्याद्वाद की आलोचना

स्याद्वाद परखा गया और कसौटी पर कसा गया। बहुलांश तार्किकों की दृष्टि में वह सही निकला। कई तार्किकों को उसमें खामियां दीखीं, उन्होंने इसलिए उसे दोषपूर्ण बताया। ब्रह्मसूत्रकार व्यास और भाष्यकार शंकराचार्य

से लेकर आज तक स्याद्वाद के बारे में जो दोष बताए गये है, उनकी संख्या लगभग आठ होती है, जैसे—

(१) विरोध	(५) व्यतिकर
(२) वैयधिकरण्य	(६) संशय
(३) अनवस्था	(७) अप्रतिपत्ति
(४) संकर	(८) अभाव

१—ठंड और गर्मी में विरोध है, वैसे ही 'है' और 'नहीं' में विरोध है [३२]। "जो वस्तु है, वही नहीं है"—यह विरोध है।

२—जो वस्तु 'है' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है, वही 'नहीं' शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त बनने की स्थिति में सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। भिन्न निमित्तों से प्रवर्तित दो शब्द एक वस्तु में रहें, तब सामानाधिकरण्य होता है [३३]। सत् वस्तु में असत् की प्रवृत्ति का निमित्त नहीं मिलता, इसलिए सत् और असत् का अधिकरण एक वस्तु नहीं हो सकती।

३ – पदार्थ में सात भंग जोड़े जाते हैं, वैसे ही 'अस्ति' भंग में भी सात भंग जोड़े जा सकते हैं—अस्ति भंग में जुड़ी सप्त-भंगी में अस्ति-भंग होगा, उसमें फिर सप्त भंगी होगी। इस प्रकार सप्त-भंगी का कहीं अन्त न आएगा।

(४) 'है' और 'नहीं' दोनों एक स्थान में रहेंगे तो जिस रूप में 'है' है उसी रूप में 'नहीं' होगा—यह संकर दोष आएगा।

(५) जिस रूप से 'है' है, उसी रूप से 'नहीं' हो जाएगा और जिस रूप से 'नहीं' है उसी रूप से 'है' हो जाएगा। विषय अलग-अलग नहीं रह सकेंगे।

(६,७,८) संशय से पदार्थ की प्रतिपत्ति (ज्ञान) नहीं होगी और प्रतिपत्ति हुए बिना पदार्थ का अभाव होगा।

जैन आचार्यों ने इनका उत्तर दिया है। सचमुच स्याद्वाद में दोष नहीं आते। यह कल्पना उसका सही रूप न समझने का परिणाम है। इसके पीछे एक तथ्य है। मध्य युग में अजैन विद्वानों को जैन ग्रन्थ पढ़ने में झिझक थी। क्यों थी पता नहीं, पर थी अवश्य। जैन आचार्य खुले दिल से अन्य-दर्शन

के ग्रन्थ पढ़ते थे। अजैन ग्रन्थों पर उन द्वारा लिखी गई टीकाएं इसका स्पष्ट प्रमाण है।

स्याद्वाद का निराकरण करते समय पूर्वपक्ष यथार्थ नहीं रखा गया। स्याद्वाद में विरोध तब आता, जब कि एक ही दृष्टि से वह दो धर्मों को स्वीकार करता। पर बात ऐसी नहीं है। जैन-आगम पर दृष्टि डालिए। भगवान् महावीर से पूछा गया कि—भगवन्! "जीव मर कर दूसरे जन्म में जाता है, तब शरीर सहित जाता है या शरीर रहित?" भगवान् कहते हैं—"स्यात् शरीर सहित और स्यात् शरीर रहित।" उत्तर में विरोध लगता है पर अपेक्षा दृष्टि के सामने आते ही वह मिट जाता है[३४]।

शरीर दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और स्थूल। शरीर मोक्ष-दशा से पहिले नहीं छूटते, इस अपेक्षा से परभव-गामी जीव शरीर सहित जाता है। स्थूल शरीर एक-जन्म-सम्बद्ध होते हैं, इस दृष्टि से वह अ-शरीर जाता है। एक ही प्राणी की स-शरीर और अशरीर गति विरोधी बनती है किन्तु अपेक्षा समझने पर वह वैसी नहीं रहती।

विरोध तीन प्रकार के हैं—(१) वध्य-घातक-भाव (२) सहानवस्थान (३) प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक भाव।

पहला विरोध बलवान् और दुर्बल के बीच होता है। वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व धर्म तुल्यहेतुक और तुल्यबली हैं, इसलिए वे एक दूसरे को बाध नहीं सकते।

दूसरा विरोध वस्तु की क्रमिक पर्यायों में होता है। बाल्य और यौवन क्रमिक हैं, इसलिए वे एक साथ नहीं रह सकते। किन्तु अस्तित्व और नास्तित्व क्रमिक नहीं हैं, इसलिए इनमें यह विरोध भी नहीं आता।

आम डंठल से बन्धा रहता है, तब तक गुरु होने पर भी नीचे नहीं गिरता। इनमे 'प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव' होता है। अस्तित्व-नास्तित्व के प्रयोजन का प्रतिबन्धक नहीं है। अस्ति-काल में ही पर की अपेक्षा नास्ति-बुद्धि और नास्तिकाल में ही स्व की अपेक्षा अस्ति-बुद्धि होती है, इसलिए इनमें प्रतिबन्ध्य-प्रतिबन्धक भाव भी नहीं है। अपेक्षा-भेद से इनमें विरोध नहीं रहता।

स्याद्वाद विरोध लाता नहीं किन्तु अविरोधी धर्मों में जो विरोध लगता है, उसे मिटाता है [३५]।

(१) जिस रूप से वस्तु सत् है, उसी रूप से वस्तु असत् मानी जाए तो विरोध आता है [३६]। जैन दर्शन यह नहीं मानता। वस्तु को स्व-रूप से सत् और पर-रूप से असत् मानता है। शंकराचार्य और भास्कराचार्य ने जो एक ही वस्तु को एक ही रूप से सत्-असत् मानने का विरोध किया है, वह जैन दर्शन पर लागू नहीं होता [३७]।

हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस के संस्कृत कॉलेज के प्रिन्सीपल निखिल विद्या-वारिधि पण्डित अम्बादासजी शास्त्री ने स्याद्वाद में दीखने वाले विरोध को आपाततः सन्देह बताते हुए लिखा है—"यहाँ पर आपाततः प्रत्येक व्यक्ति को यह शंका हो सकती है कि इस प्रकार परस्पर विरोधी धर्म एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं और इसी से वेदान्त सूत्र में व्यासजी ने एक स्थान पर लिखा है—'नैकस्मिन्नसम्भवात्'—अर्थात् एक पदार्थ में परस्पर विरुद्ध नित्यानित्यत्वादि नहीं रह सकते। परन्तु जैनाचार्यों ने स्याद्वाद-सिद्धान्त से इन परस्पर विरोधी धर्मों का एक स्थान में भी रहना सिद्ध किया है। और वह युक्तियुक्त भी है क्योंकि वह विरोधी धर्म विभिन्न अपेक्षाओं से एक वस्तु में रहते हैं, न कि एक ही अपेक्षा से [३८]।"

प्रो० फणिभूषण अधिकारी (अध्यक्ष—दर्शन शास्त्र, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय) के शब्दों में—"विद्वान् शंकराचार्य ने इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया। यह बात अन्य योग्यता वाले पुरुषों में क्षम्य हो सकती थी किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् को सर्वथा अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने इस धर्म के, जिसके लिए अनादर से 'विवसन-समय' अर्थात् नग्न लोगों का सिद्धान्त ऐसा नाम वे रखते हैं, दर्शन शास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन की परवाह नहीं की।"

(२) वस्तु के 'सत्' अंश से उसमें 'है' शब्द की प्रवृत्ति होती है, वैसे ही उसके असत् अंश से उसमें 'नहीं' शब्द की प्रवृत्ति होने का निमित्त

बनता है। 'है' और 'नहीं' ये दोनों एक ही वस्तु के दो भिन्न धर्मों द्वारा प्रवर्तित होते हैं। इसलिए वैयधिकरण्य दोष भी स्याद्वाद को नहीं छूता।

(३) किसी वस्तु में अनन्त विकल्प होते हैं, इसीलिए अनवस्था-दोष नहीं बनता। यह दोष तब बने, जब कि कल्पनाएं अप्रामाणिक हों, सप्तभंगियां प्रमाण-सिद्ध हैं [३९]। इसलिए एक पदार्थ में अनन्त-सप्तभंगी होने पर भी यह दोष नहीं आता। धर्म में धर्म की कल्पना होती ही नहीं। अस्तित्व धर्म है उसमें दूसरे धर्म की कल्पना ही नहीं होती, तब अनवस्था कैसे ?

(४) वस्तु जिस रूप से 'अस्ति' है, उसी रूप से 'नास्ति' नहीं है। इसलिए संकर-दोष भी नहीं आएगा [४०]।

(५) अस्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत होता है और नास्तित्व नास्तित्व रूप में। किन्तु अस्तित्व नास्तित्व रूप में और नास्तित्व अस्तित्व रूप में परिणत नहीं होता [४१]। 'है' 'नहीं' नहीं बनता और 'नहीं' 'है' नहीं बनता, इसलिए व्यतिकरदोष भी नहीं आने वाला है [४२]।

(६) स्याद्वाद में अनेक धर्मों का निश्चय रहता है, इसलिए वह संशय भी नहीं है। प्रो० आनन्दशंकर बापू भाई ध्रुव के शब्दों में—"महावीर के सिद्धान्त में बताये गए स्याद्वाद को कितने ही लोग संशयवाद कहते हैं, इसे मैं नहीं मानता। स्याद्वाद संशयवाद नहीं है किन्तु वह एक दृष्टिबिन्दु हमको उपलब्ध करा देता है। विश्व का किस रीति से अवलोकन करना चाहिए, यह हमें सिखाता है। यह निश्चय है कि विविध दृष्टिबिन्दुओं द्वारा निरीक्षण किये बिना कोई भी वस्तु सम्पूर्ण रूप में आ नहीं सकती। स्याद्वाद (जैनधर्म) पर आक्षेप करना अनुचित है।"

(७-८) संशय नहीं तब निश्चित ज्ञान का अभाव—अप्रतिपत्ति नहीं होगी। अप्रतिपत्ति के बिना वस्तु का अभाव भी नहीं होगा।

त्रिभंगी या सप्तभंगी

अपनी सत्ता का स्वीकार और पर-सत्ता का अस्वीकार ही वस्तु का वस्तुत्व है [४३]। यह स्वीकार और अस्वीकार दोनों एकाश्रयी होते हैं। वस्तु में 'स्व' की सत्ता की भांति 'पर' की असत्ता नहीं हो तो उसका स्वरूप ही नहीं बन सकता। वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय अनेक विकल्प करने

आवश्यक हैं। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"रत्नप्रभा पृथ्वी स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नहीं, स्यात् अवक्तव्य है[४४]।" स्व की अपेक्षा आत्मा अस्तित्व है, पर की अपेक्षा आत्मा-अस्तित्व नहीं है। युगपत् दोनों की अपेक्षा अवक्तव्य है। ये तीन विकल्प हैं, इनके संयोग से चार विकल्प और बनते हैं—

(४) स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति—रत्नप्रभा पृथ्वी स्व की अपेक्षा है, पर की अपेक्षा नहीं है—यह दो अंशों की क्रमिक विवक्षा है।

(५) स्यात्-अस्ति, स्यात्-अवक्तव्य—स्व की अपेक्षा है, युगपत् स्व-पर की अपेक्षा अवक्तव्य है।

(६) स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—पर की अपेक्षा नहीं है, युगपत् स्व-पर की अपेक्षा अवक्तव्य है।

(७) स्यात्-अस्ति, स्यात्-नास्ति, स्यात्-अवक्तव्य—एक अंश स्व की अपेक्षा है, एक अंश पर की अपेक्षा नहीं है, युगपत् दोनों की अपेक्षा अवक्तव्य है।

प्रमाण-सप्तभंगी

सत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन (१) इसलिए···अस्ति।

असत्त्व ,, ,, ,, ,, (२) इसलिए···नास्ति।

उभय धर्म की ,, से क्रमशः वस्तु का ,, (३) ,,···अस्ति-नास्ति।

,, ,, ,, ,, ,, युगपत् ,, ,, नहीं हो सकता (४) इसलिए अवक्तव्य।

उभय धर्म की प्रधानता से युगपत् वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता—सत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (५) इसलिए—अवक्तव्य-अस्ति।

उभय धर्म की प्रधानता से युगपत् वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता—असत्त्व की प्रधानता से वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (६) इसलिए—अवक्तव्य-नास्ति।

उभय धर्म की प्रधानता के साथ उभय धर्म की प्रधानता से क्रमशः वस्तु का प्रतिपादन हो सकता है (७) इसलिए—अवक्तव्य-अस्ति-नास्ति।

सप्तभंगी ही क्यों ?

वस्तु का प्रतिपादन क्रम और यौगपद्य, इन दो पद्धतियों से होता है। वस्तु में 'अस्ति' धर्म भी होता है और 'नास्ति' धर्म भी।

(१-२) 'वस्तु है'—यह अस्ति धर्म का प्रतिपादन है। 'वस्तु नहीं है'—यह नास्ति धर्म का प्रतिपादन है। यह क्रमिक प्रतिपादन है। अस्ति और नास्ति एक साथ नहीं कहे जा सकते, इसलिए युगपत् अनेक धर्म प्रतिपादन की अपेक्षा पदार्थ अवक्तव्य है। यह युगपत् प्रतिपादन है।

(३) क्रम-पद्धति में जैसे एक काल में एक शब्द से एक गुण के द्वारा समस्त वस्तु का प्रतिपादन हो जाता है, वैसे एक काल में एक शब्द से दो प्रतियोगी गुणों के द्वारा वस्तु का प्रतिपादन नहीं हो सकता, इसलिए युगपत् एक शब्द से समस्त वस्तु के प्रतिपादन की विवक्षा होती है, तब वह अवक्तव्य बन जाती है।

वस्तु-प्रतिपादन के ये मौलिक विकल्प तीन ही हैं। अपुनरुक्त रूप में इनके चार विकल्प और हो सकते हैं, इसलिए सात विकल्प बनते हैं। बाद के भंगों में पुनरुक्ति आ जाती है। उनसे कोई नया बोध नहीं मिलता, इसलिए उन्हें प्रमाण में स्थान नहीं मिलता। इसका फलित रूप यह है कि वस्तु के अनन्त धर्मों पर अनन्त सप्तभंगियां होती हैं किन्तु एक धर्म पर सात से अधिक भंग नहीं बनते।

(४) अपुनरुक्त-विकल्प—सत् द्रव्यांश होता है और असत् पर्यायांश। द्रव्यांश की अपेक्षा वस्तु सत् है और अभाव रूप पर्यायांश की अपेक्षा वस्तु असत् है। एक साथ दोनों की अपेक्षा अवक्तव्य है। क्रम-विवक्षा में उभयात्मक है।

(५-६-७) अवक्तव्य का सद्भाव की प्रधानता से प्रतिपादन हो तब पांचवां, असद्भाव की प्रधानता से हो तब छठा और क्रमशः दोनों की प्रधानता से हो तब सातवां भंग बनता है।

प्रथम तीन असांयोगिक विकल्पों में विवक्षित धर्मों के द्वारा अखण्ड वस्तु का ग्रहण होता है, इसलिए ये सकलादेशी हैं। शेष चारों का विषय देशावच्छिन्न धर्मी होता है, इसलिए वे विकलादेशी हैं[४५]।

एक विद्यार्थी में योग्यता, अयोग्यता, सक्रियता और निष्क्रियता—ये चार धर्म मान सात भंगों की परीक्षा करने पर इनकी व्यावहारिकता का पता लग सकेगा। इनमें दो गुण सद्भाव रूप हैं और दो उनके प्रतियोगी।

किसी व्यक्ति ने अध्यापक से पूछा—"अमुक विद्यार्थी पढ़ने में कैसा है ?"

अध्यापक ने कहा—"बड़ा योग्य है।"

(१) यहाँ पढ़ाई की अपेक्षा से उसका योग्यता धर्म मुख्य बन गया और शेष सब धर्म उसके अन्दर छिप गए—गौण बन गए।

दूसरे ने पूछा—"विद्यार्थी नम्रता में कैसा है ?"

अध्यापक ने कहा—"बड़ा अयोग्य है।"

(२) यहाँ उद्दण्डता की अपेक्षा से उसका अयोग्यता धर्म मुख्य बन गया और शेष सब धर्म गौण बन गए ?

किसी तीसरे व्यक्ति ने पूछा—"वह पढ़ने में और विनय-व्यवहार में कैसा है ?"

अध्यापक ने कहा—"क्या कहें यह बड़ा विचित्र है। इसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।"

(३) यह विचार उस समय निकलता है, जब उसकी पढ़ाई और उच्छृंखलता, ये दोनों एक साथ मुख्य बन दृष्टि के सामने नाचने लग जाती हैं। और कभी-कभी यूं भी उत्तर होता है "भाई अच्छा ही है, पढ़ने में योग्य है किन्तु वैसे व्यवहार में योग्य नहीं।"

पांचवां उत्तर—"योग्य है फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।"

छठा उत्तर—"योग्य नहीं है फिर भी बड़ा विचित्र है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।"

सातवां उत्तर—"योग्य भी है, नहीं भी—अरे क्या पूछते हो बड़ा विचित्र लड़का है, उसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।"

उत्तर देने वाले की भिन्न-भिन्न मनः स्थितियां होती हैं। कभी उसके सामने योग्यता की दृष्टि प्रधान हो जाती है और कभी अयोग्यता की। कभी एक साथ दोनों और कभी क्रमशः। कभी योग्यता का बखान होते-होते

योग्यता-अयोग्यता दोनों प्रधान बनती हैं, तब आदमी उलझ जाता है। कभी अयोग्यता का बखान होते-होते दोनों प्रधान बनती हैं और उलझन आती है। कभी योग्यता और अयोग्यता दोनों का क्रमिक बखान चलते-चलते दोनों पर एक साथ दृष्टि दौड़ने ही "कुछ कहा नहीं जा सकता"—ऐसी वाणी निकल पड़ती है।

जीव की सक्रियता और निष्क्रियता पर स्याद्-अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य का प्रयोग :—

मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार जीव और पुद्गल के संयोग से होता है। एकान्त निश्चयवादी के अनुसार जीव निष्क्रिय और अजीव सक्रिय है। सांख्य दर्शन की भाषा में पुरुष निष्क्रिय और प्रकृति सक्रिय है। एकान्त व्यवहारवादी के अनुसार जीव सक्रिय है और अजीव निष्क्रिय। विज्ञान की भाषा में जीव सक्रिय और अजीव निष्क्रिय है। स्याद्वाद की दृष्टि से जीव सक्रिय भी है, निष्क्रिय भी है और अवाच्य भी।

लब्धि-वीर्य या शक्ति की अपेक्षा से जीव की निष्क्रियता सत्य है; करण-वीर्य या क्रिया की अपेक्षा से जीव की सक्रियता सत्य है; उभय धर्मों की अपेक्षा से अवक्तव्यता सत्य है।

गुण-समुदाय को द्रव्य कहते हैं। द्रव्य के प्रदेशों—अवयवों को क्षेत्र कहते हैं। व्यवहार-दृष्टि के अनुसार द्रव्य का आधार भी क्षेत्र कहलाता है। द्रव्य के परिणमन को काल कहते हैं। जिस द्रव्य का जो परिणमन है, वही उसका काल है। घड़ी, मुहूर्त्त आदि काल व्यावहारिक कल्पना है। द्रव्य के गुण—शक्ति-परिणमन को भाव कहते हैं। प्रत्येक वस्तु का द्रव्यादि चतुष्टय भिन्न-भिन्न रहता है, एक जैसे, एक क्षेत्र में रहे हुए, एक साथ बने, एक रूप-रंग वाले सौ घड़ों में सादृश्य हो सकता है, एकता नहीं। एक घड़े के मृत्-परमाणु दूसरे घड़े के मृत्-परमाणुओं से भिन्न होते हैं। इसी प्रकार अवगाह, परिणमन और गुण भी एक नहीं होते।

वस्तु के प्रत्येक धर्म पर विधि-निषेध की कल्पना करने से अनन्त त्रिभंगियां या सप्तभंगियां होती हैं किन्तु उसके एक धर्म पर विधि-निषेध की कल्पना करने से त्रिभंगी या सप्तभंगी ही होती है[४६]।

वस्तु के विषय सात हैं, इसलिए सात प्रकार के संदेह, सात प्रकार के संदेह हैं इसलिए सात प्रकार की जिज्ञासा, सात प्रकार की जिज्ञासा से सात प्रकार के पर्यनुयोग, सात प्रकार के पर्यनुयोग से सात प्रकार के विकल्प बनते हैं [४७]।

मिथ्या दृष्टि

"आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥"

आग्रह सब में होता है किन्तु दूसरे के आग्रह का उचित मूल्य आंक सके, वह आग्रही नहीं होता।

अनेकान्त सम्यग्-दृष्टि है। सापेक्ष एकान्त भी सम्यग्-दृष्टि है। निरपेक्ष एकान्त-दृष्टि मिथ्या-दृष्टि है। दृष्टि प्रमाद या भूल से मिथ्या बनती है। प्रमाद अनेक प्रकार का होता है [४८]। अज्ञान प्रमाद है—अनजान में आदमी बड़े से बड़े अन्याय का समर्थन कर बैठता है। अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व में असत्य के प्रति आग्रह नहीं होता फिर भी अज्ञानवश असत्य के प्रति सत्य की श्रद्धा होती है, इसलिए वह मिथ्या-दृष्टि है और इसीलिए अज्ञान को सबसे बड़ा पाप माना गया है।

"अज्ञान क्रोध आदि पापों से बड़ा पाप है और इसलिए है कि उससे ढका हुआ मनुष्य हित-अहित का भेद भी नहीं समझ सकता[४९]।" अज्ञान-दशा में होने वाली भूल भूल नहीं, यह जैन दर्शन नहीं मानता।

मिथ्या ज्ञान से होने वाली भूलें साफ हैं। ज्ञान मिथ्या होगा तो ज्ञेय का यथार्थ बोध नहीं होगा। दर्शन की भाषा में यह विपर्यय या विपरीत ज्ञान है। वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है, उसे एकान्त समझना विपर्यय है।

संशय भी प्रमाद है। अनिश्चित ज्ञान से वस्तु वैसे नहीं जानी जा सकती जैसे वह है। इसलिए यह भी सम्यग्-दृष्टि बनने में बाधक है। जिज्ञासा और संशय एक नहीं है [५०]।

भाषा सम्बन्धी भूलें

एकान्त भाषा, निरपेक्ष एक धर्म को अखण्ड वस्तु कहने वाली भाषा दोषपूर्ण है। निश्चयकारिणी भाषा, जैसे—अमुक काम करूँगा, आगे वह काम

न कर सके, इसलिए यह भी सत्य की बाधक है। आवेश, क्रोध, अभिमान, छल, लोभ-लालच की उग्र दशा में व्यक्ति ठीक-ठीक नहीं सोच पाता, इसलिए ऐसी स्थितियों में अयथार्थ बातें बढ़ाचढ़ाकर या तोड़-मोड़कर कही जाती हैं [५१]।

ईक्षण या दर्शन सम्बन्धी भूलें

वस्तु अधिक दूर होती है या अधिक निकट, मन चंचल होता है, वस्तु अति सूक्ष्म होती है अथवा किसी दूसरी चीज से व्यवहृत होती है, दो वस्तुएं मिली हुई होती हैं, नेत्र की विषमता होती है, कुहासा होता है, काल की विषमता, स्थिति की विषमता होती है, तब दर्शन का प्रमाद होता है—देखने की भूलें होती हैं [५२]।

आंकने की भूलें

वस्तु का जो स्वरूप है, जो क्षेत्र है, जो काल और भाव-पर्यायें हैं, उन्हें छोड़कर कोरी वस्तु को समझने की चेष्टा होती है, तब वस्तु का स्वरूप आंकने में भूलें होती हैं।

कार्य-कारण सम्बन्धी भूलें

जो पहले होता है, वही कारण नहीं होता। कारण वह होता है, जिसके बिना कार्य पैदा न हो सके। पहले होने मात्र से कारण मान लिया जाए अथवा कारण-सामग्री के एकांश को कारण मान लिया जाए अथवा एक बात को अन्य सब बातों का कारण मान लिया जाए—वह कार्य-कारण सम्बन्धी भूलें होती हैं।

प्रमाण सम्बन्धी भूलें

जितने प्रमाणाभास हैं, वे सब प्रमाण का प्रमाद होने से बनते हैं। जैसे—प्रत्यक्ष का प्रमाद, परोक्ष का प्रमाद, स्मृति-प्रमाद, प्रत्यभिज्ञा-प्रमाद, तर्क-प्रमाद, अनुमान-प्रमाद, आगम-प्रमाद, व्याप्ति-प्रमाद, हेतु-प्रमाद, लक्षण-प्रमाद।

मानसिक झुकाव सम्बन्धी प्रमाद

क्रम-विकास का सिद्धान्त गलत ही है यह नहीं, यथार्थ ही है, यह भी

नहीं। फिर भी मानसिक झुकाव के कारण कोई उसे सर्वथा त्रुटिपूर्ण कहता है, कोई सोलह आना सही मानता है।

ऊपर की कुछ पंक्तियां सूत्र-रूप में हैं। इनसे हमारी दृष्टि विशाल बनती है। स्याद्वादकी मर्यादा समझने में भी सहारा मिलता है। वस्तु का स्थूल रूप देख हम उसे सही-सही समझ लें, यह बात नहीं। उसके लिए बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। ऊपर के सूत्र सावधानी के सूत्र हैं। वस्तु को समझते समय सावधानी में कमी रहे तो दृष्टि मिथ्या बन जाती है और आगे चल वह हिंसा का रूप ले लेती है और यदि सावधानी बरती जाए—आस-पास के सब पहलुओं पर ठीक-ठीक दृष्टि डाली जाए तो वस्तु का असली रूप समझ में आ जाता है।

विचार की आधार-भित्ति

दो परम्पराएँ

पर्यायार्थिक नय

अर्थनय और शब्दनय

नय-विभाग का आधार

नय के विषय का अल्प-बहुत्त्व

नय की शब्द-योजना

नय की त्रिभंगी या सप्त भंगी

ऐकान्तिक आग्रह या मिथ्यावाद

एकान्तवाद : प्रत्यक्षज्ञान का विपर्यय

"नत्थि नएहिं विहूणं, सुत्तं अत्थोय जिणमए किंचि।
आसज्जउ सोयारं, नए नय विसारओ बूआ॥"

आव० नि० गाथा ७६२

सापेक्ष-दृष्टि

प्रत्येक वस्तु में अनेक विरोधी धर्म प्रतीत होते हैं। अपेक्षा के बिना उनका विवेचन नहीं किया जा सकता। अखण्ड द्रव्य को जानते समय उसकी समग्रता जान ली जाती है किन्तु इससे व्यवहार नहीं चलता। उपयोग अखण्ड ज्ञान का ही हो सकता है। अमुक समय में अमुक कार्य के लिए अमुक वस्तु-धर्म का ही व्यवहार या उपयोग होता है, अखण्ड वस्तु का नहीं। हमारी सहज अपेक्षाएं भी ऐसी ही होती हैं। विटामिन डी (VitaminD) की कमी वाला व्यक्ति सूर्य का आताप लेता है, वह बालसूर्य की किरणों का लेगा। शरीर-विजय की दृष्टि से सूर्य का ताप सहने वाला तरुणसूर्य की धूप में आताप लेगा। भिन्न-भिन्न अपेक्षा के पीछे पदार्थ का भिन्न-भिन्न उपयोग होता है। प्रत्येक उपयोग के पीछे हमारी निश्चय अपेक्षा जुड़ी हुई होती है। यदि अपेक्षा न हो तो प्रत्येक वचन और व्यवहार आपस में विरोधी बन जाता है।

एक काठ के टुकड़े का मूल्य एक रुपया होता है, उसीका उत्कीर्णन (खुदाई) के बाद दस रुपया मूल्य हो जाता है, यह क्यों? काठ नहीं बदला फिर भी उसकी स्थिति बदल गई। उसके साथ साथ मूल्य की अपेक्षा बदल गई। काठ की अपेक्षा से उसका अब भी वही एक रुपया मूल्य है किन्तु खुदाई की अपेक्षा मूल्य वह नहीं, नौ रुपये और बढ़ गए। एक और दस का मूल्य विरोधी है पर अपेक्षा भेद समझने पर विरोध नहीं रहता।

अपेक्षा हमारा बुद्धिगत धर्म है। वह भेद से पैदा होता है। भेद मुख्य-वृत्त्या चार होते हैं—

(१) वस्तु-भेद।

(२) क्षेत्र-भेद या आश्रय भेद।

(३) काल-भेद ।

(४) अवस्था भेद ।

तात्पर्य यह है—"सत्ता वहीं जहाँ अर्थ-क्रिया, अर्थ क्रिया वहीं जहाँ क्रम-अक्रम, क्रम-अक्रम वहीं जहाँ अनेकान्त होता है। एकान्तवादी व्यापक अनेकान्त को नहीं मानते, तब व्याप्य क्रम-अक्रम नहीं, क्रम-अक्रम के बिना क्रिया व कारक नहीं, क्रिया व कारक के बिना बन्ध आदि चारों (बन्ध, बन्ध कारण, मोक्ष, मोक्ष कारण) नहीं होते [1]। इसलिए समस्याओं से मुक्ति पाने के लिए अनेकान्तदृष्टि ही शरण है। काठ के टुकड़े के मूल्य पर जो हमने विचार किया, वह अवस्था-भेद से उत्पन्न अपेक्षा है। यदि हम इस अवस्था-भेद से उत्पन्न होने वाली अपेक्षा की उपेक्षा कर दें तो भिन्न मूल्यों का समन्वय नहीं किया जा सकता।

आम की ऋतु में रुपये के दो सेर आम मिलते हैं। ऋतु बीतने पर सेर आम का मूल्य दो रुपये हो जाते हैं। कोई भी व्यवहारी एक ही वस्तु के इन विभिन्न मूल्यों के लिए झगड़ा नहीं करता। उसकी सहज बुद्धि में काल-भेद की अपेक्षा समाई हुई रहती है।

काश्मीर में मेवे का जो भाव होता है, वह राजस्थान में नहीं होता। काश्मीर का व्यक्ति राजस्थान में आकर यदि काश्मीर-सुलभ मूल्य में मेवा लेने का आग्रह करे तो वह बुद्धिमानी नहीं होती। वस्तु एक है, यह अन्वय की दृष्टि है किन्तु वस्तु की क्षेत्राश्रित पर्याय एक नहीं है। जिसे आम की आवश्यकता है वह सीधा आम के पास ही पहुँचता है। उसकी अपेक्षा यही तो है कि आम के अतिरिक्त सब वस्तुओं के अभाव धर्म वाला और आम्र-परमाणु सद्भावी आम उसे मिले। इस सापेक्ष-दृष्टि के बिना व्यावहारिक समाधान भी नहीं मिलता।

भगवान् महावीर की अपेक्षादृष्टियां

"से निच्चनिच्चेहिं समिक्ख पण्णे[2]"—अव्युच्छेद की दृष्टि से वस्तु नित्य है, व्युच्छेद की दृष्टि से अनित्य। भगवान् ने अविच्छेद और विच्छेद दोनों का समन्वय किया। फलस्वरूप ये निर्णय निकलते हैं कि—

(१) वस्तु न नित्य, न अनित्य किन्तु नित्य-अनित्य का समन्वय है।

(२) वस्तु न भिन्न, न अभिन्न किन्तु भेद-अभेद का समन्वय है।

(३) वस्तु न एक, न अनेक किन्तु एक-अनेक का समन्वय है।

इन्हें बुद्धिगम्य बनाने के लिए उन्होंने अनेक वर्गीकृत अपेक्षाएं प्रस्तुत कीं। वे कुछ इस प्रकार हैं :—

(१) द्रव्य।
(२) क्षेत्र।
(३) काल।
(४) भाव-पर्याय या परिणमन[3]।
(५) भव।
(६) संस्थान[4]।
(७) गुण।
(८) प्रदेश-अवयव[5]।
(९) संख्या।
(१०) ओघ।
(११) विधान।···

काल और विशेष गुणकृत अविच्छिन्न नित्य काल और क्रमभावी धमकृत विच्छिन्न अनित्य होता है। क्षेत्र और सामान्य गुणकृत अविच्छिन्न अभिन्न, क्षेत्र और विशेष गुणकृत विच्छिन्न भिन्न होता है। वस्तु और सामान्य गुणकृत अविच्छिन्न एक, वस्तु और विशेष गुणकृत विच्छिन्न अनेक होता है।

वस्तु के विशेष गुण (स्वतन्त्र सत्ता-स्थापक धर्म) का कभी नाश नहीं होता, इसलिए वह नित्य और उसके क्रम-भावी धर्म बनते-बिगड़ते रहते हैं, इसलिए वह अनित्य है। "वह अनन्त धर्मात्मक है, इसलिए उसका एक ही क्षण में एक स्वभाव से उत्पाद होता है, दूसरे स्वभाव से विनाश और तीसरे स्वभाव से स्थिति[6]।" वस्तु में इन विरोधी धर्मों का सहज सामञ्जस्य है। ये अपेक्षा दृष्टियाँ वस्तु के विरोधी धर्मों को मिटाने के लिए नहीं हैं। ये उस विरोध को मिटाती हैं, जो तर्कवाद से उद्भूत होता है।

समन्वय की दिशा

अपेक्षावाद समन्वय की ओर गति है। इसके आधार पर परस्पर विरोधी मालूम पड़ने वाले विचार सरलतापूर्वक सुलझाए जा सकते हैं। मध्ययुगीन दर्शन-प्रणेताओं की गति इस ओर कम रही। यह दुःख का विषय है। जैन दार्शनिक नयवाद के ऋणी होते हुए भी अपेक्षा का खुलकर उपयोग नहीं कर सके, यह अत्यन्त खेद की बात है। यदि ऐसा हुआ होता तो सत्य का मार्ग इतना कंटीला नहीं होता।

समन्वय की दिशा बताने वाले आचार्य नहीं हुए, ऐसा भी नहीं। अनेक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने दार्शनिक विवादों को मिटाने के लिए प्रचुर श्रम किया। इनमें हरिभद्र आदि अग्रस्थानीय हैं।

आचार्य हरिभद्र ने कर्तृत्ववाद का समन्वय करते हुए लिखा है—"आत्मा में परम ऐश्वर्य, अनन्त शक्ति होती है, इसलिए वह ईश्वर है और वह कर्ता है। इस प्रकार कर्तृत्ववाद अपने आप व्यवस्थित हो जाता है[७]।"

जैन ईश्वर को कर्त्ता नहीं मानता, नैयायिक आदि मानते हैं। अनाकार ईश्वर का प्रश्न है, वहाँ तक दोनों में कोई मतभेद नहीं। नैयायिक ईश्वर के साकार रूप में कर्तृत्व बतलाते हैं और जैन मनुष्य में ईश्वर बनने की क्षमता बतलाते हैं। नैयायिकों के मतानुसार ईश्वर का साकार अवतार कर्त्ता और जैन-दृष्टि में ऐश्वर्य-शक्ति सम्पन्न मनुष्य कर्त्ता, इस बिन्दु पर सत्य अभिन्न हो जाता है, केवल विचार-पद्धति का भेद रहता है।

परिणाम, फल या निष्कर्ष हमारे सामने होते हैं, उनमें विशेष विचार-भेद नहीं होता। अधिकांश मतभेद निमित्त, हेतु या परिणाम सिद्धि की प्रक्रिया में होते हैं। उदाहरण के लिए एक तथ्य ले लीजिए—ईश्वर कर्तृत्ववादी संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय मानते हैं। जैन, बौद्ध आदि ऐसा नहीं मानते। दोनों विचारधाराओं के अनुसार जगत् अनादि-अनन्त है। जैन-दृष्टि के अनुसार असत् से सत् और बौद्ध-दृष्टि के अनुसार सत्-प्रवाह के बिना सत् उत्पन्न नहीं होता। यह स्थिति है। इसमें सब एक हैं। जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश बराबर चल रहे हैं, इन्हें कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अब भेद रहा सिर्फ इनकी निमित्त प्रक्रिया में। सृष्टिवादियों के सृष्टि,

पालन और संहार के निमित्त हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। जैन पदार्थ मात्र में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मानते हैं। पदार्थ-मात्र की स्थिति स्वनिमित्त से ही होती है। उत्पाद और व्यय स्वनिमित्त से होते ही हैं और परनिमित्त से भी होते हैं। बौद्ध उत्पाद और नाश मानते हैं। स्थिति सीधे शब्दों में नहीं मानते किन्तु सन्तति प्रवाह के रूप में स्थिति भी उन्हें स्वीकार करनी पड़ती है।

जगत् का सूक्ष्म या स्थूल रूप में उत्पाद, नाश और ध्रौव्य चल रहा है, इसमें कोई मतभेद नहीं। जैन-दृष्टि के अनुसार सत् पदार्थ त्रिरूप हैं [८] और वैदिक दृष्टि के अनुसार ईश्वर त्रिरूप है [९]। मतभेद सिर्फ इसकी प्रक्रिया में है। निमित्त के विचार-भेद से इस प्रक्रिया को नैयायिक 'सृष्टिवाद,' जैन 'परिणामि-नित्यवाद' और बौद्ध 'प्रतीत्य-समुत्पाद वाद' कहते हैं। यह कारण-भेद प्रतीक परक है, सत्यपरक नहीं। प्रतीक के नाम और कल्पनाएँ भिन्न हैं किन्तु तथ्य की स्वीकारोक्ति भिन्न नहीं है। इस प्रकार अनेक दार्शनिक तथ्य हैं, जिन पर विचार किया जाए तो उनके केन्द्र-विन्दु पृथक्-पृथक् नहीं जान पड़ते।

भौगोलिक क्षेत्र में चलिए, प्राच्य भारतीय ज्योतिष के अनुसार पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर माना जाता है। सूर्य-सिद्धान्त के अनुसार सूर्य स्थिर है और पृथ्वी चर। कोपरनिकस पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर मानता था।

वर्तमान विज्ञान के अनुसार सूर्य को स्थिर और पृथ्वी को चर माना जाता है। आइन्स्टीन के अपेक्षावाद के अनुसार पृथ्वी चर है, सूर्य स्थिर या सूर्य चर है और पृथ्वी स्थिर, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। व्यवहार में जो सूर्य को स्थिर और पृथ्वी को चर माना जाता है, वह उनकी दृष्टि में गणित की सुविधा है, इसलिए वे कहते हैं—यह हमारा निश्चयवाद नहीं किन्तु सुविधावाद है। ग्रहण आदि निष्कर्ष दोनों गणित-पद्धतियों से समान निकलते हैं, इसलिए वस्तु स्थिति का निश्चय इन्द्रियज्ञान से सम्भव नहीं बनता। किन्तु भावी प्रत्यक्ष परिणाम को व्यक्त करने की पद्धति की अपेक्षा से किसी को भी असत्य नहीं माना जा सकता।

धर्म समन्वय

धर्म-दर्शन के क्षेत्र में समन्वय की ओर संकेत करते हुए एक आचार्य ने लिखा है—"समाज व्यवहार या दैनिक व्यवहार की अपेक्षा वैदिक धर्म, अहिंसा या मोक्षार्थ आचरण की अपेक्षा जैन धर्म, श्रुति-माधुर्य या करुणा की अपेक्षा बौद्ध धर्म और उपासना-पद्धति या योग की अपेक्षा शैव धर्म श्रेष्ठ है [१०]।" यह सही बात है। कोई भी तत्त्व सब अर्थों में परिपूर्ण नहीं होता। पदार्थ की पूर्णता अपनी मर्यादा में ही होती है और उस मर्यादा की अपेक्षा से ही वस्तु को पूर्ण माना जाता है। निरपेक्ष पूर्णता हमारी कल्पना की वस्तु है, वस्तुस्थिति नहीं। आत्मा चरम विकास पा लेने के बाद भी अपने रूप में पूर्ण होती है। किन्तु अचेतन पदार्थ की अपेक्षा उसकी पूर्णता नहीं होती। अचेतन रूप में वह पूर्ण तब बने, जबकि वह सर्व भाव में अचेतन बन जाए—ऐसा होता नहीं, इसलिए अचेतन की सत्ता की अधिकारी कैसे बने। अचेतन अपनी परिधि में पूर्ण है। अपनी परिधि में अन्तिम विकास हो जाए, उसी का नाम पूर्णता है। जैन धर्म जो मोक्ष-पुरुषार्थ है, मोक्ष की दिशा बताए, इसी में उसकी पूर्णता है और इसी अपेक्षा से वह उपादेय है। संसार चलाने की अपेक्षा से जैन धर्म की स्थिति ग्राह्य नहीं बनती। तात्पर्य यह है कि संसार में जितना मोक्ष है, उसकी जैन धर्म को अपेक्षा है किन्तु जो कोरा संसार है, उसकी अपेक्षा से जैन धर्म का अस्तित्व नहीं बनता। समाज की अपेक्षा सिर्फ मोक्ष ही नहीं, इसलिए उसे अनेक धर्मों की परिकल्पना आवश्यक हुई।

धर्म और समाज की मर्यादा और समन्वय

आत्मा अकेली है। अकेली आती है और अकेली जाती है। अपने किये का अकेली ही फल भोगती है। यह मोक्ष धर्म की अपेक्षा है। समाज की अपेक्षा इससे भिन्न है। उसका आधार है सहयोग। उसकी अपेक्षा है, सब कुछ सहयोग से बने। सामान्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि एक व्यक्ति दोनों विचार लिए चल नहीं सकता किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जो व्यक्ति मोक्ष-धर्म की अपेक्षा आत्मा का अकेलापन और समाज की अपेक्षा उसका सामुदायिक रूप समझकर चले तो कोई विरोध नहीं आता। इसी अपेक्षा-दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने बताया—

"संसार और मोक्ष का मार्ग पृथक्-पृथक् है।" मोक्ष-दर्शन की अपेक्षा व्यक्ति का अकेलापन सत्य है और समाज-दर्शन की अपेक्षा उसका सामुदायिक रूप। सामुदायिकता और आत्म-साधना एक व्यक्ति में होती है किन्तु उनके उपादान और निमित्त एक नहीं होते। वे भिन्नहेतुक होती हैं, इसलिए उनकी अपेक्षाएं भी भिन्न होती हैं। अपेक्षाएं भिन्न होती हैं, इसलिए उनमें अविरोध होता है। आत्मा के अकेलेपन का दृष्टिकोण समाज विरोधी है और आत्मा के सामूहिक कर्म या फल भोग का दृष्टिकोण धर्म-विरोधी। किन्तु वास्तव में दोनों में कोई विरोधी नहीं। अपनी स्वरूप-मर्यादा में कोई विरोध होता नहीं। दूसरे के संयोग से जो विरोध की प्रतीति बनती है, वह अपेक्षा भेद से मिट जाती है। किसी भी वस्तु में विरोध तब लगने लगता है, जब हम अपेक्षा को भुलाकर दो वस्तुओं को एक ही दृष्टि से समझने की चेष्टा करते हैं।

समय की अनुभूति का तारतम्य और सामञ्जस्य

प्रिय वस्तु के सम्पर्क में वर्ष दिन जैसा और अप्रिय वस्तु के साहचर्य में दिन वर्ष जैसा लगता है, यह अनुभूति-सापेक्ष है। सुख-दुःख का समान समय काल-स्वरूप की अपेक्षा समान बीतता है किन्तु अनुभूति की अपेक्षा उसमें तारतम्य होता है। अनुभूति के तारतम्य का हेतु है—सुख और दुःख का संयोग। इस अपेक्षा से समान काल का तारतम्य सत्य है। कालगति की अपेक्षा तुल्यकाल तुल्यअवधि में ही पूरा होता है—यह सत्य है।

उपनिषद् में ब्रह्म को अणु से अणु और महत् से महत् कहा गया है। वह सत् भी है और असत् भी। उससे न कोई पर है और न कोई अपर, न कोई छोटा है और न कोई बड़ा [११]।

अपेक्षा के बिना महाकवि कालिदास की निम्न प्रकारोक्ति सत्य नहीं बनती—"प्रिया के पास रहते हुए दिन अणु से अणु लगता है और उसके वियोग में बड़े से भी बड़ा [१२]।"

प्रसिद्ध गणितज्ञ आइन्स्टीन की पत्नी ने उनसे पूछा—अपेक्षावाद क्या है? आइन्स्टीन ने उत्तर में कहा—"सुन्दर लड़की के साथ बातचीत करने वाले व्यक्ति को एक घण्टा एक मिनट के बराबर लगता है और वही गर्म स्टोव के

के पास बैठता है तब उसे एक मिनट भी एक घण्टा जितना लम्बा लगता है—यह है अपेक्षावाद [13]।"

विवेक और समन्वय-दृष्टि

अमुक कर्तव्य है या अकर्तव्य? अच्छा है या बुरा? उपयोगी है या अनुपयोगी? ये प्रश्न हैं। इनका विवेक अपेक्षा-दृष्टि के बिना हो नहीं सकता। अमुक देश, काल और वस्तु की अपेक्षा जो कर्तव्य होता है; वही भिन्न देश, काल और वस्तु की अपेक्षा अकर्तव्य बन जाता है। निरपेक्ष दृष्टि से कोई पदार्थ अच्छा-बुरा, उपयोगी-अनुपयोगी नहीं बनता। किसी एक अपेक्षा से ही हम किसी पदार्थ को उपयोगी या अनुपयोगी कह सकते हैं। यदि हमारी दृष्टि में कोई विशेष अपेक्षा न हो तो हम किसी वस्तु के लिए कुछ विशेष बात नहीं कह सकते।

धनसंग्रह की अपेक्षा से वस्तुओं को दुर्लभ करना अच्छा है किन्तु नैतिकता की दृष्टि से अच्छा नहीं है। सन्निपात में दूध मिश्री पीना बुरा है किन्तु स्वस्थ दशा में वह बुरा नहीं होता। शीतकाल में गर्म कोट उपयोगी होता है, वह गर्मी में नहीं होता। गर्मी में ठंडाई उपयोगी होती है, वह सर्दी में नहीं होती। शान्तिकाल में एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के प्रति जो कर्तव्य होता है, वह युद्धकाल में नहीं होता। समाज की अपेक्षा से विवाह कर्तव्य है किन्तु आत्म-साधना की अपेक्षा वह कर्तव्य नहीं होता। कोई कार्य, एक देश, एक काल, एक स्थिति में एक अपेक्षा से कर्तव्य और अकर्तव्य नहीं बनता वैसे ही एक कार्य सब दृष्टियों से कर्तव्य या अकर्तव्य बने, ऐसा भी नहीं होता। कार्य का कर्तव्य और अकर्तव्य भाव भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से परखा जाए, तभी उसमें सामञ्जस्य आसकता है।

एक गृहस्थ के लिए कठिनाई के समय भिक्षा जीवन-निर्वाह की दृष्टि से उपयोगी हो सकती है किन्तु वैसा करना अच्छा नहीं। योग-विद्या का अभ्यास मानसिक स्थिरता की दृष्टि से अच्छा है किन्तु जीविका कमाने के लिए उपयोगी नहीं है।

भक्ष्य और अभक्ष्य, खाद्य और अखाद्य, ग्राह्य और अग्राह्य का विवेक भी सापेक्ष होता है। आयुर्वेदशास्त्र में ऋतु-आदेश के अनुसार पथ्य और अपथ्य

का विशद विवेचन और अनुपान के द्वारा प्रकृति-परिवर्तन का जो महान् सिद्धान्त मिलता है, वह भी काल और वस्तुयोग की अपेक्षा का आभारी है।

राजनीतिकवाद और अपेक्षादृष्टि

राजनीति के क्षेत्र में अनेक वाद चलते हैं। एकतन्त्र पद्धति दृढ़ शासन की अपेक्षा निर्दोष है, वह शासक की स्वेच्छाचारिता की अपेक्षा निर्दोष नहीं मानी जा सकती।

जनतन्त्र में स्वेच्छाचारिता का प्रतिकार है, परन्तु वहाँ दृढ़ शासन का अभाव होता है, इस अपेक्षा से वह त्रुटिपूर्ण माना जाता है।

साम्यवाद जीवन यापन की पद्धति को सुगम बनाता है, यह उसका उज्ज्वल पक्ष है तो दूसरी ओर व्यक्ति यन्त्र बनकर चलता है, वाणी और विचार स्वातन्त्र्य की अपेक्षा से वह रुचिगम्य नहीं बनता।

राष्ट्र-हित की अपेक्षा से जहाँ राष्ट्रीयता अच्छी मानी जाती है किन्तु दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा या न्यूनता उत्पन्न करने की अपेक्षा से वह अच्छी नहीं होती। यही बात जाति, समाज और व्यक्तित्व के लिए है।

पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, सदाचार-असदाचार, अहिंसा-हिंसा, न्याय-अन्याय यह सब सापेक्ष होते हैं। एक की अपेक्षा जो पुण्य या धर्म होता है, वही दूसरे की अपेक्षा पाप या अधर्म बन जाता है। पूँजीवादी-अर्थ व्यवस्था की अपेक्षा भिखारी को दान देना पुण्य या धर्म माना जाता है किन्तु साम्यवादी-अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से भिखारी को देना पुण्य या धर्म नहीं माना जाता। लोक-व्यवस्था की दृष्टि से विवाह सदाचार माना जाता है किन्तु आत्म-साधना की अपेक्षा वह सदाचार नहीं है। उसकी दृष्टि में सदाचार है—पूर्ण ब्रह्मचर्य। दूसरे शब्दों में यूं कह सकते हैं, समाज व्यवस्था की दृष्टि से सहवास के उपयोगी सभी व्यावहारिक नियम पुण्य, धर्म या सदाचार माने जाते हैं किन्तु मोक्ष-साधना की दृष्टि से ऐसा नहीं है। उसकी अपेक्षा में धर्म, सदाचार या पुण्य कार्य वहीं है, जो अहिंसात्मक है।

समाज की दृष्टि से व्यापार, खेती, शिल्पकारी आदि अल्प हिंसा या अनिवार्य हिंसा को अहिंसा माना जाता है किन्तु आत्म-धर्म की दृष्टि से यह अहिंसा नहीं है [१४]। दण्ड-विधान की अपेक्षा से अपराधी को अपराध के अनु-

रूप दण्ड देना न्याय माना जाता है किन्तु अध्यात्म की अपेक्षा से वह न्याय नहीं है। वह दूसरे व्यक्ति को दण्ड देने के अधिकार को स्वीकार नहीं करता। पापी ही अपने अन्तःकरण से पाप का प्रायश्चित्त कर सकता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दोनों आत्माश्रित धर्म हैं। परापेक्ष प्रवृत्ति और निवृत्ति वैभाविक होती हैं और सापेक्ष प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वाभाविक। आत्मा की करण—वीर्य या शरीर—योग सहकृत जितनी प्रवृत्ति होती है, वह वैभाविक होती है। एक क्रियाकाल में दूसरी क्रिया की निवृत्ति होती है, यह स्वाभाविक निवृत्ति नहीं है। स्वाभाविक निवृत्ति है आत्मा की विभाव से मुक्ति-संयम। सहज प्रवृत्ति है आत्मा की पुद्गल-निरपेक्ष क्रिया (चित् और आनन्द का सहज उपयोग)।

शुद्ध आत्मा में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सहज होती हैं। पदार्थ के जो सहज धर्म हैं उनमें अच्छाई-बुराई, हेय-उपादेय का प्रश्न ही नहीं बनता। यह प्रश्न परपदार्थ से प्रभावित धर्मों के लिए होता है। बद्ध आत्मा की प्रवृत्ति परपदार्थ से प्रभावित भी होती है, तब प्रश्न होता है "प्रवृत्ति कैसी है"—अच्छी है या बुरी ? हेय है या उपादेय ? निवृत्ति कैसी है—अप्रवृत्तिरूप या विरतिरूप ? अपेक्षादृष्टि के बिना इनका समाधान नहीं मिलता।

सहज प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति न हेय है और न उपादेय। वह आत्मा का स्वरूप है। स्वरूप न छूटता है और न बाहर से आता है। इसलिए वह हेय और उपादेय कैसे बने ? वैभाविक प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है संयम-प्रेरित और असंयम-प्रेरित। संयम-प्रेरित प्रवृत्ति आत्मा को संयम की ओर अग्रसर करती है, इसलिए वह साधन की अपेक्षा उपादेय बनती है, वह भी सर्वांश में मोक्ष दृष्टि की अपेक्षा। लोक-दृष्टि सर्वांश में उसे समर्थन न भी दे।

असंयम प्रेरित प्रवृत्ति आत्मा को बन्धन की ओर ले जाती है, इसलिए मोक्ष की अपेक्षा वह उपादेय नहीं है। लोक-दृष्टि को इसकी उपादेयता स्वीकार्य है। संयम-प्रेरित प्रवृत्ति शुद्धि का पक्ष है, इसलिए उसे लोक-दृष्टि का बहुलांश में समर्थन मिलता है किन्तु असंयम-प्रेरित प्रवृत्ति मोक्ष-सिद्धि का पक्ष नहीं है, इसलिए उसे मोक्ष-दृष्टि का एकांश में भी समर्थन नहीं मिलता।

संयम-प्रेरित प्रवृत्ति वैभाविक इसलिए है कि वह शरीर, वाणी और मन, जो आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं, के सहारे होती है। साधक-दशा समाप्त होते ही यह स्थिति समाप्त हो जाती है, या यूं कहिए शरीर, वाणी और मन के सहारे होने वाली संयम प्रेरित प्रवृत्ति मिटते ही साध्य मिल जाता है। यह अपूर्ण से पूर्ण की ओर गति है। पूर्णता के क्षेत्र में इनका कार्य समाप्त हो जाता है। असंयम का अर्थ है—राग, द्वेष और मोह की परिणति। जहाँ राग, द्वेष और मोह की परिणति नहीं, वहाँ संयम होता है। निवृत्ति का अर्थ सिर्फ 'निषेध' या 'नहीं करना' ही नहीं है। 'नहीं करना'—यह प्रवृत्ति की निवृत्ति है किन्तु प्रवृत्ति करने की जो आन्तरिक वृत्ति (अविरति) है, उसकी निवृत्ति नहीं है। क्रिया के दो पक्ष होते हैं—अविरति और प्रवृत्ति [१५]। अविरति उसका अन्तरंग पक्ष है, जिसे शास्त्रीय परिभाषा में अत्याग या असंयम कहा जाता है। प्रवृत्ति उसका बाहरी या स्थूल रूप है। यह योगात्मक क्रिया यानि शरीर, भाषा और मन के द्वारा होने वाली प्रवृत्ति है। जो प्रवृत्ति अविरति-प्रेरित होती है (जहाँ अविरति और प्रवृत्ति दोनों संयुक्त होती हैं) वहाँ निवृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता और जहाँ अविरति होती है, प्रवृत्ति नहीं होती वहाँ प्रवृत्ति की अपेक्षा (मानसिक, वाचिक, कायिक कर्म की अपेक्षा) निवृत्ति होती है। और जहाँ अविरति नहीं होती केवल प्रवृत्ति होती है, वहाँ अविरति की अपेक्षा निवृत्ति और मन, भाषा और शरीर की अपेक्षा प्रवृत्ति होती है। अपूर्ण दशा में पूर्ण निवृत्ति होती नहीं। अविरति-निवृत्तिपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है, वहाँ निवृत्ति संयम है। अविरति के भाव में स्थूल प्रवृत्ति की निवृत्ति होती है, वहाँ प्रवृत्ति नहीं होती, उससे असंयम को पोषण नहीं मिलता किन्तु मूलतः असंयम का अभाव नहीं, इसलिए वह (निवृत्ति) संयम नहीं बनती।

श्रद्धा और तर्क

अति श्रद्धावाद और अति तर्कवाद—ये दोनों मिथ्या हैं। प्रत्येक तत्त्व की यथार्थता अपने-अपने क्षेत्र में होती है। इनकी भी अपनी-अपनी मर्यादाएं हैं।

भाव दो प्रकार के हैं :—

(१) हेतु गम्य।

(२) अहेतु गम्य[१६]।

हेतुगम्य तर्क का विषय है और अहेतुगम्य श्रद्धा का। तर्क का क्षेत्र सीमित है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष जो है, वही चरम या पूर्ण सत्य है, यह बात सत्यान्वेषक नहीं मानता। एक व्यक्ति को अपने जीवन में जो स्वयं ज्ञात होता है, वह उतना ही नहीं जानता, उससे अतिरिक्त भी जानता है। अतीन्द्रिय अर्थ तर्क का विषय नहीं बनता। यदि तर्क के द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थ जाने जा सकते तो आज तक उनका निश्चय हो गया होता[१७]। तर्क के लिए जो अगम्य था, वह आज विज्ञान के प्रयोगों द्वारा गम्य बन गया। फिर भी सब कुछ गम्य हो गया, यह नहीं कहा जा सकता। एक समस्या का समाधान होता है तो उसके साथ-साथ अनेक नई समस्याएं जन्म ले लेती हैं। आज से सौ वर्ष पूर्व वैज्ञानिकों के सामने शक्ति के स्रोतों को पाने की समस्या थी। उसका समाधान हो गया। नई समस्या यह है कि उनका मितव्यय कैसे किया जाए? यही बात अगम्य की है। अगम्य जितने अंशों में गम्य बनता है, उससे कहीं अधिक अगम्य आगे आ खड़ा होता है।

इन्द्रिय और मन से परे भी ज्ञान है, यह शुद्ध तर्क के आधार पर नहीं समझा जा सकता किन्तु जब आँखें मूँदकर या आँखों पर सने आटे की मोटी पट्टी या लोह की घनी चद्दर लगा पुस्तकें पढ़ी जाती हैं, तब तर्कवाद ठिठुर जाता है। इसीलिए अध्यात्मयोगी आचार्य हरिभद्र कहते हैं—"शुष्क तर्क का आग्रह मिथ्या अभिमान लाता है, इसलिए मुमुक्षु वैसा आग्रह न रखे[१८]।"

शुष्क तर्क वह है जो अपनी सीमा से बाहर चले, अतीन्द्रिय ज्ञान का सहारा लिए बिना अतीन्द्रिय पदार्थ का निराकरण करे।

तर्क के बिना कोरी श्रद्धा अन्ध विश्वास उत्पन्न करती है। श्रद्धा की भी सीमा है। वीतराग की वाणी ही श्रद्धा का क्षेत्र है। वीतरागता स्वयं एक समस्या है। राग-द्वेष-हीन मनोवृत्ति में आग्रह-हीनता होगी। आग्रह-हीन व्यक्ति मिथ्याभिमान या मिथ्या प्रकाशन नहीं करता, इसलिए श्रद्धा का केन्द्र बिन्दु वीतरागता ही है। आग्रह-हीनता होने पर भी अज्ञान हो सकता है। अज्ञान से सत्य का प्रकाश नहीं मिल सकता। सत्य का प्रकाश तब मिले, जब आग्रह न हो और ज्ञान हो। श्रद्धा का तर्क पर और तर्क का श्रद्धा पर नियमन रहता है, तब दोनों मिथ्यावाद से बच जाते हैं।

श्रद्धा और तर्क परस्पर सापेक्ष हैं, यही नय रहस्य है। इस प्रकार पदार्थ का प्रत्येक पहलू अपेक्षापूर्वक समझा जाए तो दुराग्रह की गति सहज शिथिल हो जाती है।

समन्वय के दो स्तम्भ

समन्वय केवल वास्तविक दृष्टि से ही नहीं किया जाता। निश्चय और व्यवहार दोनों उसके स्तम्भ बनते हैं। व्यवहार वस्तु शरीरगत सत्य होता है और निश्चय वस्तु आत्मगत सत्य। ये दोनों मिलकर सत्य को पूर्ण बनाते हैं। निश्चय नय वस्तु-स्थिति जानने के लिए है। व्यवहार नय वस्तु के स्थूल रूप में होने वाली आग्रह-बुद्धि को मिटाता है। वस्तु के स्थूलरूप, जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष होता है, को ही अन्तिम सत्य मानकर न चलें, यही समन्वय की दृष्टि है। पदार्थ एक रूप में पूर्ण नहीं होता। वह स्वरूप से सत्तात्मक पररूप से असत्तात्मक होकर पूर्ण होता है। केवल सत्तात्मक या केवल असत्तात्मक रूप में कोई पदार्थ पूर्ण नहीं होता। सर्वसत्तात्मक या सर्व-अ-सत्तात्मक जैसा कोई पदार्थ है ही नहीं। पदार्थ की यह स्थिति है, तब नय निरपेक्ष बनकर उसका प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? इसका अर्थ यह नहीं होता कि नय हमें पूर्ण सत्य तक ले नहीं जाते। वे ले जाते अवश्य हैं किन्तु सब मिलकर एक नय पूर्ण सत्य का एक अंश होता है। वह अन्य नय सापेक्ष रहकर सत्यांश का प्रतिपादक बनता है।

नय या सद्वाद

१—एक धर्म का सापेक्ष प्रतिपादन करने वाला नय वाक्य—सद्वाद।

२—एक धर्म का निरपेक्ष प्रतिपादन करने वाला वाक्य—दुर्नय।

अनुयोग द्वार में चार प्रमाण बतलाए हैं —

(१) द्रव्य-प्रमाण।

(२) क्षेत्र-प्रमाण।

(३) काल-प्रमाण।

(४) भाव-प्रमाण।

भाव-प्रमाण के तीन भेद होते हैं :—

(१) गुण-प्रमाण।

(२) नय-प्रमाण ।

(३) संख्या-प्रमाण ।

एक धर्म का ज्ञान और एक धर्म का वाचक शब्द,—ये दोनों नय कहलाते हैं [१९]। ज्ञानात्मक नय को 'नय' और वचनात्मक नय को 'नय-वाक्य' या 'सद्वाद' कहा जाता है ।

नय-ज्ञान विश्लेषणात्मक होता है, इसलिए यह मानसिक ही होता है, ऐन्द्रियिक नहीं होता । नय से अनन्त धर्मक वस्तु के एक धर्म का बोध होता है। इससे जो बोध होता है, वह यथार्थ होता है, इसलिए यह प्रमाण है किन्तु इससे अखण्ड वस्तु नहीं जानी जाती । इसलिए यह पूर्ण प्रमाण नहीं बनता । यह एक समस्या बन जाती है । दार्शनिक आचार्यों ने इसे यूं सुलझाया कि अखण्ड वस्तु के निश्चय की अपेक्षा नय प्रमाण नहीं है । वह वस्तु-खण्ड को यथार्थ रूप से ग्रहण करता है, इसलिए अप्रमाण भी नहीं है अप्रमाण तो है ही नहीं पूर्णता की अपेक्षा प्रमाण भी नहीं है, इसलिए इसे प्रमाणांश कहना चाहिए ।

अखण्डवस्तुग्राही यथार्थ ज्ञान प्रमाण होता है, इस स्थिति में वस्तु को खण्डशः जानने वाला विचार 'नय' । प्रमाण का चिन्ह है—'स्यात्' नय का चिह्न है—'सत्' । प्रमाणवाक्य को स्याद्वाद कहा जाता है और नय वाक्य को सद्वाद । वास्तविक दृष्टि से प्रमाण स्वार्थ होता है और नय स्वार्थ और परार्थ दोनों । एक साथ अनेक धर्म कहे नहीं जा सकते, इसलिए प्रमाण का वाक्य नहीं बनता । वाक्य बने बिना परार्थ कैसे बने ? प्रमाणवाक्य जो परार्थ बनता है, उसके दो कारण हैं :—

(१) अभेदवृत्ति-प्राधान्य ।

(२) अभेदोपचार ।

द्रव्यार्थिक नय के अनुसार धर्मों में अभेद होता है और पर्यायार्थिक की दृष्टि से उनमें भेद होने पर भी अभेदोपचार किया जाता है [२०]। इन दो निमित्तों से वस्तु के अनन्त धर्मों को अभिन्न मानकर एक गुण की मुख्यता से अखण्ड वस्तु का प्रतिपादन विवक्षित हो, तब प्रमाणवाक्य बनता है । यह

सकलादेश है, इसलिए इसमें वस्तु को विभक्त करने वाले अन्य गुणों की विवक्षा नहीं होती।

वस्तु प्रतिपादन के दो प्रकार हैं—क्रम और यौगपद्य। इनके सिवाय तीसरा मार्ग नहीं। इनका आधार है—भेद और अभेद की विवक्षा। यौगपद्य-पद्धति प्रमाणवाक्य है। भेद की विवक्षा में एक शब्द एक काल में एक धर्म का ही प्रतिपादन कर सकता है। यह अनुपचरित पद्धति है। यह क्रम की मर्यादा में परिवर्तन नहीं ला सकती, इसलिए इसे विकलादेश कहा जाता है।

विकलादेश का अर्थ है—निरंश वस्तु में गुण-भेद से अंश की कल्पना करना। अखण्ड वस्तु में काल आदि की दृष्टि से विभिन्न अंशों की कल्पना करना अस्वाभाविक नहीं है।

वस्तु विश्लेषण की प्रक्रिया का आधार यही बनता है। विश्लेषण की अनेक दृष्टियां हैं—

(१) व्यवहार-दृष्टि।
(२) निश्चय-दृष्टि।
(३) रासायनिक-दृष्टि।
(४) भौतिक विज्ञान-दृष्टि।
(५) शब्द-दृष्टि।
(६) अर्थ-दृष्टि।...आदि-आदि।

व्यवहार दृष्टि में चींटी का शरीर त्वक्, रस, रक्त जैसे पदार्थों से बना होता है, रासायनिक विश्लेषण इन पदार्थों के भीतर सत्त्वमूल (Protoplasm) कई प्रकार के अम्ल और क्षार, जल, नमक आदि बताता है। शुद्ध रासायनिक दृष्टि के अनुसार चींटी का शरीर आइजन (Ozone) नाइट्रोजन (Nitrogen), आक्सीजन (Oxygen), गन्धक (Sulpher) फासफोरस (Phosphorus) और कार्बन (Carbon) के परमाणुओं का समूह है। भौतिक विज्ञानी उसे पहले तो धन और ऋण विद्युत्कणों का पुञ्ज और फिर शुद्ध वायु तत्त्व का भेद बताता है।

निश्चय-दृष्टि में वह पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श युक्त औदारिक वर्गणा के पुद्गलों का समुदाय है।

एक ही वस्तु के ये जितने विश्लेषण हैं, उतने ही उनके हेतु हैं—अपेक्षाएं हैं। इन्हें अपनी-अपनी अपेक्षा से देखें तो सब सत्य हैं और यदि निरपेक्ष विश्लेषण को सत्य मानें तो वह फिर दुर्नय बन जाता है। सापेक्ष नय में विरोध नहीं आता और ज्यों ही ये निरपेक्ष बन जाते हैं, त्यों ही ये असत्-एकान्त के पोषक बन मिथ्या बन जाते हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, वातावरण आदि के सहारे वस्तुस्थिति को सही पकड़ा जा सकता है, उसका मौलिक दृष्टि-बिन्दु या हार्द समझा जा सकता है। द्रव्य आदि से निरपेक्ष वस्तु को समझने का प्रयत्न हो तो कोरा कलेवर हाथ आ जाता है किन्तु उसकी सजीवता नहीं आती। मार्क्स ने इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर समाज के आर्थिक ढांचे की जो छानबीन की और निष्कर्ष निकाले, उन्हें आर्थिक पहलू की अपेक्षा मिथ्या कैसे माना जाय? किन्तु आर्थिक व्यवस्था ही समाज के लिए सब कुछ है, यह आत्मशान्ति-निरपेक्षदृष्टि है, इसलिए सत्य नहीं है।

शरीर के बाहरी आकार-प्रकार में क्रमिक परिवर्तन होता है, इस दृष्टि से डारविन के क्रम-विकासवाद को मिथ्या नहीं माना जा सकता किन्तु उनने आन्तरिक योग्यता की अपेक्षा रखे बिना केवल बाहरी स्थितियों को ही परिवर्तन का मुख्य हेतु माना, यह सच नहीं है।

इसी प्रकार यदृच्छावादी यदृच्छा को, आकस्मिकवादी आकस्मिकता को, कालवादी काल को, स्वभाववादी स्वभाव को, नियतिवादी नियति को, दैववादी दैव को और पुरुषार्थवादी पुरुषार्थ को ही कार्य-सिद्धि का कारण बतलाते हैं, यह मिथ्यावाद है। सापेक्षदृष्टि से सब कार्य सिद्धि के प्रयोजक हैं और सब सच हैं। काल वस्तु के परिवर्तन का हेतु है, स्वभाव वस्तु का स्वरूप या वस्तुत्व है, नियति वस्तु का ध्रुव सत्य नियम है, दैव वस्तु के पुरुषार्थ का परिणाम है, पुरुषार्थ वस्तु की क्रियाशीलता है।

पुरुषार्थ तब हो सकता है, जब कि वस्तु में परिवर्तन का स्वभाव हो। स्वभाव होने पर भी तब तक परिवर्तन नहीं होता, जब तक उसका कोई कारण

न मिले। परिवर्तन का कारण भी विश्व के शाश्वतिक नियम की उपेक्षा नहीं कर सकता और परिवर्तन क्रिया की प्रतिक्रिया के रूप में ही होगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकार ये सब एक दूसरे से सापेक्ष बन कार्य-सिद्धि के निमित्त बनते हैं।

नय-दृष्टि के अनुसार न दैव को सीमातिरेक महत्त्व दिया जा सकता है और न पुरुषार्थ को। दोनों तुल्य हैं। आत्मा के व्यापार से कर्म-संचय होता है, वही दैव या भाग्य कहलाता है। पुरुषार्थ के द्वारा ही कर्म का संचय होता है और उसका भोग (विपाक) भी पुरुषार्थ के बिना नहीं होता। अतीत का दैव वर्तमान पुरुषार्थ पर प्रभाव डालता है और वर्तमान पुरुषार्थ से भविष्य के कर्म संचित होते हैं।

बलवान् पुरुषार्थ संचित कर्म को परिवर्तित कर सकता है और बलवान् कर्म पुरुषार्थ को भी निष्फल बना सकते हैं। संसारोन्मुख दशा में ऐसा चलता ही रहता है।

आत्म-विवेक जगने पर पुरुषार्थ में सत् की मात्रा बढ़ती है, तब वह कर्म को पछाड़ देता है और पूर्ण निर्जरा द्वारा आत्मा को उससे मुक्ति भी दिला देता है। इसलिए कर्म या भाग्य को ही सब कुछ मान जो पुरुषार्थ की अवहेलना करते हैं, वह दुर्नय है और जो व्यक्ति अतीत-पुरुषार्थ के परिणाम रूप भाग्य को स्वीकार नहीं करते, वह भी दुर्नय है।

स्वार्थ और परार्थ

पांच ज्ञानों में चार ज्ञान मूक हैं और श्रुत ज्ञान अमूक। जितना वाणी व्यवहार है, वह सब श्रुत ज्ञान का है [२१]। इसके तीन भेद हैं :—

(१) स्याद्वाद-श्रुत।

(२) नय-श्रुत [२२]।

(३) मिथ्या-श्रुत या दुर्नय श्रुत।

शेष चार ज्ञान स्वार्थ ही होते हैं। श्रुत स्वार्थ और परार्थ दोनों होता है; ज्ञानात्मकश्रुत स्वार्थ और वचनात्मकश्रुत परार्थ। नय वचनात्मक श्रुत के भेद हैं, इसीलिए कहा गया है—"जितने वचनपथ हैं, उतने ही नय हैं [२३]।"

पर प्रतीति के लिए अनुमान या प्रत्यक्ष किसी के द्वारा ज्ञात अर्थ कहा जाए, वह परार्थ श्रुत ही होगा।

जैनेतर दर्शन केवल अनुमान वचन को ही परार्थ मानते हैं। आचार्य सिद्धसेन ने प्रत्यक्ष वचन को भी परार्थ माना है। "धूम है, इसलिए अग्नि है"—यह बताना जैसे परार्थ है, वैसे ही "देख, यह राजा जा रहा है"—यह भी परार्थ है [२४]। पहला अनुमान वचन है, दूसरा प्रत्यक्ष वचन। जहाँ वचन बनता है, वहाँ परार्थता अपने आप बन जाती है।

वचन-व्यवहार का वर्गीकरण

वचन-व्यवहार के अनन्त मार्ग हैं किन्तु उनके वर्ग अनन्त नहीं हैं। उनके मौलिक वर्ग दो हैं :—

(१) भेद-परक।

(२) अभेद-परक।

भेद और अभेद—ये दोनों पदार्थ के भिन्नाभिन्न धर्म हैं। न अभेद से भेद सर्वथा पृथक् होता है और न भेद से अभेद। नाना रूपों में वस्तु—सत्ता एक है और एक वस्तु-सत्ता के नाना रूप हैं। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु है, वह सत् है और जो सत् नहीं, वह अवस्तु है—कुछ भी नहीं है। सत् है—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की मर्यादा। इसका अतिक्रमण करे, ऐसी कोई वस्तु नहीं है। इसलिए सत् की दृष्टि से सब एक हैं—उत्पाद, व्यय-ध्रौव्यात्मक हैं। विशेष धर्मों की अपेक्षा से एक नहीं हैं। चेतन और अचेतन में अनैक्य है—भेद है। चेतन की देश-काल-कृत अवस्थाओं में भेद है फिर भी चेतनता की दृष्टि से सब चेतन एक हैं। यूं ही अचेतन के लिए समझिए।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक सत्ता प्रत्येक वस्तु का स्वरूप है किन्तु वह वस्तुओं की उत्पादक या नियामक सत्ता नहीं है। वस्तु मात्र में उसकी उपलब्धि है, इसीलिए वह एक है। वस्तु-स्वरूप से अतिरिक्त दशा में व्याप्त होकर वह एक नहीं है। अनेकता भी एक सत्ता के विशेष स्वरूप से उद्‌भूत विविध रूप वाली नहीं है। वह सत्तात्मक विशेष स्वरूपवाली वस्तुओं की विविध अवस्थाओं से उत्पन्न होती है, इसीलिए वस्तु का स्वरूप सर्वथा एक या अनेक नहीं बनता। नय-वाक्य वस्तु प्रतिपादन की पद्धति है। सत्तात्मक

अखण्ड वस्तु 'जगत्' और विशेष-स्वरूपात्मक अखण्ड वस्तु 'द्रव्य' वस्तुवृत्त्या अवक्तव्य है। इसलिए नय के द्वारा क्रमिक प्रतिपादन होता है। कभी वह सत्तात्मक या द्रव्यात्मक सामान्यधर्म का प्रतिपादन करता है और कभी विशेष स्वरूपात्मक पर्याय धर्म का। सामान्य-विशेष दोनों पृथक् होते नहीं, इसलिए सामान्य की विवक्षा मुख्य होने पर विशेष और विशेष की विवक्षा मुख्य होने पर सामान्य गौण बन जाते हैं। देखिए—जागतिक व्यवस्था की कितनी सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति है। इसमें सबको अवसर मिलता है। दोनों प्रधान रहें, यह विरोध की स्थिति है। दोनों अप्रधान बन जाएं, तब काम नहीं बनता। अविरोध की स्थिति यह है कि एक दूसरे को अवसर दे, दूसरे की मुख्यता में सहिष्णु बने। नयवाद इसी प्रक्रिया में सफल हुआ है।

नयवाद की पृष्ठभूमि

विभिन्न विचारों के संघर्षण से स्फुलिङ्ग बनते हैं, ज्योतिपुञ्ज से विलग हो नभ को छूते हैं, क्षण में लीन हो जाते हैं—यह एकांगी दृष्टि-बिन्दु का चित्र है। नय एकांगी दृष्टि है। किन्तु ज्योतिपुञ्ज से पृथक् जा पड़ने वाला स्फुलिङ्ग नहीं। वह समग्र में व्याप्त रहकर एक का ग्रहण या निरूपण करता है।

बौद्ध कहते हैं—रूप आदि अवस्था ही वस्तु—द्रव्य है। रूप आदि से भिन्न सजातीय क्षण परम्परा से अतिरिक्त द्रव्य—वस्तु नहीं है[२५]। वेदान्त का अभिमत है—द्रव्य ही वस्तु है, रूप आदि गुण तात्त्विक नहीं हैं[२६]। बौद्ध की दृष्टि में गुणों का आधार-द्रव्य तात्त्विक नहीं, इसलिए भेद सत्य है। वेदान्त की दृष्टि में द्रव्य के आधेय गुण तात्त्विक नहीं, इसलिए अभेद सत्य है। प्रमाण-सिद्ध अभेद का लोप नहीं किया जा सकता, इसलिए बौद्धों को सत्य के दो रूप मानने पड़े—(१) संवृत्ति (२) परमार्थ। भेद की दिशा में वेदान्त की भी यही स्थिति है। उसके अनुसार जगत् या प्रपंच प्रातीतिक सत्य है और ब्रह्म वास्तविक सत्य। भेद और अभेद के द्वन्द्व का यह एक निदर्शन है। यही नयवाद की पृष्ठभूमि है।

नयवाद अभेद और भेद—इन दो वस्तु-धर्मों पर टिका हुआ है। इसके अनुसार वस्तु अभेद और भेद की समष्टि है। इसलिए अभेद भी सत्य है

और भेद भी। अभेद से भेद और भेद से अभेद सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए यूं कहना होगा कि स्वतन्त्र अभेद भी सत्य नहीं है, स्वतन्त्र भेद भी सत्य नहीं है किन्तु सापेक्ष अभेद और भेद का संवलित रूप सत्य है। आधार भी सत्य है, आधेय भी सत्य है, द्रव्य भी सत्य है, पर्याय भी सत्य है, जगत् भी सत्य है, ब्रह्म भी सत्य है, विभाव भी सत्य है, स्वभाव भी सत्य है। जो त्रिकाल-अबाधित है, वह सब सत्य है।

सत्य के दो रूप हैं, इसलिए परखने की दो दृष्टियां हैं—(१) द्रव्य-दृष्टि (२) पर्याय-दृष्टि। सत्य के दोनों रूप सापेक्ष हैं, इसलिए ये भी सापेक्ष हैं। द्रव्य-दृष्टि का अर्थ होगा द्रव्य प्रधान दृष्टि और पर्याय दृष्टि का अर्थ पर्याय प्रधान दृष्टि। द्रव्य-दृष्टि में पर्याय दृष्टि का गौण रूप और पर्याय-दृष्टि में द्रव्य-दृष्टि का गौण रूप अन्तर्हित होगा। द्रव्य-दृष्टि अभेद का स्वीकार है और पर्याय-दृष्टि भेद का। दोनों की सापेक्षता भेदाभेदात्मक सत्य का स्वीकार है।

अभेद और भेद का विचार आध्यात्मिक और वस्तुविज्ञान—इन दो दृष्टियों से किया जाता है। जैसे :—

सांख्य—प्रकृति पुरुष का विवेक—भेद ज्ञान करना सम्यग् दर्शन, इनका एकत्व मानना मिथ्या दर्शन।

वेदान्त—प्रपंच और ब्रह्म को एक मानना सम्यग् दर्शन, एक तत्त्व को नाना समझना मिथ्या दर्शन।

जैन—चेतन और अचेतन को भिन्न मानना सम्यग् दर्शन, इनको अभिन्न मानना मिथ्या दर्शन।

भेद अभेद का यह विचार आध्यात्मिक दृष्टिपरक है। वस्तु विज्ञान की दृष्टि से वस्तु उभयात्मक (द्रव्य-पर्यायात्मक) है। इसके आधार पर दो दृष्टियां बनती हैं :—

(१) निश्चय।

(२) व्यवहार।

निश्चय दृष्टि द्रव्याश्रयी या अभेदाश्रयी है। व्यवहार दृष्टि पर्यायाश्रयी या भेदाश्रयी है।

वेदान्त और बौद्ध सम्मत व्यवहार-दृष्टि से जैन सम्मत व्यवहार-दृष्टि का नाम साम्य है किन्तु स्वरूप साम्य नहीं। वेदान्त व्यवहार, माया या अविद्या को और बौद्ध संवृत्ति को अवास्तविक मानता है किन्तु जैन दृष्टि के अनुसार वह अवास्तविक नहीं है। नैगम, संग्रह और व्यवहार—ये तीन निश्चय दृष्टियाँ हैं; ऋजु सूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये चार व्यवहार दृष्टियाँ [२७]। व्यवहार और निश्चय—ये दो दृष्टियां प्रकारान्तर से भी मिलती हैं [२८]।

व्यवहार—स्थूल पर्याय का स्वीकार, लोक सम्मत तथ्य का स्वीकार।

निश्चय—वस्तुस्थिति का स्वीकार।

पहली में इन्द्रियगम्य तथ्य का स्वीकार है, दूसरी में प्रज्ञागम्य सत्य का। व्यवहार तर्कवाद है और निश्चय अन्तरात्मा से उद्‌भूत होने वाला अनुभव।

चार्वाक की दृष्टि में सत्य इन्द्रियगम्य है और वेदान्त की दृष्टि में सत्य अतीन्द्रिय है [२९]। जैन-दृष्टि के अनुसार दोनों सत्य हैं। निश्चय वस्तु के सूक्ष्म और पूर्ण स्वरूप का अंगीकार है और व्यवहार उसके स्थूल और अपूर्ण स्वरूप का अंगीकार। मात्रा-भेद होने पर भी दोनों में सत्य का ही अंगीकार है, इसलिए एक को अवास्तविक और दूसरे को वास्तविक नहीं माना जा सकता।

मुण्डकोपनिषद् (१।४।५) में विद्या के दो भेद हैं—अपरा और परा। पहली का विषय वेद-ज्ञान और दूसरी का शाश्वत ब्रह्म ज्ञान है। इन्हें तार्किक और आनुभविक ज्ञान के दो रूप में व्यवहार और निश्चय नय कहा जा सकता है। व्यवहार-दृष्टि से जीव सवर्ण है और निश्चय दृष्टि से वह अवर्ण [३०]। जीव अमूर्त्त है, इसलिए वह वस्तुतः वर्णयुक्त नहीं होता—यह वास्तविक सत्य है। शरीरधारी जीव कथंचित् मूर्त्त होता है—शरीर मूर्त्त होता है। जीव उससे कथंचित् अभिन्न है, इसलिए वह भी सवर्ण है, यह औपचारिक सत्य है।

एक भौंरा, जो काला दीख रहा है, वह सफेद भी है, हरा भी है और-और रंग भी उसमें हैं—यह पूर्ण तथ्योक्ति है।

"भौंरा काला है"—यह सत्य का एक देशीय स्वीकार है।

इन प्रकारान्तर से निरूपित व्यवहार और निश्चय दृष्टियों का आधार नयवाद की आधार-भित्ति से भिन्न है। उसका आधार अभेद-भेदात्मक वस्तु ही है। इसके अनुसार नय एक ही है—"द्रव्य पर्यायार्थिक"। वस्तु-स्वरूप भेदाभेदात्मक है, तब नय द्रव्य-पर्यायात्मक ही होगा।

नय सापेक्ष होता है, इसलिए इसके दो रूप बन जाते हैं।

(१) जहाँ पयार्य गौण और द्रव्य मुख्य होता है, वह द्रव्यार्थिक।

(२) जहाँ द्रव्य गौण तथा पयार्य मुख्य होता है, वह पर्यायार्थिक।

वस्तु के सामान्य और विशेष रूप की अपेक्षा से नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये दो भेद किए, वैसे ही इसके दो भेद और बनते हैं :—

(१) शब्दनय।

(२) अर्थनय।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—शब्दाश्रयी और अर्थाश्रयी। उपयोगात्मक या विचारात्मक नय अर्थाश्रित और प्रतिपादनात्मक नय आगम या शाब्द ज्ञान का कारण होता है, इसलिए श्रोता की अपेक्षा वह शब्दाश्रित होना चाहिए किन्तु यहाँ यह अपेक्षा नहीं है। यहाँ वाच्य मे वाचक की प्रवृत्ति को गौण-मुख्य मानकर विचार किया गया है। अर्थनय में अर्थ की मुख्यता है और उसके वाचक की गौणता। शब्दनय में शब्द-प्रयोग के अनुसार अर्थ का बोध होता है, इसलिए यहाँ शब्द मुख्य ज्ञापक बनता है, अर्थ गौण रह जाता है।

(१) वास्तविक दृष्टि को मुख्य मानने वाला अभिप्राय निश्चय नय कहलाता है।

(२) लौकिक दृष्टि को मुख्य मानने वाला अभिप्राय व्यवहार नय कहलाता है।

सात नय निश्चय नय के भेद हैं। व्यवहार नय को उपनय भी कहा जाता है। व्यवहार उपचरित है। अच्छा मेह बरसता है, तब कहा जाता है "अनाज बरस रहा है।" यहाँ कारण में कार्य का उपचार है। मेह तो अनाज का कारण है, उसे अपेक्षावश धान्योत्पादक वृष्टि की अनुकूलता बताने के लिए अनाज समझा या कहा जाए, वह उचित है किन्तु उसे अनाज

ही समझ लिया जाए, वह सही दृष्टि नहीं। व्यवहार की बात को निश्चय की दृष्टि से देखा जाए, वहाँ वह मिथ्या बन जाती है। अपनी मर्यादा में यह सत्य है। सात नय में जो व्यवहार है, उसका अर्थ उपचार या स्थूलदृष्टि नहीं है। उसका अर्थ है—विभाग या भेद। इसलिए इन दोनों में शब्द-साम्य होने पर भी अर्थ-साम्य नहीं है।

(३) ज्ञान को मुख्य मानने वाला अभिप्राय ज्ञान नय कहलाता है।

(४) क्रिया को मुख्य मानने वाला अभिप्राय क्रियानय कहलता है आदि-आदि।

इस प्रकार अनेक, असंख्य या अनन्त अपेक्षाएँ बनती हैं। वस्तु के जितने सहभावी और क्रमभावी, सापेक्ष और परापेक्ष धर्म हैं, उतनी ही अपेक्षाएं हैं। अपेक्षाएं स्पष्ट बोध के लिए होती हैं। जो स्पष्ट बोध होगा, वह सापेक्ष ही होगा।

सत्य का व्याख्याद्वार

सत्य का साक्षात् होने के पूर्व सत्य की व्याख्या होनी चाहिए। एक सत्य के अनेक रूप होते हैं। अनेक रूपों की एकता और एक की अनेक रूपता ही सत्य है। उसकी व्याख्या का जो साधन है, वही नय है। सत्य एक और अनेक भाव का अविभक्त रूप है, इसलिए उसकी व्याख्या करने वाले नय भी परस्पर-सापेक्ष हैं।

सत्य अपने आपमें पूर्ण होता है। न तो अनेकता-निरपेक्ष एकता सत्य है और न एकता-निरपेक्ष अनेकता। एकता और अनेकता का समन्वित रूप ही पूर्ण सत्य है। सत्य की व्याख्या वस्तु, क्षेत्र, काल और अवस्था की अपेक्षा से होती है। एक के लिए जो गुरु है, वही दूसरे के लिए लघु, एक के लिए जो दूर है, वही दूसरे के लिए निकट, एक के लिए जो ऊर्ध्व है, वही दूसरे के लिए निम्न, एक के लिए जो सरल है, वही दूसरे के लिए वक्र। अपेक्षा के बिना इनकी व्याख्या नहीं हो सकती। गुरु और लघु क्या है? दूर और निकट क्या है? ऊर्ध्व और निम्न क्या है? सरल और वक्र क्या है?—वस्तु, क्षेत्र आदि की निरपेक्ष स्थिति में इनका उत्तर नहीं दिया जा सकता। यह स्थिति पदार्थ का अपने से बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध होने पर बनती है किन्तु उसकी

बाह्य-जगत्-निरपेक्ष अपनी स्थिति भी अपेक्षा से मुक्त नहीं है। कारण कि पदार्थ अनन्त गुणों का सहज सामञ्जस्य है। उसके सभी गुण, धर्म या शक्तियां अपेक्षा की शृङ्खला में गूंथे हुए हैं। एक गुण की अपेक्षा पदार्थ का जो स्वरूप है, वह उसकी अपेक्षा से है, दूसरे की अपेक्षा से नहीं। चेतन पदार्थ चैतन्य गुण की अपेक्षा से चेतन है किन्तु उसके सहभावी अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुणों की अपेक्षा से चेतन पदार्थ की चेतनशीलता नहीं है। अनन्त शक्तियों और उनके अनन्त कार्य या परिणामों की जो एक संकलना, समन्वय या शृंखला है वही पदार्थ है। इसलिए विविध शक्तियों और तज्जनित विविध परिणामों का अविरोधभाव सापेक्ष स्थिति में ही हो सकता है।

नय का उद्देश्य

"सव्वेसिं पि णयाणं, बहुविह वत्तव्वयं णिसामित्ता।
तं सव्वणयविसुद्धं, जं चरणगुणट्ठिओ साहू॥"

—भद्रबाहु—आवश्यक निर्युक्ति १०।५५

चरण गुण-स्थिति परम माध्यस्थ्यरूप है। वह राग-द्वेष का विलय होने से मिलती है। नय का उद्देश्य है—माध्यस्थ्य बढ़े, मनुष्य विचार सहिष्णु बने, नानाप्रकार के विरोधी लगने वाले विचारों में समन्वय करने की योग्यता विकसित हो।

कोई भी व्यक्ति सदा पदार्थ को एक ही दृष्टि से नहीं देखता। देश, काल और स्थितियों का परिवर्तन होने पर दर्शक की दृष्टि में भी परिवर्तन होता है। यही स्थिति निरूपण की है। वक्ता का झुकाव पदार्थ की ओर होगा तो उसकी वाणी का आकर्षण भी उसी की ओर होगा। यही बात पदार्थ की अवस्था के विषय में है। सुनने वाले को वक्ता की विवक्षा समझनी होगी। उसे समझने के लिए उसके पारिपार्श्विक वातावरण, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को समझना होगा। विवक्षा के पांच रूप बनते हैं—

(१) द्रव्य की विवक्षा···दूध में ही मिठास और रूप आदि होते हैं।
(२) पर्याय की विवक्षा···मिठास और रूप आदि ही दूध है।
(३) द्रव्य के अस्तित्व मात्र की विवक्षा···दूध है।
(४) पर्याय के अस्तित्व मात्र की विवक्षा···मिठास है रूप आदि है।

(५) धर्म-धर्मि-सम्बन्ध की विवक्षा···दूध का मिठास, रूप आदि।

इनके वर्गीकरण से दो दृष्टियां बनती हैं :—

(१) द्रव्य प्रधान या अभेद-प्रधान।

(२) पर्याय प्रधान या भेद-प्रधान।

नय का रहस्य यह है कि हम दूसरे व्यक्ति के विचारों को उसी के अभिप्रायानुकूल समझने का यत्न करें।

नय का स्वरूप

कथनीय वस्तु दो हैं :—

(१) पदार्थ-द्रव्य।

(२) पदार्थ की अवस्थाएं—पर्याय।

अभिप्राय व्यक्त करने के साधन दो हैं :—

(१) अर्थ।

(२) शब्द।

अर्थ के प्रकार दो हैं :—

(१) सामान्य।

(२) विशेष।

शब्द की प्रवृत्ति के हेतु दो हैं :—

(१) रूढ़ि।

(२) व्युत्पत्ति।

व्युत्पत्ति प्रयोग के कारण दो हैं :—

(१) सामान्य निमित्त।

(२) तत्कालभावी निमित्त।

(१) नैगम—सामान्य-विशेष के संयुक्त रूप का निरूपण नैगम नय है।

(२) संग्रह—केवल सामान्य का निरूपण संग्रह नय है।

(३) व्यवहार—केवल विशेष का निरूपण व्यवहार नय है।

(४) ऋजुसूत्र—क्षणवर्ती विशेष का निरूपण ऋजुसूत्र नय है।

(५) शब्द—रूढ़ि से होने वाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय शब्द नय है।

(६) समभिरूढ़—व्युत्पत्ति से होने वाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय समभिरूढ़ नय है।

(७) एवम्भूत—वार्तमानिक या तत्कालभावी व्युत्पत्ति से होने वाली शब्द की प्रवृत्ति का अभिप्राय एवम्भूत नय है।

इस प्रकार सात नयों में शाब्दिक और आर्थिक, वास्तविक और व्यावहारिक द्राव्यिक और पार्यायिक, सभी प्रकार के अभिप्राय संगृहीत हो जाते हैं, इसलिए प्रत्येक नय का विशद रूप समझना आवश्यक है।

नैगम

तादात्म्य की अपेक्षा से ही सामान्य-विशेष की भिन्नता का समर्थन किया जाता है। यह दृष्टि नैगमनय है। यह उभयग्राही दृष्टि है। सामान्य और विशेष, दोनों इसके विषय हैं। इससे सामान्य-विशेषात्मक वस्तु के एक देश का बोध होता है। सामान्य और विशेष स्वतन्त्र पदार्थ हैं—इस कणाददृष्टि को जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। कारण, सामान्य रहित विशेष और विशेष-रहित सामान्य की कहीं भी प्रतीति नहीं होती। ये दोनों पदार्थ के धर्म हैं। एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ, देश और काल में जो अनुवृत्ति होती है, वह सामान्य-अंश है और जो व्यावृत्ति होती है, वह विशेष-अंश। केवल अनुवृत्ति रूप या केवल व्यावृत्ति-रूप कोई पदार्थ नहीं होता। जिस पदार्थ की जिस समय दूसरों से अनुवृत्ति मिलती है, उसकी उसी समय दूसरों से व्यावृत्ति भी मिलती है।

सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ का ज्ञान प्रमाण से हो सकता है। अखण्ड वस्तु प्रमाण का विषय है। नय का विषय उसका एकांश है। नैगम नय बोध कराने के अनेक मार्गों का स्पर्श करने वाला है, फिर भी प्रमाण नहीं है। प्रमाण में सब धर्मों को मुख्य स्थान मिलता है। यहाँ सामान्य के मुख्य होने पर विशेष गौण रहेगा और विशेष के मुख्य बनने पर सामान्य गौण। दोनों को यथा स्थान मुख्यता और गौणता मिलती है। संग्रहनय केवल सामान्य अंश का ग्रहण करता है और व्यवहारनय केवल विशेष अंश का। नैगम नय दोनों (सामान्य-विशेष) की एकाश्रयता का साधक है।

प्रमाण की दृष्टि से द्रव्य और पर्याय में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है। उससे भेदाभेद का युगपत् ग्रहण होता है।

नैगमनय के अनुसार द्रव्य और पर्याय का सम स्थिति में युगपत् ग्रहण नहीं होता। अभेद का ग्रहण भेद को गौण बना डालता है और भेद का ग्रहण अभेद को। मुख्य प्ररूपणा एक की होगी, प्रमाता जिसे चाहेगा उसकी होगी। आनन्द चेतन का धर्म है। चेतन में आनन्द है—इस विवक्षा में आनन्द मुख्य बनता है, जो कि भेद है—चेतन की ही एक विशेष अवस्था है। "आनन्दी जीव की बात छोड़िए"—इस विवक्षा में जीव मुख्य है, जो कि अभेद है—आनन्द जैसी अनन्त सूक्ष्म-स्थूल विशेष अवस्थाओं का अधिकरण है।

नैगमनय भावों की अभिव्यञ्जना का व्यापक स्रोत है। "आनन्द छा रहा है"—यह ऋजुसूत्र नय का अभिप्राय है। इसमें केवल धर्म या भेद की अभिव्यक्ति होती है। "आनन्द कहाँ ?"—यह उससे व्यक्त नहीं होता। "द्रव्य एक है"—यह संग्रह नय का अभिप्राय है किन्तु द्रव्य में क्या है ?—यह नहीं जाना जाता। "आनन्द चेतन में होता है" और उसका अधिकरण चेतन ही है, यह दोनों के सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है। यह नैगमनय का अभिप्राय है। इस प्रकार गुण-गुणी, अवयव-अवयवी, क्रिया-कारक, जाति-जातिमान् आदि में जो भेदाभेद-सम्बन्ध होता है, उसकी व्यञ्जना इसी दृष्टि से होती है। पराक्रम और पराक्रमी को सर्वथा एक माना जाए तो वे वस्तु नहीं हो सकते। यदि उन्हें सर्वथा दो माना जाए तो उनमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वे दो हैं—यह भी प्रतीति-सिद्ध है, उनमें सम्बन्ध है—यह भी प्रतीति-सिद्ध है किन्तु हम दोनों को शब्दाश्रयी ज्ञान द्वारा एक साथ जान सकें या कह सकें—यह प्रतीति-सिद्ध नहीं: इसलिए नैगमदृष्टि है, जो अमुक धर्म के साथ अमुक धर्म का सम्बन्ध बताकर यथा समय एक दूसरे की मुख्य स्थिति को ग्रहण कर सकती है। "पराक्रमी हनुमान्" इस वर्णन शैली में हनुमान् की मुख्यता होगी। हनुमान् के पराक्रम का वर्णन करते समय उसकी (पराक्रम की) मुख्यता अपने आप हो जाएगी। वर्णन की यह सहज शैली ही इस दृष्टि का आधार है।

इसका दूसरा आधार लोक-व्यवहार भी है। लोक-व्यवहार में शब्दों के जितने और जैसे अर्थ माने जाते हैं, उन सबको यह दृष्टि मान्य करती है।

तीसरा आधार संकल्प है। संकल्प की सत्यता नैगम दृष्टि पर निर्भर है। भूत को वर्तमान मानना—जो कार्य हो चुका, उसे हो रहा है—ऐसे मानना सत्य नहीं है। किन्तु संकल्प या आरोप की दृष्टि से सत्य हो सकता है।

इसके तीन रूप बनते हैं :—

१—भूत पर्याय का वर्तमान पर्याय के रूप में स्वीकार (अतीत में वर्तमान का संकल्प)······भूतनैगम।

२—अपूर्ण वर्तमान का पूर्ण वर्तमान के रूप में स्वीकार (अनिष्पन्नक्रिय वर्तमान में निष्पन्नक्रिय वर्तमान का संकल्प)······वर्तमान नैगम।

३—भविष्य पर्याय का भूतपर्याय के रूप में स्वीकार (भविष्य में भूत का संकल्प)······भावीनैगम।

जयन्ती दिन मनाने की सत्यता भूत नैगम की दृष्टि से है। रोटी पकानी शुरु की है। किसी ने पूछा आज क्या पकाया है? उत्तर मिलता है···"रोटी पकायी है।" रोटी पकी नहीं, पक रही है फिर भी वर्तमान नैगम की अपेक्षा "पकाई है" ऐसा कहना सत्य है।

क्षमता और योग्यता की अपेक्षा अकवि को कवि, अविद्वान् को विद्वान् कहा जाता है। यह तभी सत्य होता है जब हम, भावी का भूत में उपचार है, इस अपेक्षा को न भूलें।

नैगम के तीन भेद होते हैं :—

(१) द्रव्य नैगम।

(२) पर्याय-नैगम।

(३) द्रव्य-पर्याय नैगम।

इनके कार्य का क्रम यह है :—

(१) दो वस्तुओं का ग्रहण।

(२) दो अवस्थाओं का ग्रहण।

(३) एक वस्तु और एक अवस्था का ग्रहण।

नैगम नय जैन दर्शन की अनेकान्त दृष्टि का प्रतीक है। जैन दर्शन के अनुसार

नानात्व और एकत्व दोनों सत्य हैं। एकत्व निरपेक्ष-नानात्व और नानात्व-निरपेक्ष एकत्व—ये दोनों मिथ्या हैं। एकत्व आपेक्षिक सत्य है। 'गोत्व' की अपेक्षा से सब गायों में एकत्व है। पशुत्व की अपेक्षा से गायों और अन्य पशुओं में एकत्व है। जीवत्व की अपेक्षा से पशु और अन्य जीवों में एकत्व है। द्रव्यत्व की अपेक्षा से जीव और अजीव में एकत्व है। अस्तित्व की अपेक्षा से समूचा विश्व एक है। आपेक्षिक-सत्य से हम वास्तविक सत्य की ओर जाते हैं, तब हमारा दृष्टिकोण भेद-वादी बन जाता है। नानात्व वास्तविक सत्य है। जहाँ अस्तित्व की अपेक्षा है, वहाँ विश्व एक है किन्तु चैतन्य और अचैतन्य, जो अत्यन्त विरोधी धर्म हैं, की अपेक्षा विश्व एक नहीं है। उसके दो रूप हैं—(१) चेतन जगत् (२) अचेतन जगत्। चैतन्य की अपेक्षा चेतन जगत् एक है किन्तु स्वस्थ चैतन्य की अपेक्षा चेतन एक नहीं है। वे अनन्त हैं। चेतन का वास्तविक रूप है—स्वात्म प्रतिष्ठान। प्रत्येक पदार्थ का शुद्ध रूप, यही स्वप्रतिष्ठान है। वास्तविक रूप भी निरपेक्ष सत्य नहीं है। स्व में या व्यक्ति में चैतन्य की पूर्णता है। वह एक व्यक्ति—चेतन अपने समान अन्य चेतन व्यक्तियों से सर्वथा भिन्न नहीं होता, इसलिए उनमें सजातीयता या सापेक्षता है। यही तथ्य आगे बढ़ता है।

चेतन और अचेतन में भी सर्वथा भेद ही नहीं, अभेद भी है। भेद है वह चैतन्य और अचैतन्य की अपेक्षा से है। द्रव्यत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, परस्परानुगमत्व आदि-आदि असंख्य अपेक्षाओं से उनमें अभेद है।

दूसरी दृष्टि से उनमें सर्वथा अभेद ही नहीं भेद भी है। अभेद अस्तित्व आदि की अपेक्षा से है, चैतन्य की अपेक्षा से भेद भी है। उनमें स्वरूप-भेद है, इसलिए दोनों की अर्थक्रिया भिन्न होती है। उनमें अभेद भी है, इसलिए दोनों में ज्ञेय ज्ञायक, ग्राह्य-ग्राहक आदि-आदि सम्बन्ध हैं।

संग्रह और व्यवहार

अभेद और भेद में तादात्म्य सम्बन्ध है—एकात्मकता है। सम्बन्ध दो से होता है। केवल भेद या केवल अभेद में कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अभेद का—

शुद्धरूप है—सत्तारूप सामान्य या निर्विकल्पक महासत्ता।

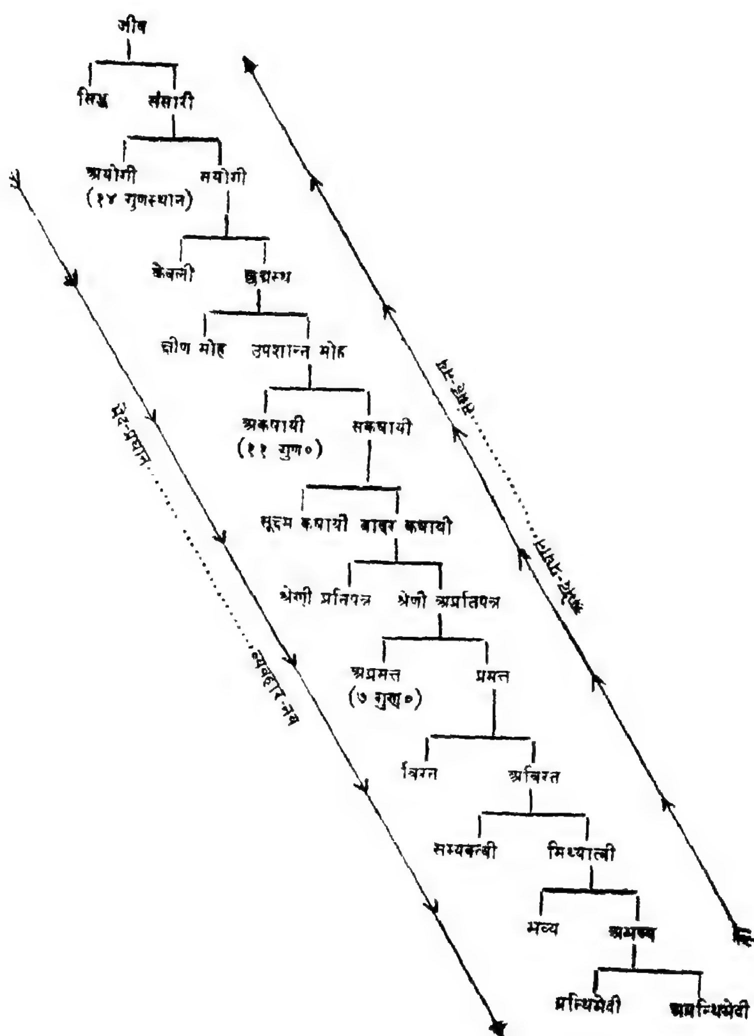
अशुद्धरूप है—अवान्तर सामान्य (सामान्यविशेषोभयात्मक सामान्य)

भेद का—

(१) शुद्धरूप है—अन्त्यस्वरूप—व्यावृत्ति।

(२) अशुद्धरूप है—अवान्तर-विशेष।

संग्रह समन्वय की दृष्टि है और व्यवहार विभाजन की। ये दोनों दृष्टियाँ समानान्तर रेखा पर चलने वाली हैं किन्तु इनका गति-क्रम विपरीत है। संग्रह-दृष्टि सिमटती चलती है, चलते-चलते एक हो जाती है। व्यवहार दृष्टि खुलती चलती है—चलते-चलते अनन्त हो जाती है।



यदि सब पदार्थों में सर्वथा अभेद ही होता—वास्तविक एकता ही होती तो व्यवहार नय की (भेद को वास्तविक मानने की) बात त्रुटिपूर्ण होती। इसी प्रकार सब पदार्थों में सर्वथा भेद ही होता, वास्तविक अनेकता ही होती तो संग्रह-दृष्टि की (अभेद को वास्तविक मानने की) बात सत्य नहीं होती।

चैतन्य गुण जैसे चेतन व्यक्तियों में सामञ्जस्य स्थापित करता है, वैसे ही यदि यही गुण अचेतन व्यक्तियो का चेतन व्यक्तियों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करता तो चैतन्य धर्म की अपेक्षा चेतन और अचेतन को अत्यन्त विरोधी मानने की स्थिति नहीं आती। चेतन और अचेतन में अन्य धर्मों द्वारा सामञ्जस्य होने पर भी चेतन धर्म द्वारा सामञ्जस्य नहीं होता। इसलिए भेद भी तात्त्विक है। सत्ता, द्रव्यत्व आदि धर्मों के द्वारा चेतन और अचेतन में यदि किसी प्रकार का सामञ्जस्य नहीं होता तो दोनों का अधिकरण एक जगत् नहीं होता। वे स्वरूप से एक नहीं हैं, अधिकरण से एक हैं, इसलिए अभेद भी तात्त्विक है।

अभेद और भेद की तात्त्विकता के कारण भिन्न-भिन्न हैं। सत्ता या अस्तित्व अभेद का कारण है, यह कभी भेद नहीं डालता। हमारी अभेदपरक-दृष्टि इसके सहारे बनती है।

विशेष धर्म या नास्तित्व (जैसे चेतन का चैतन्य) भेद का कारण है। इसके सहारे भेद-परक दृष्टि चलती है।

वस्तु का जो समान परिणाम है, वही सामान्य है। समान परिणाम असमान परिणाम के बिना हो नहीं सकता।

असमानता के बिना एकता होगी, समानता नहीं। वह असमान परिणाम ही विशेष है [३१]।

नैगम-दृष्टि अभेद और भेद शक्तियो की एकाश्रयता के द्वारा पदार्थ को अभेदक और भेदक धर्मों का समन्वय मानकर अभेद और भेद की तात्त्विकता का समर्थन करती है। संग्रह और व्यवहार—ये दोनों क्रमशः अभेद और भेद को मुख्य मानकर इनकी वास्तविकता का समर्थन करने वाली दृष्टियाँ हैं।

व्यवहार नय

यह (१) उपचार-बहुल और (२) लौकिक होता है।

(१) उपचार-बहुल—यहाँ गौण-वृत्ति से उपचार प्रधान होता है. जैसे—पर्वत जल रहा है—यहाँ प्रचुर-दाह प्रयोजन है। मार्ग चल रहा है—यहाँ नैरन्तर्य प्रतीति प्रयोजन है।

(२) लौकिक-भौंरा काला है।

ऋजुसूत्र

यह वर्तमानपरक दृष्टि है। यह अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता स्वीकार नहीं करती। अतीत की क्रिया नष्ट हो चुकती है। भविष्य की क्रिया प्रारम्भ नहीं होती। इसलिए भूतकालीन वस्तु और भविष्यकालीन वस्तु न तो अर्थक्रिया-समर्थ (अपना काम करने में समर्थ) होती है और न प्रमाण का विषय बनती है। वस्तु वही है जो अर्थक्रिया-समर्थ हो, प्रमाण का विषय बने। ये दोनों बातें वार्तमानिक वस्तु में ही मिलती हैं। इसलिए वही तात्त्विक सत्य है। अतीत और भविष्य में 'तुला' तुला नहीं है। 'तुला' उसी समय तुला है, जब उससे तोला जाता है।

इसके अनुसार क्रियाकाल और निष्ठाकाल का आधार एक द्रव्य नहीं हो सकता। साध्य-अवस्था और साधन अवस्था का काल भिन्न होगा, तब भिन्न काल का आधारभूत द्रव्य अपने आप भिन्न होगा। दो अवस्थाएं समन्वित नहीं होतीं। भिन्न अवस्थावाचक पदार्थों का समन्वय नहीं होता। इस प्रकार यह पौर्वापर्य, कार्य-कारण आदि अवस्थाओं की स्वतन्त्र सत्ता का समर्थन करने वाली दृष्टि है।

शब्दनय

शब्दनय भिन्न-भिन्न लिङ्ग, वचन आदि युक्त शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ स्वीकार करता है। यह शब्द, रूप और उसके अर्थ का नियामक है। व्याकरण की लिङ्ग, वचन आदि की अनियामकता को यह प्रमाण नहीं करता। इसका अभिप्राय यह है :—

(१) पुलिङ्ग का वाच्य अर्थ स्त्रीलिङ्ग का वाच्य अर्थ नहीं बन सकता। 'पहाड़' का जो अर्थ है वह 'पहाड़ी' शब्द व्यक्त नहीं कर सकता। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग का वाच्य अर्थ पुलिंग का वाच्य नहीं बनता। 'नदी' के लिए

'नद' शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। फलित यह है—जहाँ शब्द का लिङ्ग-भेद होता है, वहाँ अर्थ-भेद होता है।

(२) एक वचन का जो वाच्य अर्थ है, वह बहुवचन का वाच्यार्थ नहीं होता। बहुवचन का वाच्य-अर्थ एक वचन का वाच्यार्थ नहीं बनता। "मनुष्य है" और "मनुष्य हैं" ये दोनों एक ही अर्थ के वाचक नहीं बनते। एकत्व की अवस्था बहुत्व की अवस्था से भिन्न है। इस प्रकार काल, कारक रूप का भेद अर्थ-भेद का प्रयोजक बनता है।

यह दृष्टि शब्द-प्रयोग के पीछे छिपे हुए इतिहास को जानने में बड़ी सहायक है। संकेत-काल में शब्द, लिङ्ग आदि की रचना प्रयोजन के अनुरूप बनती है। वह रूढ़ जैसी बाद में होती है। सामान्यतः हम 'स्तुति' और 'स्तोत्र' का प्रयोग एकार्थक करते हैं किन्तु वस्तुतः ये एकार्थक नहीं हैं। एक श्लोकात्मक भक्ति काव्य 'स्तुति' और बहु श्लोकात्मक-भक्ति काव्य 'स्तोत्र' कहलाता है[३२]। 'पुत्र' और 'पुत्री' के पीछे जो लिङ्ग-भेद की, 'तुम' और 'आपके' पीछे जो वचन-भेद की भावना है, वह शब्द के लिङ्ग और वचन-भेद द्वारा व्यक्त होती है। शब्द-नय शब्द के लिङ्ग, वचन आदि के द्वारा व्यक्त होने वाली अवस्था को ही तात्त्विक मानता है। एक ही व्यक्ति को स्थायी मानकर कभी 'तुम' और कभी 'आप' शब्द से सम्बोधित किया जा सकता है किन्तु शब्दनय उन दोनों को एक ही व्यक्ति स्वीकार नहीं करता। 'तुम' का वाच्य व्यक्ति लघु या प्रेमी है, जब कि 'आप' का वाच्य गुरु या सम्मान्य है।

समभिरूढ़

एक वस्तु का दूसरी वस्तु में संक्रमण नहीं होता। प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप में निष्ठ होती है। स्थूल दृष्टि से हम अनेक वस्तुओं के मिश्रण या सहस्थिति को एक वस्तु मान लेते हैं किन्तु ऐसी स्थिति में भी प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूप में होती है।

जैन दर्शन की भाषा में अनेक वर्गणाएं और विज्ञान की भाषा में अनेक गैसें (Gases) आकाश-मंडल में व्याप्त हैं किन्तु एक साथ व्याप्त रहने पर भी वे अपने-अपने स्वरूप में हैं। समभिरूढ़ का अभिप्राय यह है कि जो

वस्तु जहाँ आरूढ़ है, उसका वहीं प्रयोग करना चाहिए। यह दृष्टि वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए बहुत उपयोगी है। स्थूल दृष्टि में घट, कुट, कुम्भ का अर्थ एक है। समभिरूढ़ इसे स्वीकार नहीं करता। इसके अनुसार 'घट' शब्द का ही अर्थ घट वस्तु है, कुट शब्द का अर्थ घट वस्तु नहीं; घट का कुट में संक्रमण अवस्तु है। 'घट' वह वस्तु है, जो माथे पर रखा जाए। कहीं बड़ा कहीं चौड़ा और कहीं संकड़ा—यूं जो कुटिल आकार वाला है, वह 'कुट' है [33]। माथे पर रखी जाने योग्य अवस्था और कुटिल आकृति की अवस्था एक नहीं है। इसलिए दोनों को एक शब्द का अर्थ मानना भूल है। अर्थ की अवस्था के अनुरूप शब्दप्रयोग और शब्दप्रयोग के अनुरूप अर्थ का बोध हो, तभी सही व्यवस्था हो सकती है। अर्थ की शब्द के प्रति और शब्द की अर्थ के प्रति नियामकता न होने पर वस्तु सांकर्य हो जाएगा। फिर कपड़े का अर्थ घड़ा और घड़े का अर्थ कपड़ा न समझने के लिए नियम क्या होगा। कपड़े का अर्थ जैसे तन्तु-समुदाय है, वैसे ही मृण्मय पात्र भी हो जाए और सब कुछ हो जाए तो शब्दानुसारी प्रवृत्ति-निवृत्ति का लोप हो जाता है, इसलिए शब्द को अपने वाच्य के प्रति सच्चा होना चाहिए। घट अपने अर्थ के प्रति सच्चा रह सकता है, पट या कुट के अर्थ के प्रति नहीं। यह नियामकता या सच्चाई ही इसकी मौलिकता है।

एवम्भूत

समभिरूढ़ में फिर भी स्थितिपालकता है। वह अतीत और भविष्य की क्रिया को भी शब्द-प्रयोग का निमित्त मानता है। यह नय अतीत और भविष्य की क्रिया से शब्द और अर्थ के प्रति नियम को स्वीकार नहीं करता। सिर पर रखा जाएगा, रखा गया इसलिए वह घट है, यह नियमक्रिया-शून्य है। घट वह है, जो माथे पर रखा हुआ है। इसके अनुसार शब्द अर्थ की वर्तमान-चेष्टा का प्रतिबिम्ब होना चाहिए। यह शब्द को अर्थ का और अर्थ को शब्द का नियामक मानता है। घट शब्द का वाच्य अर्थ वही है, जो पानी लाने के लिए मस्तक पर रक्खा हुआ है—वर्तमान प्रवृत्तियुक्त है। घट शब्द भी वही है, जो घट-क्रियायुक्त अर्थ का प्रतिपादन करे।

विचार की आधारभित्ति

विचार निराश्रय नहीं होता। उसके अवलम्बन तीन हैं—(१) ज्ञान (२) अर्थ (३) शब्द।

(१) जो विचार संकल्प-प्रधान होता है, उसे ज्ञानाश्रयी कहते हैं। नैगम नय ज्ञानाश्रयी विचार है।

(२) अर्थाश्रयी विचार वह होता है, जो अर्थ को प्रधान मानकर चले। संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—यह अर्थाश्रयी विचार है। यह अर्थ के अभेद और भेद की मीमांसा करता है।

(३) शब्दाश्रयी विचार वह है, जो शब्द की मीमांसा करे। शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये तीनों शब्दाश्रयी विचार हैं।

इनके आधार पर नयों की परिभाषा यूँ होती है :—

(१) नैगम—संकल्प या कल्पना की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(२) संग्रह—समूह की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(३) व्यवहार—व्यक्ति की " " " "

(४) ऋजुसूत्र—वर्तमान अवस्था की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(५) शब्द—यथाकाल, यथाकारक शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(६) समभिरूढ़—शब्द की उत्पत्ति के अनुरूप शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

(७) एवम्भूत—व्यक्ति के कार्यानुरूप शब्दप्रयोग की अपेक्षा से होने वाला विचार।

नयविभाग……सात दृष्टिबिन्दुअर्थाश्रित ज्ञान के चार रूप बनते हैं।

(१) सामान्य-विशेष उभयात्मक के अर्थ नैगमदृष्टि।

(२) सामान्य या अभिन्न अर्थ…संग्रह-दृष्टि

(३) विशेष या भिन्न अर्थ…व्यवहार-दृष्टि

(४) वर्तमानवर्ती विशेष अर्थ…ऋजुसूत्र दृष्टि

पहली दृष्टि के अनुसार अभेदशून्य भेद और भेदशून्य अभेद रूप अर्थ

नहीं होता। जहाँ अभेद रूप प्रधान बनता है, वहाँ भेदरूप गौण बन जाता है और जहाँ भेदरूप मुख्य बनता है, वहाँ अभेदरूप गौण। अभेद और भेद, जो पृथक् प्रतीत होते हैं, उसका कारण दृष्टि का गौण-मुख्य-भाव है, किन्तु उनके स्वरूप की पृथकता नहीं।

दूसरी दृष्टि में केवल अर्थ के अनन्त धर्मों के अभेद की विवक्षा मुख्य होती है। यह भेद से अभेद की ओर गति है। इसके अनुसार पदार्थ में सह-भावी और क्रमभावी अनन्त-धर्म होते हुए भी वह एक माना जाता है। सजातीय पदार्थ संख्या में अनेक, असंख्य या अनन्त होने पर भी एक माने जाते हैं। विजातीय पदार्थ पृथक् होते हुए भी पदार्थ की सत्ता में एक बन जाते हैं। यह मध्यम या अपर संग्रह बनता है। पर या उत्कृष्ट संग्रह में विश्व एक बन जाता है। अस्ति-सामान्य से परे कोई पदार्थ नहीं। अस्तित्व की सीमा में सब एक बन जाते हैं, फलतः विश्व एक सद्-अविशेष या सत्-सामान्य बन जाता है।

यह दृष्टि दो धर्मों की समानता से प्रारम्भ होती है और समूचे जगत् की समानता में इसकी परि समाप्ति होती है अभेद चरम कोटि तक नहीं पहुँचता, तब तक अपर-संग्रह चलता है।

तीसरी दृष्टि ठीक इससे विपरीत चलती है। वह अभेद से भेद की ओर जाती है। इन दोनों का क्षेत्र तुल्य है। केवल दृष्टि-भेद रहता है। दूसरी दृष्टि सब में अभेद ही अभेद देखती है और इसे सब में भेद ही भेद दीख पड़ता है। दूसरी अभेदांश-प्रधान या निश्चय-दृष्टि है, यह है भेदांश या उपयोगिता प्रधान दृष्टि। द्रव्यत्व से कुछ नहीं बनता, उपयोग द्रव्य का होता है। गोत्व दूध नहीं देता, दूध गाय देती है।

चौथी दृष्टि चरम भेद की दृष्टि है। जैसे पर-संग्रह में अभेद चरम कोटि तक पहुँच जाता है—विश्व एक बन जाता है, वैसे ही इसमें भेद चरम बन जाता है। अपर-संग्रह और व्यवहार के ये दोनों सिरे हैं। यहाँ से उनका उद्गम होता है।

यहाँ एक प्रश्न के लिए अवकाश है। अपर-संग्रह को अलग नय नहीं

माना, तब ऋजुसूत्र अलग क्यों ? संग्रह के अपर और पर—ये दो भेद हुए, वैसे ही व्यवहार के भी दो भेद हो जाते—अपर-व्यवहार और पर-व्यवहार।

इस प्रश्न का समाधान ढूंढने के लिए चलते हैं, तब हमें दूसरी दृष्टि का आलोक अपने आप मिल जाता है। अर्थ का अन्तिम भेद परमाणु या प्रदेश है। उस तक व्यवहारनय चलता है। चरम भेद का अर्थ होता है—वर्तमानकालीन अर्थ-पर्याय—क्षणमात्रस्थायी पर्याय। पर्याय पर्यायार्थिक नय का विषय बनता है। व्यवहार ठहरा द्रव्यार्थिक। द्रव्यार्थिक-दृष्टि के सामने पर्याय गौण होती है, इसलिए पर्याय उसका विषय नहीं बनती। यही कारण है कि व्यवहार से ऋजुसूत्र को स्वतन्त्र मानना पड़ा। नय के विषय-विभाग पर दृष्टि डालिए, यह अपने आप स्पष्ट हो जाएगा द्रव्यार्थिक नय तीन हैं[३४]—(१) नैगम (२) संग्रह (३) व्यवहार।

ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये चार पर्यायार्थिक नय हैं। ऋजुसूत्र द्रव्य-पर्यायार्थिक विभाग में जहाँ पयार्यार्थिक में जाता है, वहाँ अर्थ शब्द विभाग में अर्थ नय में रहता है। व्यवहार दोनों जगह एक कोटिक है।

दो पम्पराएं

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के विभाग में दो पम्पराएं बनती हैं, एक सैद्धान्तिकों की और दूसरी तार्किकों की। सैद्धान्तिक परम्परा के अग्रणी "जिनभद्रगणी" क्षमाश्रमण हैं। उनके अनुसार पहले चार नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष तीन पर्यायार्थिक। दूसरी परम्परा के प्रमुख हैं "सिद्धसेन"। उनके अनुसार पहले तीन नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष चार पर्यायार्थिक[३५]।

सैद्धान्तिक ऋजुसूत्र को द्रव्यार्थिक मानते हैं। उसका आधार अनुयोग द्वार का निम्न सूत्र है।

"उज्जुसुअस्स एगो अणुवउत्तो आगमतो एगं दव्वावस्सयं पुहुत्तं नेच्छइ[३६]—

इसका भाव यह है—ऋजुसूत्र की दृष्टि में उपयोग-शून्य व्यक्ति द्रव्यावश्यक है। सैद्धान्तिक परम्परा का मत यह है कि यदि ऋजुसूत्र को द्रव्यग्राही न माना जाए तो उक्त सूत्र में विरोध आयेगा।

तार्किक मत के अनुसार अनुयोग द्वार में वर्तमान आवश्यक पर्याय में द्रव्य पद का उपचार किया गया है [३७]। इसलिए वहाँ कोई विरोध नहीं आता। सैद्धान्तिक गौण द्रव्य को द्रव्य मानकर इसे द्रव्यार्थिक मानते हैं और तार्किक वर्तमान पर्याय का द्रव्य रूप में उपचार और वास्तविक दृष्टि में वर्तमान पर्याय मान उसे पर्यायार्थिक मानते हैं। मुख्य द्रव्य कोई नहीं मानता। एक दृष्टि का विषय है—गौण द्रव्य और एक का विषय है पर्याय। दोनों में अपेक्षाभेद है, तात्त्विक विरोध नहीं।

द्रव्यार्थिक नय द्रव्य को ही मानता है, पर्याय को नहीं मानता, तब ऐसा लगता है—यह दुर्नय होना चाहिए। नय में दूसरे का प्रतिक्षेप नहीं होना चाहिए। वह मध्यस्थ होता है। बात सही है, किन्तु ऐसा है नहीं। द्रव्यार्थिक नय पर्याय को अस्वीकार नहीं करता, पर्याय की प्रधानता को अस्वीकार करता है। द्रव्य के प्रधान्यकाल में पर्याय की प्राधानता होती नहीं, इसलिए यह उचित है [३८]। यही बात पर्यायार्थिक के लिए है। वह पर्याय-प्रधान है, इसलिए वह द्रव्य का प्राधान्य अस्वीकार करता है। यह अस्वीकार मुख्य दृष्टि का है, इसलिए यहाँ असत्-एकान्त नहीं होता।

पर्यायार्थिकनय

ऋजुसूत्र का विषय है—वर्तमान कालीन अर्थपर्याय। शब्दनय काल आदि के भेद से अर्थभेद मानता है। इस दृष्टि के अनुसार अतीत और वर्तमान की पर्याय एक नहीं होती।

समभिरूढ़ निरुक्ति भेद से अर्थ-भेद मानता है। इसकी दृष्टि में घट और कुम्भ दो हैं।

एवम्भूत वर्तमान क्रिया में परिणत अर्थ को ही तद्शब्द वाच्य मानता है। ऋजु सूत्र वर्तमान पर्याय को मानता है। तीनों शब्दनय शब्दप्रयोग के अनुसार अर्थभेद (भिन्न-अर्थ-पर्याय) स्वीकार करते हैं, इसलिए ये चारों पर्यायार्थिक नय हैं। इनमें द्रव्यांश गौण रहता है और पर्यायांश मुख्य।

अर्थनय और शब्दनय

नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—ये चार अर्थनय हैं। शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत—ये तीन शब्द नय हैं। यूं तो सातों नय ज्ञानात्मक

और शब्दात्मक दोनों हैं किन्तु यहाँ उनकी शब्दात्मकता से प्रयोजन नहीं। पहले चार नयों में शब्द का काल, लिङ्ग, निरुक्ति आदि बदलने पर अर्थ नहीं बदलता, इसलिए वे अर्थनय हैं। शब्दनयों में शब्द का कालादि बदलने पर अर्थ बदल जाता है, इसलिए ये शब्दनय कहलाते हैं।

नयविभाग का आधार

अर्थ या अभेद संग्रह दृष्टि का आधार है और भेद व्यवहार दृष्टि का। संग्रह भेद को नहीं मानता और व्यवहार अभेद को। नैगम का आधार है—अभेद और भेद एक पदार्थ में रहते हैं, ये सर्वथा दो नहीं हैं किन्तु गौण मुख्य भाव दो हैं। यह अभेद और भेद दोनों को स्वीकार करता है, एक साथ एक रूप में नहीं [३९]। यदि एक साथ धर्म-धर्मी दोनों को या अनेक धर्मों को मुख्य मानता तो यह प्रमाण बन जाता किन्तु ऐसा नहीं होता। इस दृष्टि में मुख्यता एक की ही रहती है, दूसरा सामने रहता है किन्तु प्रधान बनकर नहीं। कभी धर्मी मुख्य बन जाता है, कभी धर्म और दो धर्मों की भी यही गति है। इसके राज्य में किसी एक के ही मस्तक पर मुकुट नहीं रहता। वह अपेक्षा या प्रयोजन के अनुसार बदलता रहता है।

ऋजुसूत्र का आधार है—चरमभेद। यह पहले और पीछे को वास्तविक नहीं मानता। इसका सूत्रण बड़ा सरल है। यह सिर्फ वर्तमान पर्याय को ही वास्तविक मानता है।

शब्द के भेद-रूप के अनुसार अर्थ का भेद होता है—यह शब्दनय का आधार है।

प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न है, एक अर्थ के दो वाचक नहीं हो सकते—यह समभिरूढ़ की मूल भित्ति है।

शब्दनय प्रत्येक शब्द का अर्थ भिन्न नहीं मानता। उसके मतमें एक शब्द के जो अनेक रूप बनते हैं, वे तभी बनते हैं जब कि अर्थ में भेद होता है। यह दृष्टि उससे सूक्ष्म है। इसके अनुसार—शब्दभेद के अनुसार अर्थभेद होता ही है।

एवम्भूत का अभिप्राय विशुद्धतम है। इसके अनुसार अर्थ के लिए शब्द का प्रयोग उसकी प्रस्तुत क्रिया के अनुसार होना चाहिए। समभिरूढ़ अर्थ की

क्रिया में अप्रवृत्त शब्द को उसका वाचक मानता है—वाच्य और वाचक के प्रयोग को त्रैकालिक मानता है किन्तु यह केवल वाच्य-वाचक के प्रयोग को वर्तमान काल में ही स्वीकार करता है। क्रिया हो चुकने पर और क्रिया की संभाव्यता पर अमुक अर्थ का अमुक वाचक है—ऐसा हो नहीं सकता। फलित रूप में सात नयों के विषय इस प्रकार बनते हैं :—

(१) नैगम······अर्थ का अभेद और भेद और दोनों।

(२) संग्रह······अभेद।

(क) परसंग्रह······चरम-अभेद।

(ख) अपरसंग्रह···:अवान्तर-अभेद।

(३) व्यवहार······भेद-अवान्तर-भेद।

(४) ऋजुसूत्र······चरम भेद।

(५) शब्द·· ······भेद।

(६) समभिरूढ़···भेद।

(७) एवम्भूत······भेद।

इनमें एक अभेददृष्टि है, भेद दृष्टियां पांच हैं और एक दृष्टि संयुक्त है। संयुक्त दृष्टि इस बात की सूचक है कि अभेद में ही भेद और भेद में ही अभेद है। ये दोनों सर्वथा दो या सर्वथा एक या अभेद तात्त्विक और भेद काल्पनिक अथवा भेद तात्त्विक और अभेद काल्पनिक, यूं नहीं होता। जैन दर्शन को अभेद मान्य है किन्तु भेद के अभाव में नहीं। चेतन और अचेतन (आत्मा और पुद्गल) दोनों पदार्थ सत् हैं, इसलिए एक हैं—अभिन्न हैं। दोनों में स्वभाव-भेद है, इसलिए वे अनेक हैं—भिन्न हैं। यथार्थ यह है कि अभेद और भेद दोनों तात्त्विक हैं। कारण यह है—भेद शून्य अभेद में अर्थक्रिया नहीं होती—अर्थ की क्रिया विशेष दशा में होती है और अभेद शून्य भेद में भी अर्थक्रिया नहीं होती कारण और कार्य का सम्बन्ध नहीं जुड़ता। पूर्व-क्षण उत्तर-क्षण का कारण तभी बन सकता है जब कि दोनों में एक अन्वयी माना जाए (एक ध्रुव या अभेदांश माना जाए)। इसलिए जैन दर्शन अभेदाश्रित-भेद और भेदाश्रित-अभेद को स्वीकार करता है।

नय के विषय का अल्प-बहुत्व

ये सातों दृष्टियाँ परस्पर सापेक्ष हैं। एक ही वस्तु के विभिन्न रूपों को विविध रूप से ग्रहण करने वाली हैं। इनका चिन्तन क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म की ओर आगे बढ़ता है, इसलिए इनका विषय क्रमशः भूयस् से अल्प होता चलता है।

नैगम संकल्पग्राही है। संकल्प सत् और असत् दोनों का होता है, इसलिए भाव और अभाव—ये दोनों इसके गोचर बनते हैं।

संग्रह का विषय इससे थोड़ा है, केवल सत्ता मात्र है।

व्यवहार का विषय, सत्ता का एक अंश—भेद है।

ऋजुसूत्र का विषय भेद का चरम अंश—वर्तमान क्षण है, जब कि व्यवहार का त्रिकालवर्ती वस्तु है।

शब्द का विषय काल आदि के भेद से भिन्न वस्तु है, जब कि ऋजुसूत्र काल आदि का भेद होने पर भी वस्तु को अभिन्न मानता है।

समभिरूढ़ का विषय व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्येक पर्यायवाची शब्द का भिन्न अर्थ है, जब कि शब्दनय व्युत्पत्ति भेद होने पर भी पर्यायवाची शब्दों का एक अर्थ मानता है।

एवम्भूत का विषय क्रिया-भेद के अनुसार भिन्न अर्थ है, जब कि समभिरूढ़ क्रिया-भेद होने पर भी अर्थ को अभिन्न स्वीकार करता है।

इस प्रकार क्रमशः इनका विषय परिमित होता गया है। पूर्ववर्ती नय उत्तरवर्ती नय के गृहीत अंश को लेता है, इसलिए पहला नय कारण और दूसरा नय कार्य बन जाता है।

नय की शब्द योजना

प्रमाणवाक्य और नयवाक्य के साथ स्यात् शब्द का प्रयोग करने में सभी आचार्य एक मत नहीं हैं। आचार्य अकलंक ने दोनों जगह "स्यात्" शब्द जोड़ा है[४०] —"स्यात् जीव एव" और "स्यात् अस्त्येव जीव।" पहला प्रमाण वाक्य है, दूसरा नयवाक्य। पहले में अनन्त-धर्मात्मक जीव का बोध होता है, दूसरे में प्रधानतया जीव के अस्तित्वधर्म का। पहले में 'एवकार' धर्मी के वाचक के साथ जुड़ता है, दूसरे में धर्म के वाचक के साथ।

आचार्य मलयगिरि नयवाक्य को मिथ्या मानते हैं [४१]। इनकी दृष्टि में नयान्तर—निरपेक्ष नय अखण्ड वस्तु का ग्राहक नहीं होने के कारण मिथ्या है। नयान्तर-सापेक्ष नय 'स्यात्' शब्द से जुड़ा हुआ होगा, इसलिए वह वास्तव में नय-वाक्य नहीं, प्रमाण-वाक्य है। इसलिए उनके विचारानुसार 'स्यात्' शब्द का प्रयोग प्रमाण-वाक्य के साथ ही करना चाहिए।

सिद्धसेन दिवाकर की परम्परा में भी नय-वाक्य का रूप "स्यादस्त्येव" यही मान्य रहा है [४२]।

आचार्य हेमचन्द्र और वादिदेव सूरि ने नय को केवल "सत्" शब्द गम्य माना है। उन्होंने 'स्यात्' का प्रयोग केवल प्रमाण-वाक्य के साथ किया है। "अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका" के अनुसार

सत् एव—दुर्नय

सत्—नय

स्यात् सत्—प्रमाणवाक्य है [४३]।

"प्रमाणनयतत्त्वालोक" में नय, दुर्नय का रूप 'द्वात्रिंशिका' जैसा ही है। प्रमाण-वाक्य के साथ 'एव' शब्द जोड़ा है, इतना सा अन्तर है। पंचास्तिकाय की टीका में 'एव' शब्द को दोनों वाक्य-पद्धतियों से जोड़ा है, जब कि प्रवचन-सार की टीका में सिर्फ नय-सप्तभङ्गी के लिए 'एवकार' का निर्देश किया है[४४]। वास्तव में 'स्यात्' शब्द अनेकान्त-द्योतन के लिए है और 'एव' शब्द अन्य धर्मों का व्यवच्छेद करने के लिए। केवल 'एवकार' के प्रयोग में ऐकान्तिकता का दोष आता है। उसे दूर करने के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक बनता है। नयवाक्य में विवक्षित धर्म के अतिरिक्त धर्मों में उपेक्षा की मुख्यता होती है, इसलिए कई आचार्य उसके साथ 'स्यात्' और 'एव' का प्रयोग आवश्यक नहीं मानते। कई आचार्य विवक्षित धर्म की निश्चायकता के लिए 'एव' और शेष धर्मों का निराकरण न हो, इसलिए 'स्यात्' इन दोनों के प्रयोग को आवश्यक मानते हैं।

नय की त्रिभंगी या सप्तभंगी

(१) सोना एक है……(द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि से)

(२) सोना अनेक है……(पर्यायार्थिकनय की दृष्टि से)

(३) सोना क्रमशः एक है, अनेक है......(दो धर्मों का क्रमशः प्रतिपादन)

(४) सोना युगपत् "एक अनेक हैं"—यह अवक्तव्य है...(दो धर्मों का एक साथ प्रतिपादन असम्भव)

(५) सोना एक है— अवक्तव्य है।
(६) सोना अनेक है—अवक्तव्य है।
(७) सोना एक, अनेक—अवक्तव्य है।

{ एक साथ दो धर्म नहीं कहे जाते, फिर भी उनके साथ एकता अनेकता का प्रतिपादन हो सकता है।

प्रकारान्तर से [४५]:—

(१) कुम्भ है...एक देश में स्व-पर्याय से।

(२) कुम्भ नहीं है...एक देश में पर-पर्याय से।

(३) कुम्भ अवक्तव्य है...एक देश में स्व-पर्याय से, एक देश में पर-पर्याय से, युगपत् दोनों कहे नहीं जा सकते।

(४) कुम्भ अवक्तव्य है।

(५) कुम्भ है, कुम्भ अवक्तव्य है।

(६) कुम्भ नहीं है, कुम्भ अवक्तव्य है।

(७) कुम्भ है, कुम्भ नहीं है, कुम्भ अवक्तव्य है।

प्रमाण-सप्तभङ्गी में एक धर्म की प्रधानता से धर्मी—वस्तु का प्रतिपादन होता है और नय-सप्तभङ्गी में केवल धर्म का प्रतिपादन होता है। यह दोनों में अन्तर है। सिद्धसेनगणी आदि के विचार में अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य—ये तीन ही भङ्ग विकलादेश हैं, शेष (चार) भङ्ग अनेक धर्मवाली वस्तु के प्रतिपादक होते हैं, इसलिए वे विकलादेश नहीं होते। इसके अनुसार नय की त्रिभङ्गी ही बनती है। आचार्य अकलंक, क्षमाश्रमण जिनभद्र आदि ने नय के सातों भङ्ग माने हैं:—

ऐकान्तिक आग्रह या मिथ्यावाद

अपने अभिप्रेत धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला विचार दुर्नय होता है। कारण, एक धर्म वाली कोई वस्तु है ही नहीं। प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। इसलिए एक धर्मात्मक वस्तु का आग्रह सम्यग् नहीं है। नय इसलिए सम्यग्-ज्ञान है कि वे एक धर्म का आग्रह

रखते हुए भी अन्य-धर्म-सापेक्ष रहते हैं। इसीलिए कहा गया है—सापेक्ष नय और निरपेक्ष दुर्नय। वस्तु की जितने रूपों में उपलब्धि है, उतने ही नय हैं। किन्तु वस्तु एक रूप नहीं है, सब रूपों की जो एकात्मकता है, वह वस्तु है।

जैन दर्शन वस्तु की अनेकरूपता के प्रतिपादन में अनेक दर्शनों के साथ समन्वय करता है, किन्तु उनकी एकरूपता फिर उसे दूर या विलग कर देती है।

जैन दर्शन अनेकान्त-दृष्टि की अपेक्षा स्वतन्त्र है। अन्य दर्शन की एकान्त-दृष्टियों की अपेक्षा उनका संग्रह है।

"सन्मति" और अनेकान्त-व्यवस्था' के अनुसार नयाभास के उदाहरण यूँ हैं :—

(१) नैगम—नयाभास···—नैयायिक, वैशेषिक।
(२) संग्रह—नयाभास······वेदान्त, सांख्य। ४६
(३) व्यवहार—नयाभास······सांख्य, चार्वाक।

(४) ऋजुसूत्र—नयाभास······सौत्रान्तिक।
(५) शब्द—नयाभास···शब्द-ब्रह्मवाद, वैभाषिक।
(६) समभिरुढ़—नयाभास······योगाचार। ४७
(७) एवम्भूत—नयाभास······माध्यमिक।

(१) जानने वाला व्यक्ति सामान्य, विशेष—इन दोनों में से किसी को, जिस समय जिसकी अपेक्षा होती है, उसी को मुख्य मानकर प्रवृत्ति करता है। इसलिए सामान्य और विशेष की भिन्नता का समर्थन करने में जैन-दृष्टि न्याय, वैशेषिक से मिलती है, किन्तु सर्वथा भेद के समर्थन में उनसे अलग हो जाती है। सामान्य और विशेष में अत्यन्त भेद की दृष्टि दुर्नय है, तादात्म्य की अपेक्षा भेद की दृष्टि नय।

विशेष का व्यापार गौण, सामान्य मुख्य···अभेद।

सामान्य का व्यापार गौण, विशेष मुख्य···भेद।

(२) सत् और असत् में तादात्म्य सम्बन्ध है। सत्-असत् अंश धर्मी रूप से अभिन्न हैं—सत्-असत् रूप वाली वस्तु एक है। धर्म रूप में वे भिन्न हैं।

विशेष को गौण मान सामान्य को मुख्य मानने वाली दृष्टि नय है, केवल सामान्य को स्वीकार करने वाली दृष्टि दुर्नय। भावैकान्त का आग्रह रखने वाले दर्शन सांख्य और अद्वैत हैं। संग्रह दृष्टि में भावैकान्त और अभावैकान्त (शून्यवाद) दोनों का सापेक्ष स्वीकरण है।

(३) व्यवहार-नय—लोक-व्यवहार सत्य है, यह दृष्टि जैन दर्शन को मान्य है। उसी का नाम है व्यवहार-नय। किन्तु स्थिर-नित्य वस्तु-स्वरूप का लोपकर, केवल व्यवहार-साधक, स्थूल और कियत्कालभावी वस्तुओं को ही तात्त्विक मानना मिथ्या आग्रह है। जैन दृष्टि यहाँ चार्वाक से पृथक् हो जाती है। वर्तमान पर्याय, आकार या अवस्था को ही वास्तविक मानकर उनकी अतीत या भावी पर्यायों को और उनकी एकात्मकता को अस्वीकार कर चार्वाक निर्हेतुक वस्तुवादी बन जाता है। निर्हेतुक वस्तु या तो सदा रहती है या रहती ही नहीं। पदार्थों की जो कादाचित्क स्थिति होती है, वह कारण-सापेक्ष ही होती है[४८]।

(४) पर्याय की दृष्टि से ऋजुसूत्र का अभिप्राय सत्य है किन्तु बौद्ध दर्शन केवल पर्याय को ही परमार्थ सत्य मानकर पर्याय के आधार अन्वयी द्रव्य को अस्वीकार करता है, यह अभिप्राय सर्वथा ऐकान्तिक है, इसलिए सत्य नहीं है।

(५-६ ७) शब्द की प्रतीति होने पर अर्थ की प्रतीति होती है, यह सत्य है, किन्तु शब्द की प्रतीति के बिना अर्थ की प्रतीति होती ही नहीं, यह एकान्त-वाद मिथ्या है।

शब्दाद्वैतवादी ज्ञान को शब्दात्मक ही मानते हैं। उनके मतानुसार—"ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जो शब्द संसर्ग के बिना हो सके। जितना ज्ञान है, वह सब शब्द से अनुविद्ध होकर ही भासित होता है[४९]।"

जैन-दृष्टि के अनुसार—"ज्ञान शब्द-संश्लिष्ट ही होता है"—यह उचित नहीं[५०]। कारण, शब्द अर्थ से सर्वथा अभिन्न नहीं है। अवग्रह-काल में शब्द के बिना भी वस्तु का ज्ञान होता है। वस्तुमात्र सवाचक भी नहीं है। सूक्ष्म-पर्यायों के संकेत-ग्रहण का कोई उपाय नहीं होता, इसलिए वे अनभिलाप्य होती हैं।

शब्द अर्थ का वाचक है किन्तु यह शब्द इसी अर्थ का वाचक है, दूसरे

का नहीं—यह नियम नहीं बनता। देश, काल और संकेत आदि की विचित्रता से सब शब्द दूसरे-दूसरे पदार्थों के वाचक बन सकते हैं। अर्थ में भी अनन्त-धर्म होते हैं, इसलिए वे भी दूसरे-दूसरे शब्दों के वाच्य बन सकते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि शब्द अपनी सहज शक्ति से सब पदार्थों के वाचक हो सकते हैं किन्तु देश, काल, क्षयोपशम आदि की अपेक्षावश उनसे प्रतिनियत प्रतीति होती है। इसलिए शब्दों की प्रवृत्ति कहीं व्युत्पत्ति के निमित्त की अपेक्षा किये बिना मात्र रूढ़ि से होती है, कहीं सामान्य व्युत्पत्ति की अपेक्षा से और कहीं तत्कालवर्ती व्युत्पत्ति की अपेक्षा से। इसलिए वैयाकरण शब्द में नियत अर्थ का आग्रह करते हैं, वह सत्य नहीं है।

एकान्तवाद : प्रत्यक्षज्ञान का विपर्यय

जैसे परोक्ष-ज्ञान विपरीत या मिथ्या होता है, वैसे प्रत्यक्ष ज्ञान भी विपरीत या मिथ्या हो सकता है। ऐसा होने का कारण एकान्त-वादी दृष्टिकोण है। कई बाल-तपस्वियों (अज्ञान पूर्वक तप करने वालों) को तपोबल से प्रत्यक्ष-ज्ञान का लाभ होता है। वे एकान्तवादी दृष्टि से उसे विपर्यय या मिथ्या रूप से परिणत कर लेते हैं। उसके सात निदर्शन बतलाए गए हैं :—

(१) एक-दिशि-लोकाभिगमवाद

(२) पञ्च दिशि-लोकाभिगमवाद

(३) जीव-क्रियावरण-वाद

(४) मुयग्ग-पुद्गल जीववाद

(५) अमुयग्ग पुद्गल-वियुक्त जीववाद

(६) जीव-रूपि-वाद

(७) सर्व-जीववाद

एक दिशा को प्रत्यक्ष जान सके, वैसा प्रत्यक्ष ज्ञान किसी को मिले और वह ऐसा सिद्धान्त स्थापित करे कि बस लोकइतना ही है और "लोक सब दिशाओं में है, जो यह कहते हैं" वह मिथ्या है—यह एक-दिशि-लोका-भिगमवाद है।

पांच दिशाओं को प्रत्यक्ष जानने वाला विश्व को उतना मान्य करता है 'और एक दिशा में ही लोक है, जो यह कहते हैं' वह मिथ्या है—यह पञ्च-दिशि लोकाभिगम वाद है।

जीव की क्रिया को साक्षात् देखता है पर क्रिया के हेतु भूत कर्म परमाणुओं को साक्षात् नहीं देख पाता, इसलिए वह ऐसा सिद्धान्त स्थापित करता है—"जीव क्रिया प्रेरित ही है, क्रिया ही उसका आवरण है। जो लोग क्रिया को कर्म कहते है, वह मिथ्या है—यह जीव क्रिया वरणवाद है।"

देवों के बाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलों की सहायता से भांति-भांति के रूप देख जो इस प्रकार सोचता है कि जीव पुद्गल-रूप ही है। जो लोग कहते हैं कि जीव पुद्गल-रूप नहीं है, वह मिथ्या है—यह मुयग्ग-पुद्गल जीववाद है।

देवों के द्वारा निर्मित विविध रूपों को देखता है किन्तु बाह्याभ्यन्तर पुद्गलों के द्वारा उन्हें निर्मित होते नहीं देख पाता। वह सोचता है कि जीव का शरीर बाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलों से रचित नहीं है जो लोग कहते हैं कि जीव का शरीर बाह्य और आभ्यन्तर पुद्गलों से रचित है, वह मिथ्या है—यह अमुयग्ग पुद्गल वियुक्तजीववाद है।

देवों को विक्रियात्मक शक्ति के द्वारा नाना जीव-रूपों की सृष्टि करते देख जो सोचता है कि जीव मूर्त्त है और जो लोग जीव को अमूर्त्त कहते हैं, वह मिथ्या है—यह जीव-रूपि वाद है।

सूक्ष्म वायु काय के पुद्गलों में एजन, व्येजन, चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घट्टन, उदीरण आदि विविध भावों में परिणमन होते देख वह सोचता है कि सब जीव ही जीव हैं। जो श्रमण जीव और अजीव—ये दो विभाग करते हैं, वह मिथ्या है—जिनमें एजन यावत् विविध भावों की परिणति है, उनमें से केवल पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु को जीव मानना और शेष (गति-शील तत्त्वों) को जीव न मानना मिथ्या है—यह सर्व जीव वाद है [५१]।

शब्द प्रयोग की प्रक्रिया

संसारी जीवों का समूचा व्यवहार पदार्थाश्रित है। पदार्थ अनेक हैं। उन सबका व्यवहार एक साथ नहीं होता। वे अपनी पर्याय में पृथक्-पृथक् होते हैं। उनकी पहिचान भी पृथक्-पृथक् होनी चाहिए। यह एक बात है। दूसरी बात है—मनुष्य का व्यवहार सहयोगी है। मनुष्य करता और कराता है, देता है और लेता है, सीखता है और सिखाता है। पदार्थ के बिना क्रिया नहीं होती, देन-लेन नहीं होता, सीखना-सिखाना भी नहीं होता। इस व्यवहार का साधन चाहिए। उसके बिना "क्या करे, क्या दे, किसे जाने" इसका कोई समाधान नहीं मिलता। इन समस्याओं को सुलझाने के लिए संकेत-पद्धति का विकास हुआ। शब्द और अर्थ परस्पर सापेक्ष माने जाने लगे।

स्वरूप की दृष्टि से पदार्थ और शब्द में कोई अपनापन नहीं। दोनों अपनी-अपनी स्थिति में स्वतन्त्र हैं। किन्तु उक्त समस्याओं के समाधान के लिए दोनों एकता की शृङ्खला में जुड़े हुए हैं। इनका आपस में वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। यह भिन्नाभिन्न है। अग्नि शब्द के उच्चारण से दाह नहीं होता, इससे हम जान सकते हैं कि 'अग्नि पदार्थ' और 'अग्नि शब्द' एक नहीं हैं। ये दोनों सर्वथा एक नहीं हैं, ऐसा भी नहीं। अग्नि शब्द से अग्नि पदार्थ का ही ज्ञान होता है। इससे हम जान सकते हैं कि इन दोनों में अभेद भी है। भेद स्वभाव-कृत है और अभेद संकेत-कृत। संकेत इन दोनों के भाग्य को एक सूत्र में जोड़ देता है। इससे अर्थ में 'शब्द ज्ञेयता' नामक पर्याय और शब्द में 'अर्थ-ज्ञापकता' नामक पर्याय की अभिव्यक्ति होती है।

संकेत-काल में जिस वस्तु के बोध के लिए जो शब्द गढ़ा जाता है वह वहीं रहे, तब कोई समस्या नहीं आती। किन्तु ऐसा होता नहीं। वह आगे चलकर अपना क्षेत्र विशाल बना लेता है। उससे फिर उलझन पैदा होती है और वह शब्द इष्ट अर्थ की जानकारी देने की क्षमता खो बैठता है। इस समस्या का समाधान पाने के लिए निक्षेप पद्धति है।

निक्षेप का अर्थ है—"प्रस्तुत अर्थ का बोध देने वाली शब्द रचना या

अर्थ का शब्द में आरोप [1]।" अप्रस्तुत अर्थ को दूर रख कर प्रस्तुत अर्थ का बोध कराना इसका फल है। यह संशय और विपर्यय को दूर किये देता है। विस्तार में जाएं तो कहना होगा कि वस्तु-विन्यास के जितने क्रम हैं, उतने ही निक्षेप हैं[2]। संक्षेप में कम से कम चार तो अवश्य होते हैं—(१) नाम (२) स्थापना (३) द्रव्य (४) भाव [3]।

नाम निक्षेप

वस्तु का इच्छानुसार नाम रखा जाता है, वह नाम निक्षेप है। नाम सार्थक (जैसे 'इन्द्र') या निरर्थक (जैसे 'डित्थ'), मूल अर्थ से सापेक्ष या निरपेक्ष दोनों प्रकार का हो सकता है। किन्तु जो नामकरण सिर्फ संकेत-मात्र से होता है, जिसमें जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि की अपेक्षा नहीं होती, वही 'नाम निक्षेप' है [4]। एक अनक्षर व्यक्ति का नाम 'अध्यापक' रख दिया। एक गरीब आदमी का नाम 'इन्द्र' रख दिया। अध्यापक और इन्द्र का जो अर्थ होना चाहिए, वह उनमें नहीं मिलता, इसलिए ये नाम निक्षिप्त कहलाते हैं। उन दोनों में इन दोनों का आरोप किया जाता है। 'अध्यापक' का अर्थ है—पढ़ाने वाला। 'इन्द्र' का अर्थ है—परम ऐश्वर्यशाली। जो अध्यापक है, जो अध्यापन कराता है, उसे 'अध्यापक' कहा जाए, यह नाम-निक्षेप नहीं। जो परम ऐश्वर्य-सम्पन्न है, उसे 'इन्द्र' कहा जाए—यह नाम-निक्षेप नहीं। किन्तु जो ऐसे नहीं, उनका ऐसा नामकरण करना नाम-निक्षेप है। 'नाम-अध्यापक' और 'नाम-इन्द्र' ऐसी शब्द रचना हमें बताती है कि ये व्यक्ति नाम से 'अध्यापक' और 'इन्द्र' हैं। जो अध्यापन कराते हैं और जो परम ऐश्वर्य-सम्पन्न हैं और उनका नाम भी अध्यापक और इन्द्र हैं तो हम उनको 'भाव-अध्यापक' और 'भाव इन्द्र' कहेंगे। यदि नाम-निक्षेप नहीं होता तो हम 'अध्यापक' और 'इन्द्र' ऐसा नाम सुनते ही यह समझ लेने को बाध्य होते कि अमुक व्यक्ति पढ़ाता है और अमुक व्यक्ति ऐश्वर्य-सम्पन्न है। किन्तु संज्ञासूचक शब्द के पीछे नाम विशेषण लगते ही सही स्थिति सामने आ जाती है।

स्थापना-निक्षेप

जो अर्थ तद्रूप नहीं है, उसे तद्रूप मान लेना स्थापना-निक्षेप है [5]।

स्थापना दो प्रकार की होती है—(१) सद्भाव (तदाकार) स्थापना (२) असद्भाव (अतदाकार) स्थापना। एक व्यक्ति अपने गुरु के चित्र को गुरु मानता है, यह सद्भाव-स्थापना है। एक व्यक्ति ने शंख में अपने गुरु का आरोप कर दिया, यह असद्भाव-स्थापना है। नाम और स्थापना दोनों वास्तविक अर्थ शून्य होते हैं।

द्रव्य-निक्षेप

अतीत-अवस्था, भविष्यत्-अवस्था और अनुयोग-दशा—ये तीनों विवक्षित क्रिया में परिणत नहीं होते। इसलिए इन्हें द्रव्य-निक्षेप कहा जाता है। भाव-शून्यता वर्तमान-पर्याय की शून्यता के उपरान्त भी जो वर्तमान पर्याय से पहचाना जाता है, यही इसमें द्रव्यता का आरोप है।

भाव-निक्षेप

वाचक द्वारा संकेतित क्रिया में प्रवृत्त व्यक्ति को भाव-निक्षेप कहा जाता है[६]। इनमें (द्रव्य और भाव निक्षेप में) शब्द व्यवहार के निमित्त ज्ञान और क्रिया—ये दोनों बनते हैं। इसलिए इनके दो-दो भेद होते हैं—

(१,२) जानने वाला द्रव्य और भाव।

(३,४) करने वाला द्रव्य और भाव।

ज्ञान की दो दशाएं होती हैं—(१) उपयोग-दत्तचित्तता।
(२) अनुपयोग-दत्तचित्तता का अभाव।

अध्यापक शब्द का अर्थ जानने वाला उसके अर्थ में उपयुक्त (दत्तचित्त) नहीं होता। इसलिए वह आगम या जानने वाले की अपेक्षा द्रव्य-निक्षेप है।

अध्यापक शब्द का अर्थ जानता था, उसका शरीर 'ज्ञ-शरीर' कहलाता है और उसे आगे जानेगा, उसका शरीर 'भव्य-शरीर' ये भूत और भावी पर्याय के कारण हैं, इसलिए द्रव्य हैं।

वस्तु की उपकारक सामग्री में वस्तुवाची शब्द का व्यवहार किया जाता है, वह 'तद्-व्यतिरिक्त' कहलाता है। जैसे अध्यापक के शरीर को अध्यापक कहना अथवा अध्यापक की अध्यापन के समय होने वाली हस्त-संकेत आदि क्रिया को अध्यापक कहना। 'ज्ञ-शरीर' में अध्यापक शब्द का अर्थ जानने

वाले व्यक्ति का शरीर अपेक्षित है और तद्-व्यतिरिक्त में अध्यापक का शरीर।

(१) ज्ञाता…अनुपयुक्त…आगम से द्रव्य-निक्षेप।

(२) ज्ञाता का मृतक शरीर…नो-आगम से मृत-ज्ञ-शरीर—द्रव्य निक्षेप।

(३) भावी पर्याय का उपादान…नो आगम से भावी-ज्ञ-शरीर—द्रव्य—निक्षेप।

(४) पदार्थ से सम्बन्धित वस्तु में पदार्थ का व्यवहार नो-आगम से तद्-व्यतिरिक्त—द्रव्य-निक्षेप। (जैसे वस्त्र के कर्ता व वस्त्र-निर्माण की सामग्री को वस्त्र कहना)

आगम-द्रव्य-निक्षेप में उपयोगरूप आगम-ज्ञान नहीं होता, लब्धि रूप (शक्ति-रूप) होता है। नो-आगम द्रव्यों में दोनों प्रकार का आगम-ज्ञान नहीं होता, सिर्फ आगम-ज्ञान का कारणभूत शरीर होता है। नो-आगम तद् व्यतिरिक्त में आगम का सर्वथा अभाव होता है। यह क्रिया की अपेक्षा द्रव्य है। इसके तीन रूप बनते हैं :—

लौकिक, कुप्रावचनिक, लोकोत्तर।

(१) लोक मान्यतानुसार 'दूब' मंगल है।

(२) कुप्रावचनिक मान्यतानुसार 'विनायक' मंगल है।

(३) लोकोत्तर मान्यतानुसार 'ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप धर्म' मंगल है।

१—ज्ञाता उपयुक्त (अध्यापक शब्द के अर्थ में उपयुक्त आगम से भाव-निक्षेप)।

२—ज्ञाता क्रिया-प्रवृत्त (अध्यापन क्रिया में प्रवृत्त) नो-आगम से भाव-निक्षेप।

यहाँ 'नो' शब्द मिश्रवाची है, क्रिया के एक देश में ज्ञान है। इसके भी तीन रूप बनते हैं :—

(१) लौकिक

(२) कुप्रावचनिक

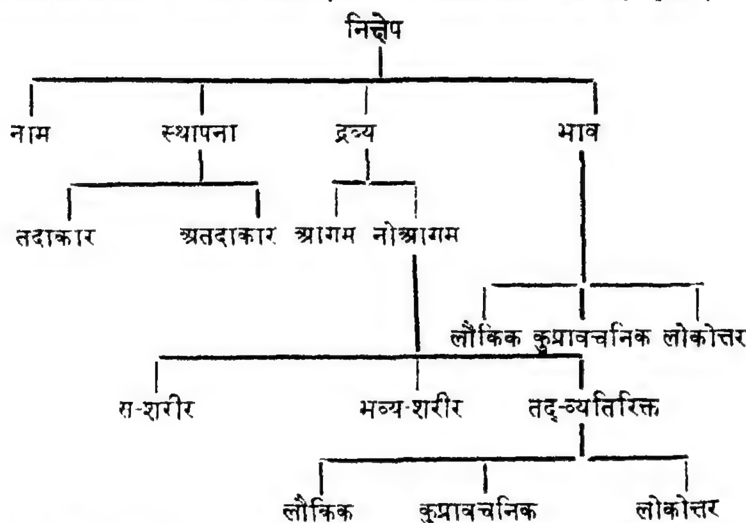
(३) लोकोत्तर

नो-आगम तद्-व्यतिरिक्त द्रव्य के लौकिक आदि तीन भेद और

नो-आगम भाव के तीन रूप बनते हैं। इनमें यह अन्तर है कि द्रव्य में नो शब्द सर्वथा आगम का निषेध बताता है और भाव एक देश में *। द्रव्य-तद्व्यतिरिक्त का क्षेत्र सिर्फ क्रिया है और इसका क्षेत्र ज्ञान और क्रिया दोनों हैं। अध्यापन कराने वाला हाथ हिलाता है, पुस्तक के पन्ने उलटता है, इस क्रियात्मक देश में ज्ञान नहीं है और वह जो पढ़ाता है, उसमें ज्ञान है, इसलिए भाव में 'नो शब्द' देशनिषेधवाची है।

निक्षेप के सभी प्रकारों की सब द्रव्यों में संगति होती है, ऐसा नियम नहीं है। इसलिए जिनकी उचित संगति हो, उन्हीं की करनी चाहिए।

पदार्थ मात्र चतुष्पर्यायात्मक होता है। कोई भी वस्तु केवल नाममय, केवल आकारमय, केवल द्रव्यता-श्लिष्ट और केवल भावात्मक नहीं होती।



नय और निक्षेप

नय और निक्षेप का विषय-विषयी सम्बन्ध है। वाच्य और वाचक का सम्बन्ध तथा उसकी क्रिया नय से जानी जाती है। नामादि तीन निक्षेप द्रव्य-नय के विषय हैं, भाव पर्याय-नय का। द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य-अन्वय होता है। नाम, स्थापना और द्रव्य का सम्बन्ध तीन काल से होता है, इसलिए ये द्रव्यार्थिक के विषय बनते हैं। भाव में अन्वय नहीं होता। उसका सम्बन्ध केवल वर्तमान-पर्याय से होता है, इसलिए वह पर्यायार्थिक का विषय बनता है।

निक्षेप का आधार

निक्षेप का आधार प्रधान-अप्रधान, कल्पित और अकल्पित दृष्टि-बिन्दु हैं। भाव अकल्पित दृष्टि है। इसलिए वह प्रधान होता है। शेष तीन निक्षेप कल्पित होते हैं, इसलिए वे अप्रधान होते हैं।

नाम में पहिचान और स्थापना में आकार की भावना होती है, गुण की वृत्ति नहीं होती। द्रव्य मूल-वस्तु की पूर्वोत्तर दशा या उससे सम्बन्ध रखने वाली अन्य वस्तु होती है। इसमें भी मौलिकता नहीं होती। इसलिए ये तीनों मौलिक नहीं होते।

निक्षेप पद्धति की उपयोगिता

निक्षेप भाषा और भाव की संगति है। इसे समझे बिना भाषा के प्रास्ताविक अर्थ को नहीं समझा जा सकता। अर्थ-सूचक शब्द के पीछे अर्थ की स्थिति को स्पष्ट करने वाला जो विशेषण लगता है, यही इसकी विशेषता है। इसे 'स-विशेषण भाषा-प्रयोग' भी कहा जा सकता है। अर्थ की स्थिति के अनुरूप ही शब्द-रचना या शब्द-प्रयोग की शिक्षा वाणी-सत्य का महान् तत्त्व है। अधिक अभ्यास-दशा में विशेषण का प्रयोग नहीं भी किया जाता है, किन्तु वह अन्तर्हित अवश्य रहता है···यदि इस अपेक्षा दृष्टि को ध्यान में न रखा जाए तो पग-पग पर मिथ्या भाषा का प्रसंग आ सकता है। जो कभी अध्यापन करता था, वह आज भी अध्यापक है—यह असत्य हो सकता है और भ्रामक भी। इसलिए निक्षेप दृष्टि की अपेक्षा नहीं भुलानी चाहिए। यह विधि जितनी गंभीर है, उतनी ही व्यावहारिक है।

नाम—एक निर्धन आदमी का नाम 'इन्द्र' होता है।

स्थापना—एक पाषाण की प्रतिमा को भी लोग 'इन्द्र' मानते हैं।

द्रव्य—जो कभी घी का घड़ा रहा, वह आज भी 'घी का घड़ा' कहा जाता है। जो घी का घड़ा बनेगा, वह घी का घड़ा कहलाता है। एक व्यक्ति आयुर्वेद में निष्णात है, वह अभी व्यापार में लगा हुआ है फिर भी लोग उसे आयुर्वेद-निष्णात कहते हैं। भौतिक ऐश्वर्य वाला लोक में 'इन्द्र' कहलाता है। आत्म-संपत् का अधिकारी लोकोत्तर जगत् में "इन्द्र" कहलाता है। इस समूचे व्यवहार का कारण निक्षेप-पद्धति ही है।

लक्षण

समग्रं वस्तुनो रूपं, प्रमाणेन प्रमीयते।
असङ्कीर्णं स्वरूपं हि, लक्षणेनावधार्यते ॥

अर्थ-सिद्धि के दो साधन हैं—लक्षण और प्रमाण [1]। प्रमाण के द्वारा वस्तु के स्वरूप का निर्णय होता है। लक्षण निश्चित स्वरूप वाली वस्तुओं को श्रेणी-बद्ध करता है। प्रमाण हमारा ज्ञानगत धर्म है, लक्षण वस्तुगत धर्म। यह जगत् अनेकविध पदार्थों से संकुल है। हमें उनमें से किसी एक की अपेक्षा होती है, तब उसे औरों से पृथक् करने के लिए विशेष-धर्म बताना पड़ता है, वह लक्षण है [2]। लक्षण में लक्ष्य-वस्तु के स्वभाव धर्म, अवयव अथवा अवस्था का उल्लेख होना चाहिए। इसके द्वारा हम ठीक लक्ष्य को पकड़ते हैं, इसलिए इसे व्यवच्छेदक (व्यावर्तक) धर्म कहते हैं। व्यवच्छेदक धर्म वह होता है जो वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता (असंकीर्ण व्यवस्था) बतलाए। स्वतन्त्र पदार्थ वह होता है, जिसमें एक विशेष गुण (दूसरे पदार्थों में न मिलने वाला गुण) मिले।

स्वभावधर्म : लक्षण

चैतन्य जीव का स्वभाव धर्म है। वह जीव की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित करता है, इसलिए वह जीव का गुण है और वह हमें जीव को अजीव से पृथक् समझने में सहायता देता है, इसलिए वह जीव का लक्षण बन जाता है।

अवयव-लक्षण

सास्ना (गलकम्बल) गाय का अवयव विशेष है। वह गाय के ही होता है और पशुओं के नहीं होता, इसलिए वह गाय का लक्षण बन जाता है। जो आदमी गाय को नहीं जानता उसे हम 'सास्ना चिह्न' समझा कर गाय का ज्ञान करा सकते हैं।

अवस्था-लक्षण

दस आदमी जा रहे हैं। उनमें से एक आदमी को बुलाना है। जिसे बुलाना है, उसके हाथ में डण्डा है। आवाज हुई—"डण्डे वाले आदमी!

आओ।" दस में से एक आ जाता है। इसका कारण उसकी एक विशेष अवस्था है।

अवस्था-लक्षण स्थायी नहीं होता। डण्डा हर समय उसके पास नहीं रहता। इसलिए इसे कादाचित्क लक्षण कहा जाता है। इसका दूसरा नाम अनात्मभूत लक्षण भी है। कुछ समय के लिए भले ही, किन्तु यह वस्तु का व्यवच्छेद करता है, इसलिए इसे लक्षण मानने में कोई आपत्ति नहीं आती।

पहले दो प्रकार के लक्षण स्थायी (वस्तुगत) होते हैं, इसलिए उन्हें 'आत्मभूत' कहा जाता है।

लक्षण के दो रूप

विषय के ग्रहण की अपेक्षा से लक्षण के दो रूप बनते हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। ताप के द्वारा अग्नि का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इसलिए 'ताप' अग्नि का प्रत्यक्ष लक्षण है। धूम के द्वारा अग्नि का परोक्ष ज्ञान होता है, इसलिए 'धूम' अग्नि का परोक्ष लक्षण है।

लक्षण के तीन दोष—लक्षणाभास[३]

किसी वस्तु का लक्षण बनाते समय हमें तीन बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

लक्षण (१) श्रेणी के सब पदार्थों में होना चाहिए।

,, (२) श्रेणी के बाहर नहीं होना चाहिए।

,, (३) श्रेणी के लिए असम्भव नहीं होना चाहिए।

लक्षणाभास के उदाहरण

(१) "पशु सींग वाला होता है"—यहाँ पशु का लक्षण सींग है। यह लक्षण पशु जाति के सब सदस्यों में नहीं मिलता। "घोड़ा एक पशु है किन्तु उसके सींग नहीं होते" इसलिए यह 'अव्याप्त दोष' है।

(२) "वायु चलने वाली होती है"—इसमें वायु का लक्षण गति है। यह वायु में पूर्ण रूप से मिलता है किन्तु वायु के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओं में भी मिलता है। "घोड़ा वायु नहीं, फिर भी वह चलता है" इसलिए यह 'अतिव्याप्त दोष' है।

(३) पुद्गल (भूत) चैतन्यवान् होता है—यह जड़ पदार्थ का 'असम्भव लक्षण' है। जड़ और चेतन का अत्यन्ताभाव होता है—किसी भी समय जड़ चेतन और चेतन जड़ नहीं बन सकता।

वर्णन और लक्षण में भेद

वस्तु में दो प्रकार के धर्म होते हैं—स्वभाव-धर्म और स्वभाव-सिद्ध धर्म। प्राणी ज्ञान वाला होता है—यह प्राणी नामक वस्तु का स्वभाव धर्म है। प्राणी वह होता है, जो खाता है, पीता है, चलता है—ये उसके स्वभाव-सिद्ध धर्म हैं। 'ज्ञान' प्राणी को अप्राणी वर्ग से पृथक् करता है, इसलिए वह प्राणी का लक्षण है। खाना, पीना, चलना—ये प्राणी को अप्राणी वर्ग से पृथक् नहीं करते—इंजिन (Engine) भी खाता है, पीता है, चलता है, इसलिए ये प्राणी का लक्षण नहीं करते, सिर्फ वर्णन करते हैं।

कार्यकारणवाद

असत् का प्रादुर्भाव—यह भी अर्थ-सिद्धि का एक रूप है। न्याय-शास्त्र असत् के प्रादुर्भाव की प्रक्रिया नहीं बताता किन्तु असत् से सत् बनता है या नहीं—इसकी मीमांसा करता है। इसी का नाम कार्यकारणवाद है।

वस्तु का जैसे स्थूल रूप होता है, वैसे ही सूक्ष्म रूप भी होता है। स्थूल रूप को समझने के लिए हम स्थूल सत्य या व्यवहार दृष्टि को काम में लेते हैं। मिश्री की डली को हम सफेद कहते हैं। यह चीनी से बनती है, यह भी कहते हैं। अब निश्चय की बात देखिए। निश्चय दृष्टि के अनुसार उसमें सब रंग हैं। विश्लेषण करते-करते हम यहाँ आ जाते हैं कि वह परमाणुओं से बनी है। ये दोनों दृष्टियां मिल सत्य को पूर्ण बनाती हैं। जैन की भाषा में ये 'निश्चय और व्यवहार नय' कहलाती हैं[1]। बौद्ध दर्शन में इन्हें लोक-संवृति सत्य और परमार्थ-सत्य कहा जाता है[2]। शंकराचार्य ने ब्रह्म को परमार्थ-सत्य और प्रपंच को व्यवहार-सत्य माना है[3]। प्रो० आइन्स्टीन के अनुसार सत्य के दो रूप किए बिना हम उसे छू ही नहीं सकते[4]।

निश्चय-दृष्टि अभेद-प्रधान होती है, व्यवहार-दृष्टि भेद-प्रधान। निश्चय दृष्टि के अनुसार जीव शिव है और शिव जीव है[5]। जीव और शिव में कोई भेद नहीं।

व्यवहार दृष्टि कर्म-बद्ध आत्मा को जीव कहती है और कर्म-मुक्त आत्मा को शिव।

कारण-कार्य

प्रत्येक पदार्थ में पल-पल परिणमन होता है। परिणमन से पौर्वापर्य आता है। पहले वाला कारण और पीछे वाला कार्य कहलाता है। यह कारण-कार्य-भाव एक ही पदार्थ की द्विरूपता है[1]। परिणमन के बाहरी निमित्त भी कारण बनते हैं। किन्तु उनका कार्य के साथ पहले-पीछे कोई सम्बन्ध नहीं होता, सिर्फ कार्य-निष्पत्ति-काल में ही उनकी अपेक्षा रहती है।

परिणमन के दो पहलू हैं :—उत्पाद और नाश। कार्य का उत्पाद होता

है और कारण का नाश। कारण ही अपना रूप त्याग कर कार्य को रूप देता है, इसीलिए कारण के अनुरूप ही कार्य की उत्पत्ति का नियम है। सत् से सत् पैदा होता है। सत् असत् नहीं बनता और असत् सत् नहीं बनता। जो कार्य जिस कारण से उत्पन्न होगा, वह उसी से होगा, किसी दूसरे से नहीं। और कारण भी जिसे उत्पन्न करता है उसी को करेगा, किसी दूसरे को नहीं। एक कारण से एक ही कार्य उत्पन्न होगा। कारण और कार्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसीलिए कार्य से करण का और कारण से कार्य का अनुमान किया जाता है [७]।

एक कार्य के अनेक कारण और एक कारण से अनेक कार्य बनें यानि बहु-कारणवाद या बहु-कार्यवाद माना जाए तो कारण से कार्य का और कार्य से कारण का अनुमान नहीं हो सकता।

विविध विचार

कार्य-कारणवाद के बारे में भारतीय दर्शन की अनेक धाराएं हैं—न्याय-वैशेषिक कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनका कार्य-कारण-वाद 'आरम्भवाद या असत्-कार्यवाद' कहलाता है। सांख्य कार्य और कारण दोनों को सत् मानते हैं, इसलिए उनकी विचारधारा—'परिणाम-वाद या सत् कार्यवाद' कहलाती है। वेदान्ती कारण को सत् और कार्य को असत् मानते हैं, इसलिए उनके विचार को "विवर्त्तवाद या सत्-कारणवाद" कहा जाता है। बौद्ध असत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं, इसे 'प्रतीत्य-समुत्पाद' कहा जाता है।

बौद्ध असत् कारण से सत् कार्य मानते हैं, उस स्थिति में वेदान्ती सत्-कारण से असत् कार्य मानते हैं। उनके मतानुसार वास्तव में कारण और कार्य एक रूप हों, तब दोनों सत् होते हैं [८]। कार्य और कारण को पृथक् माना जाए, तब कारण सत् और आभासित कार्य असत् होता है। इसी का नाम 'विवर्तवाद' है।

(१) कार्य और कारण सर्वथा भिन्न नहीं होते। कारण कार्य का ही पूर्व रूप है और कार्य कारण का उत्तर रूप। असत् कार्यवाद के अनुसार कार्य,

कारण एक ही सत्य के दो पहलू न होकर दोनों स्वतन्त्र बन जाते हैं। इसलिए यह युक्ति-संगत नहीं है।

(२) सत्-कार्यवाद भी एकांगी है। कार्य और कारण में अभेद है सही किन्तु वे सर्वथा एक नहीं हैं। पूर्व और उत्तर स्थिति में पूर्ण सामञ्जस्य नहीं होता।

(३) असत् कारण से कार्य उत्पन्न हो तो कार्य-कारण की व्यवस्था नहीं बनती। कार्य किसी शून्य से उत्पन्न नहीं होता। सर्वथा अभूतपूर्व व सर्वथा नया भी उत्पन्न नहीं होता। कारण सर्वथा मिट जाए, उस दशा में कार्य का कोई रूप बनता ही नहीं।

(४) विवर्त्त परिणाम से भिन्न कल्पना उपस्थित करता है। वर्तमान अवस्था त्यागकर रूपान्तरित होना परिणाम है। दूध-दही के रूप में परिणत होता है, यह परिणाम है। विवर्त्त अपना रूप त्यागे बिना मिथ्या प्रतीति का कारण बनता है। रस्सी अपना रूप त्याग किये बिना ही मिथ्या प्रतीति का कारण बनती है[९]। तत्त्व-चिन्तन में 'विवर्त्त' गम्भीर मूल्य उपस्थित नहीं करता। रस्सी में साँप का प्रतिभास होता है, उसका कारण रस्सी नहीं, द्रष्टा की दोषपूर्ण सामग्री है। एक काल में एक व्यक्ति को दोषपूर्ण सामग्री के कारण मिथ्या प्रतीति हो सकती है किन्तु सर्वदा सब व्यक्तियों को मिथ्या प्रतीति ही नहीं होती।

न्याय—वैशेषिक कार्य-कारण का एकान्त भेद स्वीकार करते हैं। सांख्य द्वैतपरक अभेद[१०], वेदान्त अद्वैतपरक अभेद[११], बौद्ध कार्य-कारण का भिन्न काल स्वीकार करते हैं[१२]।

जैन-दृष्टि के अनुसार कार्य-कारण रूप में सत् और कार्य रूप में असत् होता है। इसे सत्-असत् कार्यवाद या परिणामि-नित्यत्ववाद कहा जाता है। निश्चय-दृष्टि के अनुसार कार्य और कारण एक हैं—अभिन्न हैं। काल और अवस्था के भेद से पूर्व और उत्तर रूप में परिवर्तित एक ही वस्तु को निश्चय-दृष्टि भिन्न नहीं मानती। व्यवहार-दृष्टि में कार्य और कारण भिन्न हैं—दो हैं। द्रव्य-दृष्टि से जैन सत्-कार्यवादी है और पर्याय दृष्टि से असत् कार्यवादी। द्रव्य-दृष्टि की अपेक्षा "भाव का नाश और अभाव का उत्पाद नहीं होता[१३]।"

पर्याय दृष्टि की अपेक्षा —"सत् का विनाश और असत् का उत्पाद होता है १४।"

कारण-कार्य जानने की पद्धति

कारण-कार्य का सम्बन्ध जानने की पद्धति को अन्वय-व्यतिरेक पद्धति कहा जाता है। जिसके होने पर ही जो होता है, वह अन्वय है और जिसके बिना जो नहीं होता, वह व्यतिरेक है—ये दोनो जहाँ मिलें, वहाँ कार्य-कारण भाव जाना जाता है।

परिणमन के हेतु

जो परिवर्तन काल और स्वभाव से ही होता है, वह स्वाभाविक या अहेतुक कहलाता है। "प्रत्येक कार्य कारण का आभारी होता है"—यह तर्क-नियम सामान्यतः सही है किन्तु स्वभाव इसका अपवाद है। इसीलिए उत्पाद के दो रूप बनते हैं :—

(१) स्व-प्रत्यय-निष्पन्न, वैस्रसिक या स्वापेक्ष-परिवर्तन।

(२) पर-प्रत्यय-निष्पन्न, प्रायोगिक या परापेक्ष-परिवर्तन।

गौतम···भगवान् ! (१) क्या अस्तित्व अस्तित्वरूप में परिणत होता है ? (२) नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है ?

भगवान्···हाँ, गौतम ! होता है।

गौतम ······भगवन् ! ! क्या (३) स्वभाव से अस्तित्व, अस्तित्व-रूप में परिणत होता है या प्रयोग (जीवन-व्यापार) से अस्तित्व अस्तित्व-रूप में परिणत होता है ? (४) क्या स्वभाव से नास्तित्व नास्तित्व-रूप में परिणत होता है या प्रयोग (जीवन-व्यापार) से नास्तित्व नास्तित्व रूप में परिणत होता है ?

भगवान्···गौतम ! स्वभाव से भी अस्तित्व अस्तित्वरूप में, नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है और परभाव से भी अस्तित्व अस्तित्वरूप में और नास्तित्व नास्तित्वरूप में परिणत होता है। [भग० १-३]

वैभाविक परिवर्तन प्रायः पर-निमित्त से ही होता है। मृद्-द्रव्य का पिंडरूप अस्तित्व कुम्हार के द्वारा घटरूप अस्तित्व में परिणत होता है। मिट्टी का नास्तित्व-तन्तु-समुदय, जुलाहे के द्वारा मिट्टी के नास्तित्व कपड़े के

रूप में परिणत होता है। ये दोनों परिवर्तन प्रायोगिक हैं। मेघ के पूर्व रूप पदार्थ स्वयं मेघ के रूप में परिवर्तित होते हैं, यह स्वाभाविक या अकर्तृक परिवर्तन है।

पर-प्रत्यय से होने वाले परिवर्तन में कर्त्ता या प्रयोक्ता की अपेक्षा रहती है, इसलिए वह प्रायोगिक कहलाता है। पदार्थ में जो अगुरु-लघु (सूक्ष्म-परिवर्तन) होता है, वह परनिमित्त से नहीं होता। प्रत्येक पदार्थ अनन्त गुण और पर्यायों का पिंड होता है। उसके गुण और शक्तियां इसलिए नहीं बिखरतीं कि वे प्रतिक्षण अपना परिणमन कर समुदित रहने की क्षमता को बनाए रखती हैं। यदि उनमें स्वाभाविक परिवर्तन की क्षमता न हो तो वे अनन्तकाल तक अपना अस्तित्व बनाए नहीं रह सकतीं। सांसारिक आत्मा और पुद्गल इन दो द्रव्यों में रूपान्तर दशाएं पैदा होती हैं। शेष चार द्रव्यों (धर्म, अधर्म) आकाश और काल) में निरपेक्षवृत्त्या स्वभाव परिवर्तन ही होता है। मुक्त आत्मा में भी यही होता है। यों कहना चाहिए कि स्व निमित्त परिवर्तन सब में होता है। नाश की भी यही प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त उसके दो रूप-रूपान्तर और अर्थान्तर जो बनते हैं, उनसे यह मिलता है कि रूपान्तर होने पर भी परिवर्तन की मर्यादा नहीं टूटती [१५]। तैजस् परमाणु तिमिर के रूप में परिणत हो जाते हैं—यह रूपान्तर है, पर स्वभाव की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं। तात्पर्य यह है कि परिवर्तन अपनी सीमा के अन्तर्गत ही होता है। उससे आगे नहीं। तैजस् परमाणु असंख्य या अनन्त रूप पा सकते हैं किन्तु चैतन्य नहीं पा सकते। कारण, वह उनकी मर्यादा या वस्तु-स्वरूप से अत्यन्त या त्रैकालिक भिन्न गुण है। यही बात अर्थान्तर के लिए समझिए।

दो सरीखी वस्तुएं अलग-अलग थीं, तब तक वे दो थीं। दोनों मिलती हैं, तब एक बन जाती हैं [१६]। यह भी अपनी मर्यादा में ही होता है। केवल चैतन्यमय या केवल अचैतन्यमय पदार्थ हैं नहीं, ऐसा स्पष्ट बोध हो रहा है। यह जगत् चेतन और जड़—इन दो पदार्थों से परिपूर्ण है। चेतन जड़ और जड़ चेतन बन सके तो कोई व्यवस्था नहीं बनती। इसलिए पदार्थ का जो विशेष स्वरूप है वह कभी नष्ट नहीं होता। यही कारण और कार्य के अविच्छिन्न एकत्व की धारा है।

मार्क्स के धर्म-परिवर्तन की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के सिद्धान्त में कार्य-कारण का निश्चित नियम नहीं है। वह पदार्थ का परिवर्तन मात्र स्वीकार नहीं करता। उसका सर्वथा नाश और सर्वथा उत्पाद भी स्वीकार करता है। जो पहले था, वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा—इसे वह समाज के विकास में भारी रुकावट मानता है। 'सच तो यह है कि 'जो पहले था; वह आज भी है और सदा वैसा ही रहेगा'—"वाली धारणा का हमें लगभग सब जगह सामना करना पड़ता है और व्यक्तियों और समाज के विकास में भारी रुकावट पड़ती है।" [मार्क्सवाद पृष्ठ ७२]

किन्तु यह आशंका कार्य-कारण के एकांगी रूप को ग्रहण करने का परिणाम है,, जो था, है और वैसा ही रहेगा—"यह तत्त्व के अस्तित्व या कारण की व्याख्या है। कार्य-कारण के सम्बन्ध की व्याख्या में पदार्थ परिणाम स्वभाव है। पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती में सम्बन्ध हुए बिना कार्य-कारण की स्थिति ही नहीं बनती। परवर्त्ती पूर्ववर्त्ती का ऋणी होता है, पूर्ववर्त्ती परवर्त्ती में अपना संस्कार छोड़ जाता है [१७]। यह शब्दान्तर से 'परिणामि-नित्यत्व का ही स्वीकार है।

परिशिष्ट : १ :

(टिप्पणियां)

प्रथम खण्ड

: एक :

१—आव० नि० २०३

२—आव० नि० २११

३—आव० नि० २११

४—असौ माता-पिता भ्राता, भार्या पुत्रो गृहं धनम्।
ममेत्यादि च ममताऽभूज्जनानां तदादिका॥ त्रिषष्टि २।१।२६

५—त्रिषष्टि० १।२।८६३-६०२,

६—त्रिषष्टि १।२।६२५-६३२,

७—त्रिषष्टि० १।२-६५६,

८—स्था० ७।३।५५७

९—स्था० वृ० ७।३।५५७

१०—त्रिषष्टि० १।२।२७८-६

११—त्रिषष्टि० १।२।६७४-७६

१२—छान्दो० उप० ३।१७।६

१३—ज्ञाता-५

१४—छान्दो० उप० ३।१७।६

१५—आचा० १।१।१

१६—उत्त० २२।६,८,

१७—उत्त० २२।२५,२७,

१८—उत्त० २२।३१,

१९—अन्त, ०, ३।८,

२०—अन्त० ५।१-८,

२१—अन्त० १।१-१०, २।१-८, ४।१-१०,

२२—ज्ञाता० ५, निर० पत्र ५३,

२३—छान्दो० उप० ३।१७।६,

२४—ज्ञाता० १६, स्था० ६२६ पत्र ४१०, समं० १० पत्र १७, सम० १५८
पत्र १५२,

: दो :

१—भा० सं० अ०

२—भा० सं० अ० पृ० ३५

३—श्री० का० लो० सर्ग ३६ । ८८७-८८

४—पार्श्व के उपदेश को 'चातुर्याम—संवर-वाद' कहते थे। भा० सं० ३८,४७

५— जैन मुनि श्री दर्शन विजयजी (त्रिपुटी)—जैन० भा० अंक २६ वर्ष ४

६—आव० चू० (पूर्व भाग) पत्र २४५

७—कल्प० १०६

८—आचा० २।२४।६६६

६—आचा० २।२४।१००४

१०—आच० २।२४।१००२

११—कल्प० १०६

१२—आचा० २।२४।६६२

१३—कल्प० ११०

१४—आचा० २।२४।१००५

१५—आचा० २।२४।१००५

१६—कल्प १०६

१७—आचा० २।२४।१००५

१८—महा० क० पृ० ११३

१६—आचा० १।६।१।४७२

२०—सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मंत्ति कट्टु—आच० २।२४

२१—सू० १।६

२२—लाढ-राढ—पश्चिमी बंगाल के अन्तर्गत हुगली, हावड़ा, बांकुड़ा, बर्दवान और पूर्वीय मिदनापुर के जिले।

लाढ-देश वज्र-भूमि, (वीरभूम) शुभ्र-भूमि (सिंघभूम) नामक प्रदेशों में विभक्त था।

२३—आचा० २।२४।१०२४

२४—स्था० १०।३।७७७

२५—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा,मण्डित, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य, प्रभास।

२६—आचा० २।२४

२७—आचा० १।५।१।१४४

२८—भग० १।१

२९—आचा० १।५।५।१६४

३०—अग्निभूति—कर्म है या नहीं ?

वायुभूति—शरीर और जीव एक है या भिन्न ?

व्यक्त—पृथ्वी आदि भूत हैं या नहीं ?

सुधर्मा—यहाँ जो जैसा है वह परलोक में भी वैसा होता है या नहीं ?

मंडित-पुत्र—बन्ध-मोक्ष है या नहीं ?

मौर्य-पुत्र—देव है या नहीं ?

अकम्पित—नरक है या नहीं ?

अचल-भ्राता—पुण्य ही मात्रा भेद से सुख-दुख का कारण बनता है, या पाप उससे पृथक् है ?

मेतार्य—आत्मा होने पर भी परलोक है या नहीं ?

प्रभास—मोक्ष है या नहीं ?

(वि० भा० १५४६-२०२४)

३१—अ० वर्ष ६ अंक ६ पृ० ३७-३६

३२—भग० १२।१

३३—जिनकी वाचना समान हो उनका समूह गण कहलाता है। आठवें-नवें तथा दसवें-ग्यारहवें गणधरों की वाचना समान थी, इसलिए उनके गण दो भी माने जाते हैं। सम०

३४—स्था० वृ० ३।३।१७७

३५—व्यव० ३

३६—नं० ४६

३७—सम० ११४

३८—सम० ११५

३९—दृष्टिवाद के एक बहुत बड़े भाग की संज्ञा "चतुर्दश-पूर्व" है। उसके ज्ञाता को 'श्रुत-केवली कहते हैं।

४०—देखो जैन० द० इ० पृ० १८०-१९०

४१—समणस्सणं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवतण निण्हगा पन्नता-तंजहा बहुरता, जीवपएसिआ, अवत्तिया सामुच्छेइत्ता, दो किरिया, तेरासिया, अबद्धिया एएसि णं सत्तण्हं पवयणनिण्हगाणं सत्त धम्मायरिया हुत्था-तंजहा-जमालि तीसगुत्ते, आसाढ़े, आसमित्ते, गंगे, छलुए गोट्ठामाहिले,-एतेसि णं सत्तण्हं पवयण निण्हगाणं सत्तप्पत्ति नगरा हुत्था तंजहा-सावत्थी, उसभपुरं, सेतविता, मिहिला, मुल्लगातीरं, पुरिमंतरंजि, दसपुर निण्हग उप्पत्ति नगराइं—स्था० ७।५८७

४२—वि० भा० २५५०-२६०२

४३—कल्प० ६।२८

४४—कल्प० ६।६३

४५—जं पि वत्थं व पायं वा, कम्बलं पायपुञ्छणं।
तं पि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा॥
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥
सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण-परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं॥
—दश वै० ६।२०,२१,२२

४६—त० सू० ७।१२

४७—मण-परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजम-तिय केवलि-सिज्झणाय जंबुम्मि वुच्छिन्ना॥
—वि० भा० २५९३

४८—षट् प्रा० पृ० ६७

४९—जो वि दुवत्थ तिवत्थो, एगेण अचेलगो व संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं, सव्वे पि य ते जिणाणाए॥ १॥

जे खलु विसरिसकप्पा, संघयण धिइयादि कारणं पप्प।
णऽ वमन्नइ ण य हीणं, अप्पाणं मन्नई तेहिं ॥ २ ॥
सव्वे वि जिणाणाए, जहाविहिं कम्म खवणट्ठाए।
विहरंति उज्जया खलु, सम्मं अभिजाणइ एवं ॥ ३ ॥
—आचा० वृ० १।६।३

५०—६।६८०

५१—क० सु०

५२—देवड्ढि खमासमण जा, परंपरं भाव ओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा।
—आ० अ०

५३—सू० २।२,५४

५४—जीवाभिगम ३।२।१०-४

: तीन :

१—जहजीवा बज्झंति, मुच्चंति जह य संकिलिस्संति।
जह दुक्खाणं अंतं करंति कइ अपडिबद्धा—औप० धर्म० ४

२—नं० ४६

३—सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियन्त इति पूर्वाणि, उत्पादपूर्वाऽदीनि चतुर्दश।
—स्था० वृ० १०।१

४—जइविय भूयावाए सव्वस्स वयोगयस्स ओयारो।
निज्जहणा तहा वि दुम्मेहे पप्प इत्थी य —आव० नि० पृ० ४८, त्रि० भा० ५५१

५—नं० ५७, सम० १४ वां तथा १४७ वां

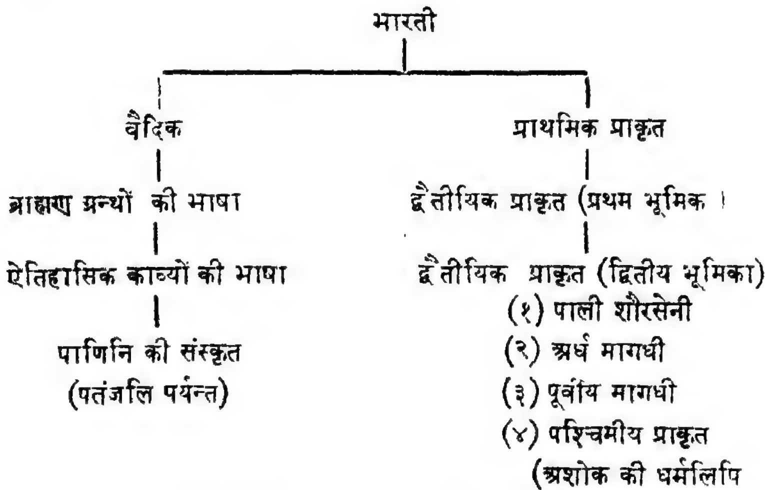
६—नं०

७—"भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ"—सम० पृ० ६०
"तए णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसारपुत्तस्स··· अद्धमागहाए भासाए भासइ···सावि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ···
—औप०

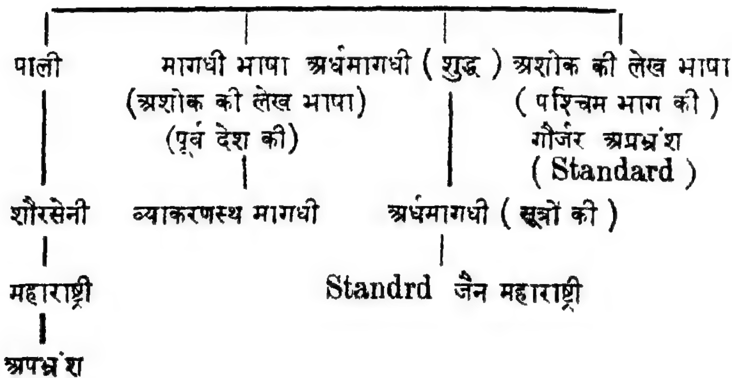
८—"देवा णं भंते ! कयराए भासाए भासंति ? कयरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ? गोयमा ! देवाणं अद्धमागहाए भासाए भासंति । सावि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति" ।
—भग० ५।४

९—"से किं तं भासारिया ? भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासंति" —प्रज्ञा० १।६२

१०—



द्वैतीयिक प्राकृत का विभागीकरण नीचे दिया गया है ।



११—"मगदद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागहं, अट्ठारसदेसीभासाणिमयं वा अद्धमागहं" (नि० चू०)

१२—हैम० ८।१।३

१३—सक्कता पागता चेव दुहा भणितीओ आहिया।
सरमंडलम्मि गिज्जंते पसत्था इसिभासिता॥"
(स्था० ७। ३९४)

१४— गणहरथेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणतो वा।
धुवचलविसेसतो वा अंगाणंगेसु णाणत्तं॥
—आव० नि० ४८, वि० भा० ५५०

१५—दशवै० भूमिका

१६—दशवै० भूमिका

१७—पा० स० म उपोद्घात पृ० ३०-३१

१८—परि० पर्व ८।१९३, ९।५५-५८

१९—भग० २०।८

२०—चतुष्कैकैकसूत्रार्था—ख्याने स्यात् कोपि नक्षमः।
ततोऽनुयोगाँश्चतुरः पार्थक्येन व्यधात् प्रभुः।
—आव० कथा १७४

२१—दशवै० नि० ३ टी०

२२—प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः॥ ४३॥
लोकालोकविभक्तेर्युगपरावृत्तेश्चतुर्गतीनांच।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगञ्च॥ ४४॥
गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति॥ ४५॥
जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते॥ ४६॥
—रत्न० श्रा० अधिकार १ पृ० ७१, ७२, ७३

२३—पहला पद,

२४—१३२,

२५—सम०, रा० प्र०, प्रश्न० ५ आस्रव

२६—जम्बू० वृ० २ वृत्त,

२७—लेख-सामग्री के लिए देखो भा० प्रा० लि० मा० पृ० १४२-१५९, पुर त्रै० (पु० १ पृ० ४१६-४३३ लिंवड़ी भंडार के सूचिपत्र के लेख)

२८—१ पद,

२९—१ पद,

३०—४-२,

३१—पत्र २५,

३२—१२ उ०

३३— ईसवी पूर्व चतुर्थ शतक

३४—भा० प्रा० लि० मा० प०,

३५—भा० प्रा० लि० मा० प० २,

३६—भा० प्रा० लि० मा० प० २

३७—कल्प १ अधि० ६।१४८,

३८—वायणंतरे पुण, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति

३९—(क) संवं सं अपडिलेहा, भारो अहिकरणमेव अविदिन्नं संकामण पलिमंथो, पमाए परिकम्मण लिहणा, १४७ वृ० नि० उ० ७३

(ख) पोत्थएसु घेप्पंतएसु असंजमो भवइ—दशवै० चू० पृ० २१

ननु—पूर्वं पुस्तकनिरपेक्षैव सिद्धान्तादिवाचना ऽभूत्, साम्प्रतं पुस्तक संग्रहः क्रियते साधुभिस्तत् कथं संपतिमञ्चति ? उच्यते—पुस्तक-ग्रहणं तु कारणिकं नत्वौत्सर्गिकम्। अन्यथा तु पुस्तकग्रहणे भूयांसो दोषाः प्रतिपादिताः सन्ति　　—विशे० श० ३६

४०—यावतो वारान् तत्पुस्तकं बध्नाति मुंचति वा अक्षराणि वा लिखति तावन्ति चतुर्लघूनि आज्ञादयश्च दोषाः।　　—बृ० नि० ३ उ०

४१—कोई मूढ़ मिथ्याती जीव इम कहे रे, साधु नै लिखणो कल्पै नाहीं रे।
पाना पिण साधु नै नहीं राखणां रे, इम कहै घणां लोकां रै मांहि रे॥

चवदे उपकरण सु अधिक नहीं राखणां रे, पाना राख्या तो उपगरण अधिका थाय रे।

उपगरण अधिका राखै तै साध निश्चय नहिं रे, एहवी ऊंधी परूपी लोकां माय रे ॥ —जि० उप० ३३

४२—झाणकोट्ठोवगए, सज्झाय सज्झाण रयस्स,—भग०, दशवै०

४३—जि० उप०

४४— १० संवर-द्वार

४५—तीस उपगरण साधु रै सूत्र थी कह्या, आर्या रै उपगरण अधिक च्यार।

इग्यारै उपगरण स्थविर नै कह्या, सूत्र सूं जोय कियों छै न्यार रै ॥

जि० उप० ३१

४६—जि० उप० २२

४७—जि० उप० ३५-३८, दशा० ४, प्रश्न० द्वार ७, निशीथ० उ० १०, नं०।

४८—जि० उप० ३६-४१

४९—(क) मति सम्पदा आचार्य-सम्पदा —दशा० ४ अ०

(ख) कर्म-सत्य, लेखादि सत्य —प्रश्न० सत्य-संवर द्वार

(ग) निशी० गाथा-३

(घ) श्रुतज्ञान का विषय सब द्रव्यों को जानना और देखना—नं०

५०—कालं पुण पडुच्च चरणकरणट्ठा अवोच्छित्ति निमित्तं च गेण्हमाणस्स पोत्थए संजमो भवइ —दशवै० चूर्णि पृ० २१

५१—श्रुत पुरुषस्य अंगेषु प्रविष्टम्—अंग-प्रविष्टम —नं० वृ०

५२—जम्बू० वृ० वक्ष १

५३—त० भा० टी० पृ० २३

५४—"श्री देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमणेन श्रीवीराद् अशीत्यधिकनवशत (९८०) वर्षे जातेन द्वादशवर्षीयदुर्भिक्षवशाद् बहुतरसाधुव्यापत्तौ बहुश्रुतविच्छित्तौ च जाताया···भव्यलोकोपकाराय श्रुतभक्तये च श्रीसंघाग्रहात् मृतावशिष्ट-तदाकालीनसर्वसाधून् वलभ्यामाकार्य तन्मुखाद् विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटिताऽत्रुटितान् आगमालापकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढ़ाः कृताः। ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि

तत्संकलनान्तरं सर्वेषामपि आगमानां कर्ता श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण एव जातः।" —स० श०

५५—पा० भा० सा० पृ० ६१

५६—पा० भा० सा० पृ० ६५

५७—पा० भा० सा०

५८—अनु०

५९—हेम० २।२।३८

६०—अन्य० व्यव० ३

६१—हेम० २।२।३६

६२—तृ० द्वा० ८

६३—एक० द्वा० १५

६४—रत्न० आ० प्रस्तावना पृ० १५७

६५—युक्त्य० ६१

६६—अध्या० उप० ४।२

६७—प्रमा० वृ० २०५, षट्० (लघु०) षट्० (बृहद्)

६८—लघ्व० २०

६९—श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद्, वीतराग-स्तवादितः।
कुमारपालभूपालः, प्राप्नोतु फलमीप्सितम्— —वीत० २०।६

७०—वीत० २०।८

७१—वीत० १।५

७२—भर० महा०

७३—भर० महा० पुर्ग १७

७४—पद्० महा० ११।६७

७५—पद्० महा० १७।१३३

७६—शा० सु० १३।५,६

७७—क० क० च०

७८—सा० सं० भाग १६ अंक १-२ (भाषा विज्ञान विशेषांक) पृ० ७६।८०

७९—न० बा० ढाल ६वीं दोहा २,३

८०—न० बा० ढाल ६ गाथा ६—१३, ३७, ३८

८१—आचारांग : प्रथम श्रुतस्कंध, भगवती, ज्ञाता, विपाक, प्रज्ञापना, निशीथ, उत्तराध्ययन (२२ अध्ययन) अनुयोग द्वार।

८२—इन्होंने नव-अंग—स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती, ज्ञाता, उपासक दशा, अन्तकृत् दशा, अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्न व्याकरण और विपाक—पर टीकाएं लिखीं।

८३—इन्होंने आचारांग और सूत्रकृताङ्ग पर टीकाएं लिखीं। ये वि० १० वीं शताब्दी में हुए।

८४—इन्होंने उत्तराध्ययन पर टीका लिखी। इनका समय वि० १० वीं शती है।

८५—इन्होंने दश वैकालिक पर टीका लिखी। इनका समय वि० १० वीं शती है।

८६—ये अनुयोग द्वार के टीकाकार हैं। इनका समय वि० १२ वां शतक है।

८७—इन्होंने राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, सूर्यप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पर टीकाएं लिखीं। इनका समय वि० १२ वीं शताब्दी है।

८८—निर्युक्तियां भद्रबाहु द्वितीय की रचना हैं। इनका समय वि० ५ वीं या छठी शताब्दी है।

८९—संघदास गणी और जिनभद्र के भाष्य सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनका समय वि० ७ वीं शताब्दी है।

९०—चूर्णिकारों में जिनदास महत्तर प्रसिद्ध हैं। इनका समय वि० ७ वीं ८ वीं शताब्दी है।

९१—इनका समय वि० १८ वीं शताब्दी है।

९२—बालावबोध।

९३—कालु० यशो० २।५।४-८

९४—कालु० यशो० १।५।१,६,८, १०

९५—कालु० यशो० १।५।१३-१४

९६—आचार्य श्री तुलसी (जीवन पर एकदृष्टि) पृ० ८९,९०,९१,९२,९३,९४

: चार :

१—सम० ६,१६,७०

२—वि०, (दिसम्बर) १६५२ चीनी भारतीय संस्कृति में अहिंसा-तत्त्व अंक—६

३—सू० १।७।१३

४—सू० १।७।१४

५—सू० १।७।१८

६—सू० १।७।१६

७—उत्त० १२।३७

८—सू० १।१३।११

६—उत्त० ६।१०

१०—उत्त० ६।८।१०

११—उत्त० २०।४४

१२—आचा० १।४।२।६

१३—उत्त० २३, भग० १।६, सू० २।७, भग० ६।३२,

१४—भग० २।१

१५—भग० ११।१२

१६—भग० ११।६

१७—भग० ७।१०, १८।८

१८—भग० १८।१०

१६—भग० २।५

२०—भग० १२।१

२१—भग० १८।३

२२—भग० २।१

२३—उत्त० २०।५६,५८, श्रे० शा०

२४—उत्त० वृ०

२५—अन्त०

२६—ज्ञाता १, अनु० दशा० वर्ग १

२७—निर० दशा० १०, स्था० ६।६६६, सम० १५२ समवाय, भग०
२८—भग०
२९—जैन० भा० वर्ष २ अंक १
३०—जैन० भा० वर्ष २ अंक १ पृ० ४५, ४६, ४७, ४८,
३१—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४२ पृ० ६८६
३२—वि०, (इलाहाबाद) अहिंसक परम्परा
३३—मू० समाचार, २१ मार्च, १६३७
३४—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४१ पृ० ६६७
३५—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४२ पृ० ६६०
३६—Our Oriental Heritage, page 467, 471
३७—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४२ पृ० ६६० प्रवक्ता श्री आदित्यनाथ झा, उपकुलपति, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय।

३८—बेइंदियाणं जीवा असमारम्भमाणस्स चउविहे संजमे कज्जइ, तंजहा-जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, जिब्भामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ, फासामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामयाओ दुक्खाओ असंयोगेत्ता भवइ। —स्था० ४-४

३९—दसविहे संजमे पन्नते तंजहा-पुढविकायसंजमे, अप्प-तेउ-वाउ-वणस्सइ-बेइंदियसंजमे तेइंदियचउरिंदिमसंजमे पंचेदियसंजमे-अजीवकायसंजमे।

—स्था० १०

४०—दसविहे संवरे पन्नते तं जहा—सोइंदियसंवरे जावफासिंदियसंवरे, मण-वइ-काय-उवगरणसंवरे, सूईकुसग्गसंवरे। —स्था० १०

४१—दसविहे आसंसप्पओगे पन्नते तं जहा—इह लोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, दुहओलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामासंसप्पओगे भोगासंसप्पओगे, लाभासंसप्पओगे, पूयासंसप्पओगे, सक्कारासंसप्पओगे। —स्था० १०

४२—दो ठाणाइ अपरियाणित्ता आया णो केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणाए तंजहा—आरम्भे चेव परिग्गहे चेव। —स्था० २।१

४३—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, न

अज्जावेयव्वा न परिघेतव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे नितिए सासए। —आचा० २

४४—Indian Thought and its Development
(Page 79-84)

४५—सूग० २।१।१।१८।१२४

४६—कयाणमहं अप्पं वा बहुयं वा परिग्गहं परिचइस्सामि। —स्था० ३

४७—कयाणमहं मुण्डे भवित्ता आगाराओ अणगारिअं पव्वइस्सामि।
—स्था० ३

४८—कयाणमहं अपच्छिममारणांतियसंलेहणाझूसणाझुसिए, भतपाणं पडियाइक्खओ पाओओए कालमणवकंखमाणे विहरिस्सामि।
—स्था० ३

४९—तित्थं पुण···समणा समणीओ सावया सावियाओ य।
— भग० २०।८

५०—उत्त० १२

५१—गामे वा अदुवा रण्णे, नेव गामे नेव रण्णे धम्ममायाणह।
— आचा० ८।१।१९७

५२—भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं। — उत्त० ५।२२

५३—जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥ — आचा० २।६।१०२

५४—नं०

५५—जम्बू प्र०, वृत्त २

५६—बावत्तरि कलाकुसला, पंडिय पुरिसा अपंडिया चेव।
सव्व कलाणं पवरं, धम्मकलं जे न याणंति॥

५७—भा० मू० पृ० ५६

: पाँच :

१—यानि च तीणि यानि च सट्ठि —सु० नि० (सभिय सुत्त)

२—उ० वृ० १।१२

३—चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति।
किरियं अकिरियं विणियंति तइयं, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव॥
—सू० १।१२।१

४—दी० २

५—इन छह संघों में एक संघ का आचार्य पूरण कश्यप था। उसका कहना था कि "किसी ने कुछ किया या करवाया, काटा या कटवाया, तकलीफ दी या दिलवाई, शोक किया या करवाया, कष्ट सहा या दिया, डरा या दूसरे को डराया, प्राणी की हत्या की, चोरी की, डकैती की, घर लूट लिया, बटमारी की, परस्त्रीगमन किया, असत्य वचन कहा, फिर भी उसको पाप नहीं लगता। तीक्ष्ण धार के चक्र से भी अगर कोई इस संसार के सब प्राणियों को मारकर ढेर लगा दे तो भी उसे पाप न लगेगा।···गंगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाए, यज्ञ करे या करवाए, तो कुछ भी पुण्य नहीं होने का। दान, धर्म, संयम सत्य-भाषण, इन सबों से पुण्य-प्राप्ति नहीं होती।" इस पूरण कश्यप के वाद को अक्रियवाद कहते थे।

दूसरे संघ का आचार्य मक्खलि गोसाल था। उसका कहना था कि "प्राणी के अपवित्र होने में न कुछ हेतु है न कुछ कारण। बिना हेतु के और बिना कारण के ही प्राणी अपवित्र होते हैं। प्राणी की शुद्धि के लिए भी कोई हेतु नहीं है, कुछ भी कारण नहीं है। बिना हेतु के और बिना कारण के ही प्राणी शुद्ध होते हैं। खुद अपनी या दूसरे की शक्ति से कुछ नहीं होता। बल, वीर्य, पुरुषार्थ या पराक्रम, यह सब कुछ नहीं है। सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य हैं—वे नियति (भाग्य) संगति और स्वभाव के द्वारा परिणत होते हैं—अक्लमन्द और मूर्ख सबों के दुःखों का नाश ८० लाख के महाकल्पों के फेर में होकर जाने के बाद ही होता है।" इस मक्खलि गोसाल के मत को संसार-शुद्धि-वाद कहते थे। इसी को नियतिवाद भी कह सकते हैं।

तीसरे संघ का प्रमुख अजित केस कंबली था। उसका कहना था कि "दान, यज्ञ तथा होम, यह सब कुछ नहीं है, भले-बुरे कर्मों का फल नहीं मिलता, न इहलोक है न परलोक—चार भूतों से मिलकर मनुष्य बना है। जब

वह मरता है तो उसमें का पृथ्वी, धातु पृथ्वी में, आपो धातु पानी में, तेजो धातु तेज में तथा वायु धातु वायु में मिल जाता है और इन्द्रियां सब आकाश में मिल जाती हैं। मरे हुए मनुष्य को चार आदमी अरथी पर सुलाकर उसका गुणगान करते हुए ले जाते हैं। वहाँ उसकी अस्थि सफेद हो जाती है और आहुति जल जाती है। दान का पागलपन मूर्खों ने उत्पन्न किया है। जो आस्तिकवाद कहते हैं, वे झूठ भाषण करते हैं। व्यर्थ की बड़बड़ करते हैं। अक्लमन्द और मूर्ख दोनों ही का मृत्यु के बाद उच्छेद हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशेष नहीं रहता।" केस कंवली के इस मत को उच्छेदवाद कहते हैं। —भा० सं० अ० पृ० ४५-४६

६—१।१२।४-८,

७—णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चंदिमा बड्ढति हायती वा।
सलिला ण संदंति ण वंति वाया, वंझो णियतो कसिणे हु लोए॥

—सू० १।१२।७

८—चौथे संघ का आचार्य पकुधकात्यायन था। उसका कहना था कि "सातो पदार्थ न किसी न किये न करवाए। वे वंध्य, कूटस्थ तथा खंबे के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं, बदलते नहीं, आपस में कष्टदायक नहीं होते। और एक दूसरे को सुख-दुःख देने में असमर्थ हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सुख-दुःख तथा जीव—ये ही सात पदार्थ हैं। इनमें मारनेवाला, मार-खानेवाला, सुननेवाला कहनेवाला, जाननेवाला, जनानेवाला कोई नहीं। जो तेज शस्त्रों से दूसरे के सिर काटता है वह खून नहीं करता सिर्फ उसका शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश (रिक्तस्थान) में घुमता है, इतना ही।" इस मत को अन्योन्यवाद कहते हैं। —भा० सं० अ० पृ० ४६-४७

वन्ध्य और कुटस्थ शब्द अधिक ध्यान देने योग्य हैं। "वञ्झा कूटठा" —दी० २

९—अण्णाणिया ता कुसला वि संता, असंथुया णो वितिगिच्छतिन्ना।
अकोविया आहु अकोवियेहिं, अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति॥

—सू० १।१२।२

१०—छठें बड़े संघ का आचार्य संजय बेलट्ठ पुत्र था। वह कहता था—

"परलोक है या नहीं, यह मैं नहीं समझता। परलोक है यह भी नहीं, परलोक नहीं है, यह भी नहीं।...अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिलता है, यह भी मैं नहीं मानता, नहीं मिलता, यह भी मैं नहीं मानता वह रहता भी है, नहीं भी रहता। तथागत मृत्यु के बाद रहता है या रहता नहीं, यह मैं नहीं समझता। वह रहता है यह भी नहीं, वह नहीं रहता, यह भी नहीं।" इस संजय बेलट्ठ पुत्र के वाद को विक्षेपवाद कहते थे। —भा० सं० अ० पृ० ४६

११—किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्व वायं इति वेयइत्ता, उवट्ठिए संजम दीहरायं॥

—सू० १।६।२७

१२—से बेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एव—माइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति—सव्वे पाणा जाव सत्ता पा हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे धुवे णीइए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहि पवेदूए। —सू० २।१।१६

१३—सू० १।१।१।७-८

१४—सू० १।१।१।६-१०

१५—सू० १।१।१।११-१२

१६—सू० १।१।१।१३-१४

१७—सू० १।१।१।१५-१६

१८—सू० १।१।१।२-४

१९—सू० १।१।३।५

२०—भग० २५।७।८०२, स्था० ७।३।५८५, औप० (तवोधिकार)

२१—उत्त० २६।२-७

२२—दशा० (चतुर्थी दशा,)

२३—धर्म सं० २ श्लोक २२ टीका पृ० ४६, प्र० सा० १४८ गाथा ६४१

२४—दशा० (चतुर्थी दशा)

२५—दशवै० चूर्णि २।१२

२६—उत्त० २६।४८-५२

२७—उत्त० २६।८-१०

२८—उत्त० २६।१२

२९—उत्त० २६।१८

३०—उत्त० २६।४०-४३

३१—उत्त० २६।२२-२३

३२—उत्त० २६।३८

३३—स्था० ४

३४—उत्त० ५।२३

३५—धर्म० प्रक० ३३

३६—भग० १२

३७—नव भारत टाईम्स १९५९, 'भारत का राष्ट्रीय पर्व दीपावली'

लेखक—बच्चन श्रीवास्तव।

द्वितीय खण्ड

: छह :

१—जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। —आचा० ५।५।१६६

२—भग० २५।४

३—उत्त० २८।६

४—उत्त० २८।११

५—प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैः, अचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञान दर्शनतस्तस्मात्, चेतनाचेतनात्मकः॥ —स्व० सं० ३

६—ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोयमात्मेति कीर्तितः॥ —स्व०सं ४

७—णाणे पुण णियमं आया —भग० १२।१०

८—जेण वियाणइ से आया —आचा० ५।५।१६६

९—जैन० दी० २।२३,

१०—जैन० दी० २।६,

११—जैन १० दी० २।२३

१२—पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूपं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गधं, रसं च फासं, बद्ध-पुट्ठं वियागरे॥ —नं० ३७ गाथा० ७८,

१३—नं० ३७ गाथा० ७८,

१४—विषयानुरूपभवनाच्च, बुद्धि-वृत्तेरनुभवत्वम्॥

१५—सन्ध्येव दिन-रात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक्।
बुद्धेरनुभवो दृष्टः केवलार्कारुणोदयः॥
—ज्ञा० सा० अष्टक २६ श्लोक १

१६—प्रज्ञा० ३५

१७—भग० ८।२

१८—भग० ८।२

१९—जैन० दी० २।७

०

२०—जैन० दी० २।१४

२१—जैन० दी० २।१६

२२—मननं मन्यते अनेन वा मनः ।

२३—आता भंते ! मणे अन्ने मणे ? गोयमा ! णो आतामणे, अन्नेमणे···मणे मणिज्जमाणे मणे·········। —भग० १३।७।४६४ ।

२४—मणं च मणजीविया वयंति त्ति···। —प्रश्न० (आस्रवद्वार) २

२५—सर्व-विषयमन्तः करणं युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गं मनः, तदपि द्रव्य-मनः पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतम्, भाव-मनस्तु आत्मगुणत्वात् जीवग्रहणेनेति···। —सू० वृ० १।१२

२६—कालिओवएसेणं जस्सणं अत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा सेणं सण्णी त्ति लब्भई । —नं० ३६

२७—मनः सर्वेन्द्रिय प्रवर्तकम्, आन्तरेन्द्रियम्, स्व संयोगेन बाह्येन्द्रियानुग्राहकम् । अतएव सर्वोपलब्धि कारणम्···। —जैनतर्क ।

२८—इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि, समनस्केन गृह्यते ।
कल्प्यते मनसा प्यूर्ध्वं, गुणतो दोषतो यथा ॥ —च० सू० १।२०

२९—न्याय० सू० १।१।१६ ।

३०—वा० भा० १।१।१६ ।

३१—सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः —तर्क स०

३२—संशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहासुखादिक्षमेच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि···।
—सन्म० (काण्ड २)

३३—चिन्त्यं विचार्यमुह्यं च, ध्येयं संकल्प्यमेव च ।
यत् किंचिद् मनसो ज्ञेयं, तत्सर्वं ह्यर्थ संज्ञकम् ॥ —च० सू० १।१८

३४—अवग्रह-ज्ञानमनक्षरं तस्याऽनिर्देश्य सामान्यमात्र प्रतिभाषात्मकतया निर्विकल्पकत्वात्, ईहादि ज्ञानं तु साक्षरं तस्य परामर्शादिरूपतयाऽवश्यं वर्णारुषितत्वात् । वि० भा० वृ०

३५—(क) वि० भा० वृ० २४२६-२४४८

(ख) येनैवेन्द्रियेण सह मनः संयुज्यते तदेवात्मीय विषय गुणग्रहणाय प्रवर्तते नेतरत्) —आचा० वृ० १।२।१।६३

३६—(क) एगे णाणे···लब्धितो बहूनां बोधविशेषाणामेकदा सम्भवेऽपि उपयोगत एक एव सम्भवति एकोपयोगत्वाद् जीवानामिति······
—स्था० वृ० १

(ख) एगे जीवाणं मणे······मननलक्षणत्वेन सर्वमनस्सा मेकत्वात्···।
—स्था० वृ० १

(ग) एगे मणे देवासुर मणुआणं तंसि तंसि समयंसि···।—स्था० १

तुलना :—ज्ञानाऽयौगपद्यात् एकं मनः···। —न्याय सू० ३।२।५६

३७—तुलना—स्पर्शन इन्द्रिय को सर्वेन्द्रिय व्यापक और मन के साथ समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध माना है। मन अणु होने पर भी स्पर्शन इन्द्रिय-सम्बद्ध होने के कारण सब इन्द्रियों में व्यापक रहता है। —च० सू० ११।३६

३८—योग० ५।२

३९—सव्वेणं सव्वे निज्जिण्णा··· —भग० १।३

४०—अयौगपद्यात् ज्ञानानां, तस्याणुत्वमिहोच्यते···। —भा० प०।

४१—चेतना मानसं कर्म··· —अभि० को० ४।१

४२—यत् प्रायः श्रुताभ्यासमन्तरेणाऽपि सहज विशिष्ट क्षयोपशमवशादुत्पद्यते तदश्रुतनिश्रितमौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयम्···यत्तु पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमतेर्व्यवहारकाले पुनरश्रुतानुसारितया समुत्पद्यते तत् श्रुतनिश्रितम्···कर्म वि०
(देवेन्द्रसूरि कृत स्वोपज्ञ वृत्ति गा० ४)

४३—(क) शब्दः वक्त्राभिधीयमानः श्रोतृगतस्य श्रुतज्ञानस्य कारणं निमित्तं भवति, श्रुतञ्च वक्तृगत श्रुतोपयोगरूपं व्याख्यानकारणादौ तस्य वक्त्राभिधीयमानस्य शब्दस्य कारणं जायते, इत्यतः तस्मिन् श्रुतज्ञानस्य कारणभूते कार्यभूते वा शब्दे श्रुतोपचारः क्रियते। ततो न परमार्थतः शब्दः श्रुतं, किन्तूपचारतः। —वि० भा० वृ० ६६

(ख) "तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिर्भविष्यमाण स्तस्य भगवतः वाग्योग एव भवति न तु श्रुतम्, नामकर्मोदय जन्यत्वात् श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्"—अयञ्च भवतु नामकर्मोदयजन्यः भाष्यमाणस्तु पुद्गलात्मकः शब्दः किं भवतु? इति चेत्? उच्यते सोऽपि श्रोतृणां भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुतमात्रं भवति न तु भावश्रुतम्। —नं०

४४—शब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियादि-निमित्तं यज्ज्ञानमुदेति तच्छ्रुतज्ञानमिति। तच्च कथं भूतम् ? इत्याह—'निजकार्योक्तिसमर्थमिति' निजकः स्वस्मिन् प्रतिभासमानो योऽसौ घटादि रर्थः तस्योक्तिः परस्मै प्रतिपादनं तत्र समर्थं क्षमं निजकार्थोक्तिसमर्थम्। अयमिह भावार्थः—शब्दोल्लेखसहितं विज्ञानमुत्पन्नं स्वप्रतिभासमानार्थ-प्रतिपादकं शब्दं जनयति, तेन च परः प्रत्यायते, इत्येव निजकार्थोक्तिसमर्थमिदं भवति, अभिलाप्य वस्तुविषयमिति यावत्। स्वरूप विशेषणं चैतत्, शब्दानुसारेणोत्पन्न-ज्ञानस्य निजकार्थोक्ति-सामर्थ्याऽव्यभिचारादिति···। —वि० भा० वृ० १००

४५—द्रव्यश्रुतमनक्षरम्-पुस्तकादिन्यस्ताक्षररूपं शब्दरूपं च, तदेव साक्षरं भावश्रुतमपि श्रुतानुसार्थाकारादि वर्णविज्ञानात्मकत्वात् साक्षरम्, पुस्तकादिन्यस्ताकाराद्यक्षररहितत्वात् शब्दाभावाच्च तदेवानक्षरम्, पुस्तकादिन्यस्ताक्षरस्य शब्दस्य च श्रुतान्तःपातित्वेन भावाश्रुते ऽसत्त्वात्; तदेवं मतेर्भावश्रुतस्य च साक्षरानक्षरकृतो नास्ति विशेषः।

—वि० भा० वृ० १७०

४६—(क) तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइ ठवणिज्जाइ। —अनु० २

(ख) अवग्रहापेक्षयाऽनभिलापत्वाद्, ईहाद्यपेक्षया तु साभिलापत्वात् साभिलापानभिलापं मतिज्ञानम्, अश्रुतानुसारि च, संकेतकाल-प्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा शब्दस्य व्यवहारकाले अननुसरणात्। श्रुतज्ञानं तु साभिलापमेव, श्रुतानुसार्येव च, संकेतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य व्यवहारकालेऽवश्य-मनुसरणादिति। —वि० भा० वृ० १००

४७—नं० २३

४८—श्रुतं द्विविधम्—परोपदेशः आगमग्रन्थश्च। व्यवहारकालात् पूर्वं तेन श्रुतेन कृत उपकारः संस्कारााऽऽधानरूपो यस्य तत् कृतश्रुतोपकारम्, यज् ज्ञानमिदानीं तु व्यवहारकाले तस्य पूर्वप्रवृत्तस्य संस्काराधायक श्रुतस्याऽनपेक्षमेव प्रवर्तते तत् श्रुतनिश्रितमुच्यते······।

—वि० भा० वृ० १६८

४६—नं० १६

५०—भिक्षु० न्या० २-५

५१—नं० १७

५२—पहले चार ज्ञान आवरण के अपूर्ण क्षय से प्रगट होते हैं, इसलिए वे क्षायोपशमिक या छद्मस्थज्ञान कहलाते हैं।

५३—केवल ज्ञान आवरण के पूर्ण क्षय से प्रगट होता है, इसलिए वह क्षायिक या केवल ज्ञान कहलाता है।

५४—तेन द्रव्यमनसा प्रकाशितान् बाह्यांश्चिन्तनीयघटादीननुमानेन जानाति, यत एव तत्परिणतानि एतानि मनोद्रव्याणि तस्मादेवं विधेनेह चिन्तनीयवस्तुना भाव्यम्—इत्येवं चिन्तनीयवस्तूनि जानाति न साक्षादित्यर्थः। चिन्तको हि मूर्तममूर्तञ्च वस्तु चिन्तयेत्। न च छद्मस्थोऽमूर्तं साक्षात् पश्यति। ततो ज्ञायते अनुमानादेव चिन्तनीयं वस्त्ववगच्छति···। —वि० भा० वृ० ८१४

५५—केवल मेगं सुद्धं, सगलमसाहारणं अणंतं च —वि० भा० ८४

केवलमिति कोर्थः? इत्याह—एकमसहायम्, इन्द्रियादिसाहाय्यानपेक्षित्वात्, तद्भावेऽशेषछाद्मस्थिकज्ञाननिवृत्तेर्वा

—वि० भा० वृ० ८४

५६—भग० ६।१०

५७—शुद्धम्-निर्मलम्—सकलावरणमलकलंकविगमसम्भूतत्वात्

—वि० भा० वृ० ८४

५८—सकलम्-परिपूर्णम्—सम्पूर्णज्ञेयग्राहित्वात् —वि० भा० वृ० ८४

५९—असाधारणम्—अनन्य-सदृशम् तादृशापरज्ञानाभावात्।

—वि० भा० वृ० ८४

६०—अनन्तम्—अप्रतिपातित्वेन विद्यमानपर्यन्तत्वात्

—वि० भा० वृ० ८४

६१—दशवै० ४।२२

६२—अभि० चिं० १।३१

६३—तश्रो केवली पण्णत्ता तंजहा—ओहिनाणकेवली,
केवल मणपज्जवनाणकेवली, केवलनाणकेवली। —स्था० ३।४

६४—प्र० नं० ४।४७।

६५—(क) मनोऽणुपरिमाणं न भवति, इन्द्रियत्वात्—नयनवत्। न च शरीर-व्यापित्वे युगपज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः तादृश-क्षयोपशम विशेषेणैव तस्य कृतोत्तरत्वात्। —प्र० नं० र० १।२

(ख) 'मनोणुवाद' की जानकारी के लिए देखिए।
—न्या० सि० मु० का०
—न्या० ४।११।

६६—नं० सू० ४४

६७—णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—
देसणाणावरणिज्जे चेव सव्व णाणावरणिज्जे चेव —स्था० २।४

६८—प्र० सा० १।२७-३०

६९—भग० १८।८

७०—त० भा० १।३१

७१—सच कालतः छद्मस्थानामन्तर्मुहुर्तकालं केवलिनामेकसामयिकः
—प्रज्ञा० वृ० २८

७२—सन्म० टी० पृ० ६०८

७३—सर्वा० सि० १।९, श्रा० १०१

७४—ज्ञा० बिं०

७५—नं० १६, १८, २१, ३७, ६०

७६—नं० १६

७७—नं० ६०

७८—स्था० ५।२

७९—भग० ८।२

८०—अनन्तमलोकाकाशं केवलिना परिच्छिन्नं चेत्तदा उपलब्धावसानत्वा दनन्तत्वहानिः। अथाऽपरिच्छिन्नं तदा तत्स्वरूपपरिच्छेद-विरहेण सर्वज्ञत्वा भावः नैव दोषः। केवलिनां यज्ज्ञानं तदतिशयवत् क्षायिकमनन्तानन्त परिमाणं च, तेन तदनन्तमिति साक्षादवसीयते ततो नानन्तत्वस्य हानि न

वा सर्वज्ञतायाः। नह्यन्यथा स्थितमर्थमन्यथा वेत्ति सर्वज्ञो यथार्थज्ञत्वात् इति न तेन सान्तमनन्तत्वेन परिच्छिन्नं किन्तु अनन्तमनन्तत्वेन।
— न्या० पृ० २२१

८१—भग० ५।४।१४२

८२—निय० १५८

८३—निय० १५८

: सात :

१—उत्त० २८।१०।११

२—दशवै० ४।३

३—दशवै० ४।३

४—इह हि सकलघनपटल विनिर्मुक्तशारददिनमणिरिव समन्ततः समस्त वस्तु स्तोमप्रकाशनैकस्वभावो जीवः, तस्य च तथाभूतस्वभावः केवलज्ञानमिति व्यपदिश्यते। —न० वृ० १

५—णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पएणत्ते-तंजहा—देसणाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव। —स्था० २।४

६—भग० ७।८

७—जैन० दी० ४।१

८—भग० ६।३२, प्रज्ञा० २३

९—गतिं पप्प, ठिइं पप्प, भवं पप्प, पोग्गल परिणामं पप्प। —प्रज्ञा० पद २३

१०—बाह्यान्यपि द्रव्याणि, कर्मणामुदयक्षयोपशमादिहेतव उपलभ्यन्ते, यथा ब्राह्मौषधिर्ज्ञानावरण क्षयोपशमस्य, सुरापानं ज्ञानावरणोदयस्य, कथमन्यथा युक्तायुक्तविवेक-विकलतोपजायते।··· [प्रज्ञा० पद० १७]

११—प्रज्ञा० पद० १३

१२—अणुत्तर कसिणं पडिपुण्णं निरावरणं वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्पभावगं केवल वरनाणदंसणं संमुप्पा इइ। —उत्त० २६।७१

१३—मणपज्जवणाणं पुण जणमण परिचिंतियत्थपागडणं। —नं० गाथा० ५८

१४—मनो द्रव्य स्थितानेव जानाति, न पुनश्चिन्तनीय बाह्यघटादि वस्तुगतानिति। —वि० भा० वृ० गाथा ८१४

१५—दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणं ते ! तेणावभासिए उण जाणइ वज्झेणुमाणेणं। —वि० भा० गाथा० ८१४

१६—यथा प्राकृतोलोकः स्फुटमाकारैर्मानिसं भावं जानाति, तथा मनः पर्यवज्ञान्यपि मनोद्रव्यगतानाकारानवलोक्य तं तं मानसं भावं जानाति।

—वि० भा० वृ० १।३६

१७—सरूवी चेव अरूवी चेव—स्था० २।१।५७

१८—उत्त० ३६।४,६६

१९—नं० २१

२०—त० वृ० १।६ पृ० ७०

२१—तन्दु० वै०

२२—पुढवी काइयाणं ओरालिए जाव वणस्सइकाइयाणं···बे इन्दियाणं··· अट्ठिमंस सोणिय बद्धे बाहिरए ओरालिए जाव चउरिन्दियाणं······ पंचिंदिय तिरिक्ख जोणियाणं अट्ठिमंस सोणियन्हायु सिराबद्धे बाहिरए ओरालिए—मणुस्साणं वि एव मेव·······—स्था० २।१

२३—मनस्त्वपरिणतानिष्ट—पुद्गल-निचयरूपं द्रव्यमनः अनिष्टचिंता-प्रवर्तनेन जीवस्य देहदौर्बल्याद्यापत्त्या ह्यन्निरुद्ध वायुवद् उपघातं जनयति, तदेवच शुभ-पुद्गलपिंडरूपं तस्यानुकूलचिन्ताजनकत्वेन हर्षाद्यभिनिवृत्त्या भेषजवदनुग्रहं विधत्ते इति······ —वि० भा० वृ० गाथा २२०

२४—संकेतकाल प्रवृत्तं, श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनं वा घटादि शब्दमनुसृत्य वाच्य-वाचक भावेन संयोज्य 'घटोघटः' इत्याद्यन्तर्जल्पाकार मतः शब्दोल्लेखान्वित-मिन्द्रियादि निमित्तं यज्ज्ञानमुदेति तच्छ्रुत ज्ञानमिति

—वि० भा० वृ० गाथा १००

२५—नं० ३,४,५

२६—जैन० दी० २-२४

२७—,, ,, २-२६

२८—,, ,, २-३०

२९—श्रुतमनिन्द्रियस्य···[त० सू० २।२२···]

३०—जस्स णं नत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा सेणं असण्णिाति लब्भई —नं० ४१

३१—जस्स णं अत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा से णं सण्णीति लब्भई—नं० ४०

३२—वृ० भा० ११।

३३—न्याय सू० १-१२

३४—मा० का० २७

३५—श्रुतं पुनः श्रुतज्ञानममधिगम्यं वस्तूच्यते, विषये विषयिण उपचारात्…
—तत्वा० श्लो० २।११ पृ० ३२८

३६—तत्त्वा० श्लो० २-२१ पृ० ३२८

३७—मणिज्जमाणे मणे… …—भग० १३।७

३८—सव्वजीवाणंपिय णं अक्खरस्स अणंत भागो निच्चुग्घाडियो जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पावेज्जा… —नं० ४३

३९—सुट्ठवि मेहसमुदए, होइ पभाचंदसूराणं……—नं० ४३

४०—सव्वजहण्णं चित्तं एगिन्दियाणं —दशवै० चूर्णि नं०

४१—स्त्यानर्ध्युदयादव्यक्तचेतनानाम्……—आचा० वृ० १।१।२।१७

४२—जैन० दी० —३-४

४३—अणंता आभिणि बोहियं पज्जवा। —भग० ८।२
(देखिए वृत्ति और प्रज्ञा० पद-५)

४४—स्या० मं० पृ० १४८

४५—इनका क्रम—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा है।

४६—त० सू० वृ० २।८ पृ० १५१

४७—प्रज्ञा० प० १८

४८—(क) दिशामूढ़ अवलोय रे, पूरब ने जाणै पश्चिम।
उदय भाव ए जोय रे, पिण क्षयोपशम भाव नहिं॥
है चक्षु में रोग रे, बे चन्दा देखै प्रमुख।
ते छै रोग प्रयोग रे, तिम विपरीतज जाण वो॥
चक्षु रोग मिट जाय रे, तहा पछै देखैं तिको।

ए बेहुं जुदा कहाय रे, रोग अने बलि नेत्र ने ॥
उदयभाव छै रोग रे, चक्षु क्षयोपशम भाव छै।
ए बेहुँ जुदा प्रयोग रे, तिण विध ए पिण जाण वो ॥
—[भग० जोड़ ३।६।६८।५१ से ५४ तक]

(ख) चेतनास्वरूपत्वेऽनवरतं जानानेनैन भवितव्यं जीवेन, कुतो वा पूर्वोपलब्धार्थविषयविस्मरणम् ?

ज्ञानस्योपलब्धिरूपत्वेन व्यक्ततेत्यात्मनापि व्यक्तबोधेन भवितव्यं, नाव्यक्तबोधेन।

निश्चयकत्वेन ज्ञानस्य न कदाचित् संशयोद्भवः स्यात्। ज्ञानस्य च निरवधित्वेनाशेषविषयग्रहणमापद्येत इति चेत् ? नैवं, कर्मवशवर्तित्वेनात्मन स्तज्ज्ञानस्य च विचित्रत्वात्। तथाहि कर्म निगड-नियन्त्रितोयमात्मा……

…चलस्वभावो नानार्थेषु परिणममानः कृकलासवद् अव्यवस्थितोद्भ्रान्तमनाश्च कथमेकस्मिन्नर्थे चिरमुपयोगवान्। निसर्गत एवोत्कर्षादुपयोगकालस्यान्तर्मुहूर्तमानत्वाच्च। समुन्नतघनाघन-घनपटलाभिभूतमूर्तेर्भास्वतः प्रकाशस्वरूपत्वेऽपि अस्पष्टप्रकाशोद्भववच्च… —न्या० पत्त० १७७

४६—(क) मतिज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमावस्थानिवृत्तौ यो ज्ञान सद्भावः क्षायोपशमिकः श्रोत्र लब्धिरुच्यते —जैन० तर्क० २।१८।पृ० १६७

[ख] अर्थ-ग्रहण शक्तिः लब्धिः… —लघी०

५०—(क) उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः —लघी० ५

[ख] क्षायोपशमिक ज्ञान में ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय— दोनों के क्षयोपशम की अपेक्षा होती है।

५१—जैन० दी० २।२८

५२—जैन० दी २।२८

५३—श्रोत्रादिक्षयोपशमलब्धौ सत्यां निवृत्तिः शष्कुल्यादिका भवति, यस्य तु लब्धि र्नास्त्येवं प्रकारा न खलु तस्य प्राणिनः शष्कुल्यादयोऽवयवा-निवर्तन्ते। तस्माल्लब्ध्यादयश्चत्वारोऽपि समुदिताः शब्दादि-

विषयपरिच्छेदमापादयन्तः इन्द्रिय व्यपदेशमश्नुवते। एकेनाप्यवयवेन विकलमिन्द्रियं वोच्यते, न च स्वविषयग्रहणसमर्थं भवति···

[त० भा० २।१६ पृ० १६८]

५४—स्या० मं० १७, पृ० १५३

५५—यदा शब्दोपयोगवृत्तिरात्मा भवति तदा न शेषकरण-व्यापारः स्वल्पोप्यन्यत्र कान्तद्विष्टाभ्यस्त विषयकलापात्। अर्थान्तरोपयोगे हि प्राच्यमुपयोगबलमाध्रियते कर्मणा, शंख शब्दोप्ययुक्तस्य शृङ्ग शब्दविज्ञान-मस्तमिततन्निर्मासं भवति, अतः क्रमेण उपयोग एकस्मिन्नपि इन्द्रिय-विषये, किमुत बहुविधविशेषभाजीन्द्रियान्तरे, तस्मादेकेन्द्रियेण सर्वात्मनोपयुक्तः सर्वः प्राण्युपयोगं प्रति एकेन्द्रियो भवति।

—त० भा० २।१६ पृ० १६६]

५६—चेतना व्यापार उपयोगः —जैन० दी० २।३

५७—उपयोगस्तु द्विविधा चेतना···संविज्ञान लक्षणा अनुभवलक्षणा च। तत्र घटाद्युपलब्धिः संविज्ञान लक्षणा, सुख-दुःखादिसंवेदनानुभवलक्षणा, एतदु भयमुपयोग ग्रहणाद् गृह्यते। —[त० भा० २।१६ पृ० १६८]

५८—एगिंदिय विगलिंदियाशरीरवेयणं वेयंति, नो माणसं वेयाणं वेयंति

—(प्रज्ञा० पत्र० ३५)

५६—(क) स्था० १०

(ख) आचा० नि०

६०—संज्ञानं संज्ञा, आभोग इत्यर्थः मनोविज्ञानमित्यन्ये—स्था० वृ० १०-७५२

६१—भग० २०।१,

६२—अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे······ —आचा० १।२।१

६३—(क) ओघ-ज्ञानम्—ओघः सामान्यम्, अप्रविभक्त रूपम्, यत्र न स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि तानि मनो निमित्तमाश्रयन्ते, केवलं मत्यावरणीयक्षयोपशम एव तस्य ज्ञानस्योत्पत्तौ निमित्तम्, यथा वल्ल्यादीनां निम्बादौ अभिसर्पणज्ञानं न स्पर्शननिमित्तं, न मनो निमित्तमित्ति तस्मात् तत्र मत्यज्ञानावरण क्षयोपशम एव केवलं निमित्तीक्रियते ओघ ज्ञानस्य।—(त० भा० टी० १।१४ पृ० ७६)

(ख) स्था० वृ० पृ० ५०५

६४—प्रज्ञा० प० ३५

६५—प्रज्ञा० प० २३

६६—स्था० १०-७०८

६७—अपइट्ठिए कोहे—निरालम्बन एव केवल क्रोध वेदनीयोदयादुपजायेत
—प्रज्ञा० प०-१४

६८—प्रज्ञा० प० २८

६९—हे ऊवएसेणं जस्स णं अत्थि अभिसंधारण पुव्विया करण सत्ती सेणं सण्णीति लब्भई नं० १।४०

७०—जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं, पडिक्कंतं, संकुचियं, पसारियं रुयं, भंतं, तसियं, पलाइयं, आगइ-गई-विन्नाया—दशवै० ४।६

७१—यो हि शिक्षाक्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते··· —त० मा० ६३

७२—अवग्रहेहावाय धारणाः । तत्वा० १।१५

७३—मतिः, स्मृतिः, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध-इत्यनर्थान्तरम् ।
—तत्वा० १।१३

७४—महा० पु० १८।११८

७५—इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धि, र्ज्ञानं त्वागमपूर्वकम् ।
सदनुष्ठानवच्चैतद् - असंमोहोऽभिधीयते ॥
रत्नोपलम्भतज्ज्ञानं, तत् प्राप्त्यादियथाक्रमम ।
इहोदाहरणं साधु, ज्ञेयं बुध्यादिसिद्धये ॥

रत्नोपलम्भ—इन्द्रिय और अर्थ के सहारे उत्पन्न होने वाली बुद्धि; जैसे—यह रत्न है ।

रत्न-ज्ञान—आगम वर्णित रत्न के लक्षणों का ज्ञान ।

रत्न-प्राप्ति—सम्यक् रूप में उसे ग्रहण करना ।

७६—तुलना कीजिए—अन्यत्र मना अभूवं नादर्शमन्यत्र मना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति । कामः, संकल्पो विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृतिरधृति र्ह्री धीं र्भी रित्येतत् सर्वं मनएव
—बृह० उप० १।५।३

७७—(क) संबुडे भंते ! सुविणं पासइ, असंबुडे सुविणं पासइ, संबुडासंबुडे सुविणं पासइ ।

गोयमा ! संवुडे वि सुविणं पासइ, असंवुडे वि सुविणं पासइ, संवुडा-संवुडे वि सुविणं पासइ। संवुडे सुविणं पासति अहातच्चं पासति। असंवुडे सुविणं पासति तहा वा तं होज्जा, अन्नहावातं होज्जा संवुडा-संवुडे सुविणं पासति एवं चेव। —[भग० १६।६]

(ख) सुमिणं दंसणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहा तच्चं सुमिणं पासितए।—दशा० ५

७८—कतिविहे णं भंते ! सुविण दंसणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे सुविण दंसणे पण्णत्ते-तंजहा-अहातच्चे, पयाणे, चिन्ता सुविणे, तव्वीवरीए, अवत्त दसणे —भग० १६।६

७६—भग० जोड़ १६।६

८०—सुत्तेणं भंते ! सुविणं पासति जागरे सुविणं पासति सुत्त जागरे सुविणं पासति ?

गोयमा ! नो सुत्ते सुविणं पासई, नो जागरे सुविणं पासई सुत्त जागरे सुविणं पासई —भग० १६।६

८१—शाब्दिक नय की दृष्टि से।

८२—आव० (मलय गिरीय वृत्ति) —पत्र ४६६-५००

८३—शा० सु० १।७

८४—स्था० २।१

८५—स्था० २।१

तृतीय खण्ड

: आठ :

१—न्याय शब्द के अर्थ :—

(क) नियम युक्त व्यवहार—न्यायालय आदि प्रयोग इसी अर्थ में होते हैं।

(ख) प्रसिद्ध दृष्टान्त के साथ दिखाया जाने वाला सादृश्य, जैसे—देहली-दीपक-न्याय ।

(ग) अर्थ की प्राप्ति या सिद्धि।

न्याय-शास्त्र में 'न्याय' शब्द का तृतीय अर्थ मान्य है।

२—भिक्षु० न्या० १।१।

३—विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा।

—न्या० दी० पृ० ८

४—भिक्षु० न्या० १।२।

५—स्था० १०।७२७

६—भिक्षु० न्या० १।३।

७—भिक्षु० न्या० १।३।

८—सिद्धिरसतः प्रादुर्भावोऽभिलषितप्राप्ति भाव-ज्ञप्तिश्च। तत्र ज्ञापक—प्रकरणाद् असतः प्रादुर्भावलक्षणा सिद्धिर्नेह गृह्यते।

—प्र० क० म० पृ० ५

९—(क) अंहो मुचं वृषभं यज्ञियानं विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्। अपां न पातमश्विना हुवेधिय इन्द्रियेण इन्द्रिय दत्तमोजः।

—अथर्व० का० १९।४२।४

अर्थात्—सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अहिंसक वृत्तियों के प्रथम राजा आदित्यस्वरूप श्री ऋषभदेव का मैं आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

(ख) भागवत स्कन्ध ५, अ० ३।६।

(ग) इति ह स्म सकलवेदलोकदेवब्राह्मणगवां परमगुरोर्भगवत ऋषभाख्यस्य विशुद्धचरितमीरितं पुंसः समस्त दुश्चरितानि हरणम्।

—भागवत स्कन्ध ५।२८

(घ) धम्म० —उसभं पवरं वीरं (४२२)

(ङ) जैन वाङ्मय—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, आवश्यक, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, कल्पसूत्र, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित।

१०—इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं न कयाइ नासी, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ, भुविय, भवइ य, भविस्सइ य, धुवे, नियए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्ठिए निच्चे।—नं० ६०

११—उपायप्रतिपादनपरो वाक्यप्रबन्धः। —स्था० वृ० ३।३।१८६

१२—स्था० ३।३।१८६

१३—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी —स्था६ ४।२।२८२।

१४—स्था० ४।२।२८२।

१५—अनु०।

१६—स्था० ४।४।३८२

१७—स्था० ६।६।७६।

१८—आहरण हेउ कुसले···पभूधम्मस्स आघवित्तए —आचा० १।६।५।

१६—सू० ७।१६।

२०—सयं-सयं पसंसंता, गरहंता परंवयं।
जेउ तत्थ विउस्संति, संसारे से विउस्सिया॥ —सू० १।१-२-२३।

२१—बहुगुणप्पगप्पाइं, कुज्जा अत्तसमाहिए।
जेणन्ने णो विरुज्झेज्जा, तेण तं तं समायरे। सू० १।३।३।१६

२२—इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं तीए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइंसु। इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं पडुप्पण्णकाले परित्ता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइंसु। इच्चेइयं दुवालसंगं गणिपिडगं अणागए काले अणंता जीवा आणाए आराहित्ता चाउरंतं संसारकंतारं वीईवइस्संति।—नं० ५७

२३—(क) तत्र आगम्यन्ते परिच्छिद्यन्ते अर्था अनेन इति आगमः। केवलमनः पर्यायाऽवधि पूर्वचतुर्दशक-दशक-नवकरूपः। भग० वृ० ८।८।

(ख)- केवलमनपज्जव नै अवधिधरं, चउदपूर्वदस सार। नवपूर्वधर ए षट् विध है, धुर आगम व्यवहार हो॥ —भग० जोड़ ढ़ाल १४६।

२४—उपचारादाऽप्तवचनं च। —प्र० नं० ४।२

२५—सद्दव्वं वा—भग० ८।६

२६—उपन्ने वा विगए वा धुवे वा। स्था १०

२७—उत्त०—२८।६

२८—से किं तं पमाणे ? पमाणे चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा पच्चक्खे, अणुमाणे उवमे, आगमे। जहा अणुयोगदारे तहा णेयव्वं—भग०५।३

२६—व्यवसायो—वस्तुनिर्णयः—निश्चयः स च प्रत्यक्षोऽवधि मनः पर्याय केवलाख्यः। प्रत्ययात्—इन्द्रियानिन्द्रियलक्षण-निमित्ताजातः प्रात्ययिक : साध्यम्—अग्न्यादिकमनुगच्छति साध्याभावे न भवति यो धूमादि हेतुः सोऽनुगामी ततो जातमानुगामिकाम्—अनुमानं तद्रूपो व्यवसाय अनुगामिक एवेति अथवा प्रत्यक्षः स्वयं दर्शनलक्षणः। प्रात्ययिकः आप्तवचनप्रभवः। स्था० ३।३।१८५

३०—स्था २।१।७१

३१—स्था० ४।३

३२—अनु० १४४

३३—स्था० ४।३

३४—स्था० ४।३

३५—स्था० ४।३

३६—स्था० ४।३

३७—स्था० १०

३८—स्था० ६।१।५१२

३६—भग० ८।२, नं० २, रा० प्र० १६५

४०—स्था० २।१।२४

४१—प्रत्यक्षेणानुमानेन, प्रसिद्धार्थप्रकाशनात्।
परस्य तदुपायत्वात्, परार्थत्वं द्वयोरपि ॥

—न्याय० ११

अनुमानप्रतीतं प्रत्याययन्नेवं वचनमिति —अग्निरत्र धूमात्।
प्रत्यक्षप्रतीतं पुनर्दर्शयन्नेतावद् वक्ति—पश्य राजा गच्छति।

—न्याय० टीका० ११

४२—प्र० न० ३।२६-२७……

४३—लाभुत्ति ण मज्जिज्जा, अलाभुत्ति ण सोएज्जा —आचा० ३।१।१२६

४४—त० सू० १-६

४५—ग्रामान्तरोपगतयो रेकामिषसङ्गजातमत्सरयोः।
स्यात् सख्यमपि शुनो भ्रात्रोरपि वादिनो र्न स्यात् ॥ १ ॥
अन्यत एव श्रेयान्, अन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः।
वाक् संरम्भः क्वचिदपि, न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥ ७ ॥
ज्ञेयः पर सिद्धान्तः, स्वपक्षबलनिश्चयोपलब्ध्यर्थम्।
परपक्षक्षोभणमभ्युपेत्य तु सतामनाचारः ॥ १० ॥
परनिग्रहाध्यवसित श्चित्तैकाग्र्यमुपयाति यद् वादी।
यदि तत् स्याद् वैराग्ये, न चिरेण शिवं पदमुपयातु ॥ २५ ॥

—वाद० द्वा०

४६—सू० १।३।३-१६

४७—'नास्य मयेदमसदपि समर्थनीयम्'—
इत्येवं प्रतिज्ञा विद्यते इति अप्रतिज्ञः —सू० वृ० १।३।३।१४

४८—सन्म० ३।६६

४९—सन्म० ३।४७

: नौ :

१—(क) न्या० बि० १।१६।२०
(ख) बौद्ध (सौत्रान्तिक) दर्शन के अनुसार ज्ञानगत अर्थाकार (अर्थ-ग्रहण) ही प्रामाण्य है, उसे सारूप्य भी कहा जाता है।
"स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद् रूपादर्थनिश्चयः।

विषयाकार एवास्य, प्रमाणं तेन मीयते ॥" —प्र० समु० पृ०० २४
प्रमाणं तु सारूप्यं, योग्यता वा —त० श्लो० १३-४४

२—न्या० भ० १।१।३

३—न्याय० १

४—मी० श्लो० वा० १८४-१८७

५—स्या० मं० १२

६—स्या० मं० १५

७—देखिए वसुबंधुकृत 'विंशतिका

८—स्या० मं० १६

९—लघी० ६० ।

१०—प० मु० मे०

११—प्र० न० १।२।

१२—प्रमा० मी० १।३।

१३—भिक्षु न्या० १।११।

१४—सर्वं ज्ञानं स्वापेक्षया प्रमाणमेव, न प्रमाणाभासम् ।
बहिरर्थापेक्षया तु किंचित् प्रमाणं, किंचित् प्रमाणाभासम् ॥
—प्र० न० १।१९

१५—प्रमेयं नान्यथा गृह्णातीति यथार्थत्वमस्य —भिक्षु० न्या० १-११।

१६—तत्त्वा० श्लो० १७५।

१७—सन्म० पृ० ६१४ ।

१८—तत्त्वा० श्लो० पृ० १७५ ।

१९—(क) प्र० न० २० १-२ ।
(ख) प्रमा० मी० ।

२०—प्र० न० १।२० ।

२१—भिक्षु न्या० १।१६ ।

२२—अयञ्च विभागः विषयापेक्षया, स्वरूपे तु सर्वत्र स्वत एव प्रामाण्य-निश्चयः —ज्ञा० वि०

२३—भिक्षु न्या० १।१३ ।

२४—रस्सी में सांप का ज्ञान होता है, वह वास्तव में ज्ञान-द्वय का मिलित रूप है। रस्सी का प्रत्यक्ष और सांप की स्मृति। द्रष्टा इन्द्रिय आदि के दोष से प्रत्यक्ष और स्मृति विवेक-भेद को भूल जाता है, यही 'अख्याति या विवेकाख्याति' है।

२५—रस्सी में जिस सर्प का ज्ञान होता है, वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, सत्-असत् भी नहीं है, इसलिए 'अनिर्वचनीय'—सदसत् विलक्षण है। वेदान्ती किसी भी ज्ञान को निर्विषय नहीं मानते, इसलिए इनकी धारणा है कि भ्रम-ज्ञान में एक ऐसा पदार्थ उत्पन्न होता है, जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता।

२६—ज्ञान-रूप आन्तरिक पदार्थ की बाह्य रूप में प्रतीति होती है, यानी मानसिक विज्ञान ही बाहर सर्पाकार में परिणत हो जाता है, यह 'आत्म-ख्याति' है।

२७—द्रष्टा इन्द्रिय आदि के दोष वश रस्सी में पूर्वानुभूत साँप के गुणों का आरोपण करता है, इसलिए उसे रस्सी सर्पाकार दीखने लगती है। इस प्रकार रस्सी का साँप के रूप में जो ग्रहण होता है, वह 'विपरीत ख्याति' है।

२८—भिक्षु न्या० १।१४।

२९—भिक्षु० न्या० १।१५।

३०—अनध्यवसायस्तावत् सामान्यमात्रग्राहित्वेन अवग्रहे अन्तर्भवति।

—वि० भा० वृ० गाथा० ३१७

३१—कर्मवशवर्तित्वेन आत्मनस्तज्ज्ञानस्य च विचित्रत्वात्।

—न्या० पत्र १७७।

३२—भग० जोड़ ३।६।६८···५१ से ५४।

३३—प्रज्ञा० २३

३४—प्रज्ञा० २२

३५—प्र० न० १।७।८

३६—(क) अव्यक्तबोधसंशयाऽसर्वार्थग्रहणानि चावरणशीलज्ञानावरणकर्म सद्‌भावादभ्युपेयानि। —त० भा० टी० २।८ पृ० १५१

(ख) आवारकत्वस्वभाव ज्ञानावरण कर्मसद्‌भावेनाव्यक्तबोधसंशयोद्‌भावाशेष विषयाग्रहणान्यप्यविरुद्धानि···। न्या० पत्र १७७।

३७—साची सरधा भाखी जगनाथ, तें ऊंधो सरध्यां आवै मिथ्यात। और ऊंधो सरधनी आवै, तो झूठ लागै पिण सरधा न जावै। —इ० चौ० ७-६।

३८—प्रज्ञा० २३

३९—अनु० १२६।

४०—धर्म में अधर्म-संज्ञा, अधर्म में धर्म-संज्ञा आदि।—भग० जोड़ १४।२।

४१—अज्ञानी केइ बोल ऊंधा श्रध्या ते मिथ्यात्व आश्रव छै। ते मोह कर्म ना उदय थी नीपनो छै, माटे ते अज्ञान नथी, केमके अज्ञानी जेट लो शुद्ध जाणै ते ज्ञानावरणीय नां क्षयोपशम थी नीपनो छै। माटे ते भाजन आसरी अज्ञान छै। अज्ञान ने ऊंधी श्रद्धा बन्ने जुदा छै। —भग० जोड़ ८-२।

४२—(क)—नं० २५

(ख)—मिथ्यात्विनां ज्ञानावरणक्षयोपशमजन्योऽपि बोधो मिथ्यात्वसहचारित्वात् अज्ञानं भवति···। —जैन० दी० २।२१ वृत्ति

(ग) भाजन लारे जाण रे, ज्ञान अज्ञान कहीजिए।
समदृष्टि रे ज्ञान रे, अज्ञान अज्ञानी तणो ॥
—भग० जोड़ ८।१५५।

४३—कुत्सितं ज्ञानमज्ञानं, कुत्सार्थस्य नञोऽन्वयात्।
कुत्सितत्वंतु मिथ्यात्वयोगात् तत् त्रिविधं पुनः
लो० प्र० (द्रव्यलोक) श्लोक ६६

४४—ज्ञा० वि० ४०।४१

४५—(क) स्था० २।४।

(ख) नाण मोह चाल्यो सूतर मझै, ते ज्ञान में उपजै व्यामोह।
ते ज्ञानावरणी रा उदा थकी, ते मोह निश्चै नहीं होय ॥

'दिसा मोहेण' कह्यो आवसग मझै, ते दिसणो पाम्यो व्यामोह ।
ते पिण ज्ञानावरणी रा उदा थकी, ते हिरदै विचारी जोय ॥
ज्ञानावरणी रा उदा थकी, ज्ञान भूले सांसो पर जाय ।
दंसण मोहणी रा उदा थकी, पदार्थ ऊंधो सरधाय ॥

—इ० चौ० १०।३३,३६,३७ ।

४६—न्याया० वा० वृ० पृ० १७०

४७—मिथ्यात्वं त्रिषु बोधेषु, दृष्टि मोहोदयाद् भवेत् ॥
यथा सरजसालाबूफलस्य कटुकत्वतः ।
क्षिप्तस्य पयसो दृष्टः, कटुभाव स्तथाविधः ॥
तथात्मनोपि मिथ्यात्वपरिणामे सतीष्यते ।
मत्यादिसंविदां तादृङ्, मिथ्यात्वं कस्यचित् सदा ॥

—तत्त्वा० श्लो० पृ० २५६ ।

४८—खओवसमिआ आभिणी बोहिय णाणलद्धी जाव खओवसमिआ मणपज्जव णाणलद्धी, । खओवसमिआ मइ अण्णाणलद्धी, खओवसमिया सुय अण्णाणलद्धी खओवसमिया विभंग अण्णाणलद्धी···। —अनु० १२६

४६—सदमद् विसेसाणाओ भवहेतु जदिच्छिओव लंभाओ ।
णाणफलाभावाओ, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णाणं ॥

—वि० भा० ११५

५०—भग० २४।२१

५१—से किं तं जीवोदय निप्फन्ने···मिच्छादिट्ठी —अनु० १२६

५२—(क) से किं तं खओवसमनिप्फन्ने···मिच्छादंसण लद्धी ।

—अनु० १२६ ।

(ख) मिथ्या दृष्टि कहाय रे, भाव क्षयोपशम उदय बली ।
ए विहुं भावे थाय रे, देखो अनुयोग द्वार में ॥
क्षयोपशम निपन्न मांहिरे, दाखी मिथ्या दृष्टि ने ।
मिथ्यात्वी री ताहि रे, भली भली श्रद्धा तिका ॥
मिथ्यात्व आस्रव ताम रे, उदय भाव मिथ्या दृष्टि ॥

—भग० जोड़ १२-५

५३—विसोहि मग्गणं पडुच्च चउदस जीवट्ठाणा पन्नत्ता···।—सम० १४।

५४—प्रबलमिथ्यात्वोदये काचिदविपर्यस्तापि दृष्टिर्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसम्भवः।—कर्म०

५५—भग० जोड़ ८।२।

५६—यः एकं तत्त्वं तत्त्वांशं वा संदिग्धे, शेषं सम्यग् श्रद्धत्ते, सम्यग् मिथ्यादृष्टिः, सम्यक् मिथ्यात्वीति यावत्। —जैन० दी० ८।४।

५७—मिथ्यात्वमोहनीयकर्माणुवेदनोपशमक्षयक्षयोपशमसमुत्थे आत्मपरिणामे।
—भग० वृ० ८।२।

५८—तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्त्वस्य कार्यम्, सम्यक्त्वं तु मिथ्यात्वक्षयोपशमादिजन्यः शुभ आत्म-परिणामविशेषः। —धर्म प्रक० २ अधिकरण।

५९—तत्त्वा० श्लो० पृ० २५६।

६०—विभंग नाणी कोय रे, दिशा मूढ़ जिम तेह स्यूं।
सगलां नें नहिं कोय रे, एहवूं इहां जणाय छै॥
—भग० जोड़ ३,६,६।२६।

: दस :

१—न्याया० ४।

२—भग० ४।३।

३—स्था० ५।३।

४—प्र० प्र० १।३

५—नं० २-३

६—प्रमा० मी० १।१४

७—अन्तःकरण की पदार्थाकार अवस्था को वृत्ति कहते हैं।

८—वेदान्त में ज्ञान दो प्रकार का है—साक्षि-ज्ञान और वृत्ति-ज्ञान। अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान 'साक्षि-ज्ञान' और साक्षि-चैतन्य से प्रकाशित वृत्ति 'वृत्ति-ज्ञान' कहा जाता है।

९—भिक्षु न्या० २।२।

१०—प्र० न० २ व जैन० तर्क पृ० ७०

११—भिक्षु न्या० २।३।

१२—व्यञ्जनावग्रहकालेऽपि ज्ञानमस्त्येव, सूक्ष्माव्यक्तत्वात्तु नोपलभ्यते सुप्ताव्यक्तविज्ञानवत्...। —स्था० वृत्ति० २-१-७१।

१३—(१) स्वरूप—रसना के द्वारा जो ग्रहण किया जाता है। वह 'रस' होता है।

(२) नाम—रूप, रस आदि वाचक शब्द।

(३) जाति—रूपत्व, रसत्व आदि जाति।

(४) क्रिया—सुखकर, हितकर आदि क्रिया।

(५) गुण—कोमल, कठोर, आदि गुण।

(६) द्रव्य—पृथ्वी, पानी आदि द्रव्य।

१४—अनध्यवसायस्तावत् सामान्यमात्र ग्राहित्वेन अवग्रहे अन्तर्भवति।

—वि० भा० वृ० पृ० ३१७

१५—न्याय० सू० १-१-२३।

१६—न्याय० सू० १-१-४०।

१७—न्याय० सू० १-१-४१।

१८—त्रिकालगोचरस्तर्क, ईहा तु वार्तमानिकार्थविषया —जैन० तर्क०

१९—नं० २६

२०—नं० २७।३०

२१—नं० २६

२२—केई तु वंजणोग्गहवज्जेच्छोढूण मेयम्मि ॥ ३०१ ॥

अस्सुय निस्सियमेवं अट्ठावीस विहं ति भासंति।

जमवग्गहो दुभेओऽवग्गह सामण्णओ गहिओ ॥ ३०२ ॥

—वि० भा० वृ०

२३—चउवइरित्ता भावा, जम्हा न तमोग्गहाइओ।

भिन्नं तेणोग्गहाइ, सामण्णओ तयं तग्गयं चेव ॥ ३०३ ॥

—वि० भा० वृ०

२४—[अर्थावग्रह—व्यञ्जनावग्रहभेदेनाश्रुत निश्रितमपि द्विधैवेति, इदञ्च श्रोत्रादिप्रभवमेव, यत्तु औत्पत्तिक्याद्यश्रुतनिश्रितं तत्रार्थावग्रहः सम्भवति,

न तु व्यञ्जनावग्रहः, तस्य इन्द्रियाश्रितत्वात्, बुद्धीनां तु मानसत्वात्, ततो बुद्धिभ्योऽन्यत्र व्यञ्जनावग्रहो मन्तव्यः।

—स्था० वृ० २।१।७१

: ग्यारह :

१—'अपौद्गलिकत्वादमूर्त्तो 'जीवः' पौद्गलिकत्वात्तु मूर्त्तानि द्रव्येन्द्रियमनांसि, अमूर्त्ताच्च मूर्तं पृथग्भूतं ततस्तेभ्यः पौद्गलिकेन्द्रिय मनोभ्यो यन्मति श्रुतलक्षणं ज्ञानमुपजायते तद् धूमादेरग्न्यादि ज्ञानवत् परनिमित्तत्वात् परोक्षम्।

—वि० भा० वृ६ गाथा० ६

२—तथा हि पर्वतोयं साग्निः उतानग्निः, इति संदेहानन्तरं यदि कश्चिन्-मन्यते-अनग्निरिति तदा तं प्रति यद्ययमनग्निरभविष्यत्तर्हि धूमवन्नाभविष्यत् इत्यवह्निमत्त्वेनाधूमवत्त्वप्रसज्जनं क्रियते। स चानिष्टं प्रसंगः तर्क उच्यते। एवं प्रवृत्तः तर्कः अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात् अनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति…।

—(तर्क० भा०)

३—सपञ्चावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः —वा० भा०

४—समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्यायः। —न्याय० वा०

५—भिक्षु० न्या० ३-२८।

६—भिक्षु० न्या० ३-३३।

७—भिक्षु० न्या० ३-३१।

८—भिक्षु० न्या० ३-३२।

६—प्र० न० ३।६५-१०७

: बारह :

१—युक्त्या अविरुद्धः सदागमः सापि तद् अविरुद्धा इति।
इति अन्योन्यानुगतं उभयं प्रतिपत्तिहेतुः इति॥

२—यो हेतुवादपक्षे हेतुकः आगमे च आगमिकः।
स स्वसमयप्रज्ञापकः सिद्धान्तविराधकोऽन्यः॥

३—न च व्याप्तिग्रहणबलेनार्थप्रतिपादकत्वाद् धूमवदस्य अनुमानेऽन्तर्भावः, कूटाकूटकार्षापणनिरुपणप्रवणप्रत्यक्षवदभ्यासदशायां व्याप्तिग्रहनैरपेक्ष्येणै-वास्य अर्थबोधकत्वात्। —जैन० तर्क० पृ० २६

नं० ५८

४—स्या० मं० श्लो० १७

५—जं इमं अरिहंतेहिं भगवंतेहिं उप्पण्णणाण दंसणधरेहिं तीयपच्चुप्पण्णा-णागय जाणएहिं सव्वण्णूहिं सव्वदरिसिहिं पणीअं सेतं भावसुयं।

—अनु० ४२

६—अनु० १४४

७—अनु० ,,

८—(क) नं० ३६।

(ख) संज्ञाक्षरं बहुविधलिपिभेभेदम्, व्यञ्जनाक्षरं भाष्यमाणमकारादि एते चोपचाराच्छ्रुते। लब्ध्यक्षरं तु इन्द्रियमनोनिमित्तः श्रुतोपयोगः तदावरण-क्षयोपशमो वा……। —जैन० तर्क० पृ० ६

६—अभि० चि० १।१

१०—अभि० चि० १।२

११—मिश्राः पुनः परावृत्य सहागीर्वाण सन्निभाः। —अभि० चि० १।१६

१२—दोहिं ठाणेहिं सद्दुप्पाएसिया, तंजहा…साहन्नंताणं पुग्गलाणं सद्दुप्पा-एसिया, भिज्जंताणं चेव पोग्गलाणं सद्दुप्पाए सिया…।

—स्था० २।३।८१।

१३—(क) स्वाभाविकसामर्थ्यसमयाभ्यामर्थबोधनिबन्धनं शब्दः।

—प्र० न० ४

(ख) भिक्षु० न्या० ४-६।

१४—(क) सामयिकत्वाच्छब्दार्थ सम्प्रत्ययस्य…। न्याय० सू० २।१।५५।

(ख) सामयिकः शब्दार्थ संप्रत्ययो न स्वाभाविकः —वा० भा०

१५—वाच्यवाचकभावोऽपि तर्केणैव अवगम्यते, तस्यैव सकलशब्दार्थ गोचरत्वात्। प्रयोजकवृद्धोक्तं श्रुत्वा प्रवर्तमानस्य प्रयोज्यवृद्धस्य चेष्टा-मवलोक्य तत्कारणज्ञानजनकतां शब्देऽवधारयतो ऽन्त्यावयव श्रवण-पूर्वावयवस्मरणोपजनितवर्णपदवाक्यविषयसंकलनात्मकप्रत्यभिज्ञानवत आवापोद्वापाभ्यां सकलव्यक्त्युपसंहारेण च वाच्यवाचकभावप्रतीति-दर्शनात्…। —जैन० तर्क० पृ० १५

१६—स्था० १०।७०१

१७—प्रश्ना० वृ० ११

१८—(क) द्विविधोहि वस्तुधर्मः परापेक्ष परानपेक्षश्च, स्थौल्यादिवद् वर्णादिवच्च —प्र० क० मा० ४।५

(ख) वस्तुतः केचिद् भावाः प्रतिनियतव्यञ्जकव्यङ्ग्याः, केचिन्नइत्यत्र स्वभाव एव शरणम्। —अने०।

१९—ते हुंति परावेक्खा, वंजयमुहदंसिणोत्ति णय तुच्छा। दिट्ठमिणं वेचित्तं, सरावकप्पूरगं धाणं…। —भा० र० ३०

२०—सू० १।१३।

२१—स्था० १०।

२२—भग० ७।३।

२३—उत्त० ३६।८०।

२४—भग० ६।१।

२५—भग० १।७।६१।

२६—भग० १७।३।

२७—सं० नि०

२८—सं० नि०

२९—भग० १८।१०।

३०—(क) भग० ८।२। (ख) स्था० १०।७५४।

३१—दशवै० ७।८,९।

३२—(क) न चावधारणविधिः सिद्धान्तेनानुमत इति वक्तव्यं, तत्र-तत्र प्रदेशेऽनेकशोऽवधारणविधिदर्शनात्; तथाहि—"किमियं भन्ते! कालोत्ति पवुच्चइ? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेवत्ति स्थानाङ्गेऽप्युक्तम्—"जदत्थि दुप्पडोयार, तंजहा च णं लोए तं सव्वं—जीवा चेव अजीवा चेव"।

तथा "जह चेवउ मोक्खफला, आणा आराहिया जिणिंदाणं" इत्यादि वा त्ववधारणी भाषा प्रवचने निषिध्यते सा क्वचित् तथा रूप वस्तुतत्त्वनिर्णया-

भावात् क्वचिदेकांतप्रतिपादिका वा न तु सम्यग् यथावस्थितवस्तुतत्त्वनिर्णये स्यात् पदप्रयोगावस्थायामिति। —आचा० वृ० प० ३७०

(ख) प्रश्ना० ११

३३—म० नि० (सब्बासव सुत्त)

३४—सन्म० ३।५४

३५—आचा० १-१-१।

३६—दशवै० ४ १३।

३७—भग० ७-२।

३८—(क) वृह० उप० २-३-११।

(ख) ,, ४-२-११।

३९—यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह···। —तैत्त० उप० २।४

४०—म० नि० (चूल मालुक्य सुत्त ६)

४१—एकत्वसादृश्यप्रतीत्योः संकलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानता ऽनतिक्रमात्।
—प्र० क० मा० पृ० ३४५

४२—अर्थादापत्तिः अर्थापत्तिः, आपत्ति :—प्राप्तिः प्रसंगः यथाऽभिधीयमानेऽर्थे चान्योर्थः प्रसज्यते सोऽर्थापत्तिः, यथा—पीनोदेवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते, इत्यभिधानाद् रात्रौ भुङ्क्ते इति गम्यते।

४३—प्रमाणपंचकं यत्र, वस्तुरूपेण जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं, तत्राऽभाव-प्रमाणता॥
—मी० श्लो० वा० पृ० ४७३।

४४—प्र० न० २।१।

४५—न्याया० पृ० २१।

४६—सम्भवः—अविनाभाविनोर्थस्य सत्ताग्रहणात् अन्यस्य सत्ताग्रहणं सम्भवः। अयं द्विविधः—तत्र (१) सम्भावनारूपः—यथा-अमुको मनुष्यो वैश्योऽस्ति अतो धनिकोऽपिस्यात्। (२) निर्णयरूपः यथा—अमुकस्य पार्श्वे यदि शतमस्ति तत् पंचाशता अवश्यं भाव्यम्।

४७—ऐतिह्यः—अनिर्दिष्टवक्तृकं प्रवादपारंपर्यम्। चरक में आगम को भी ऐतिह्य कहा है। "तत् प्रत्यक्षमनुमानमैतिह्यमौपम्यमिति।" च० चि०

स्थान ८।३०। "ऐतिह्यं नामाप्तोपदेशो वेदादिः"—

—च० वि० ८।४१।

४८—प्र० नं० र० २।१

४९—योगजादृष्टिजनितः, स तु प्रातिभसंज्ञितः।

संध्येव दिनरात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक् ॥ —अध्या० उप० २।२

५०—'इन्द्रियादिबाह्यसामग्रीनिरपेक्षं हि मनोमात्रसामग्रीप्रभवं अर्थं तथा—भावप्रकाशं ज्ञानं प्रातिभेति प्रसिद्धम्—श्वो मे भ्राता आगन्ता'—इत्यादिवत् —न्या० कु० पृ० ५२६।

अपि चानागतं ज्ञानमस्मदादेरपि क्वचित्।

प्रमाणं प्रातिभं श्वो मे, भ्रातागन्तेति दृश्यते ॥

नानर्थजं न संदिग्धं, न वाद विधुरीकृतम्।

न दुष्टकारणंञ्चेति, प्रमाणमिदमिष्यताम् ॥

—(न्या० मं० विवरण पृ० १०६-१०७ जयन्त)

५१—पुव्वमदिट्ठ-मसुय-मवेइय तक्खणविशुद्ध गहिअत्था।

अव्वाह फलजोगा, बुद्धि ओप्पत्तियानाम—नं० २

५२—नं० २६

(क) श्रुतम्—संकेतकालभावी परोपदेशः श्रुतग्रन्थश्च।

(ख) पूर्वं तेन परिकर्मितमतेर्व्यवहारकाले तदनपेक्षमेव यद् उत्पद्यते तत् श्रुतनिश्रितम्। यत्तु श्रुताऽपरिकर्मितमतेः सहजमुपजायते तद् अश्रुत-निश्रितम्। —वि० भा० वृ० गाथा-१७७

५३—प्र० न० २।५

५४—प्र० न० ३।२

५५—वि० भा० गाथा ३००-३०६।

५६—अष्टाविंशतिभेदविचारप्रक्रमेऽवग्रहादिमत्त्वं सामान्यं धर्ममाश्रित्य। अश्रुत-निश्रितस्य श्रुत-निश्रित एव अन्तर्भावो विवक्ष्यते, श्रुता-श्रुत-निश्रितविचारप्रस्तावे तु अश्रुतनिश्रितत्त्वं विशिष्टं धर्ममुररीकृत्य श्रुतनिश्रितादश्रुतनिश्रितं पृथगेवेष्यते···। —वि० भा० वृ० ३०५

५७ क—जे विण्णाया से आया···जेण वियाणइ से आया —आचा० १।५।५

ख—जीवेणं भंते ! जीवे ? जीवे-जीवे ? गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे-जीवेवि "नियमा।"…इह एकेन जीवशब्देन जीवो गृह्यते, द्वितीयेन च चैतन्यमिति…जीवचैतन्ययोः परस्परेणाबिनाभूतत्वाद् जीवः चैतन्यमेव, चैतन्यमपि जीव एव…। —भग० वृ० ६।१०

५८—णाणे पुणणियमं आया —भग० १२।१ ।

५९—स्वस्मिन्नेव प्रमोत्पत्तिः स्वप्रमातृत्वमात्मनः ।
प्रमेयत्वमपि स्वस्य, प्रमितिश्चेयमागता ॥

—(तत्वा० श्लो० पृ० ४३)

: तेरह :

१—सतोय अत्थि असतोय नत्थि ।
गहरामो दिट्ठिं न गहरामो किंचि ॥ —सू० २-६-१२

२—(क) पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो नु अणभिलप्पाणं ।
पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुयनिबद्धो ॥

—वि० भा० ३४१

(ख) नं० २३

३—केवलनाणेणऽत्थे नाउं जे तत्थ पण्णवण जोगे । ते भासइ तित्थयरो वइजोग सुअं हवइ सेसं तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिः प्रोच्यमानस्तस्य भगवतो वाग्योग एव भवति, न श्रुतम्, तस्य भाषा पर्याप्त्यादि-नाम कर्मोदयनिबन्धनत्वात्, श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्, स च वाग्योगो भवति श्रुतम्, 'शेषम्' अप्रधानं द्रव्य-श्रुतमित्यर्थः; श्रोतृणां भावश्रुतकारणतया द्रव्यश्रुतं व्यवह्रीयते इति भावः ।

—नं० वृ० ५६

४—प्र० नं० र० ४।४३

५—(क) इह च प्रथमद्वितीयचतुर्था अखण्डवस्त्वाश्रिताः, शेषाश्चत्वारो वस्तु-देशाश्रिता दर्शिताः, तथान्यै स्तृतीयोपि विकल्पोऽखण्डवस्त्वाश्रित एवोक्तः, तथाहि अखण्डस्य वस्तुनः स्वपर्यायैः परपर्यायैश्च विवक्षितस्य सदसत्त्वमिति । अतएवाभिहितमाचाराङ्गटीकायाम्—इह

चोत्पत्तिमङ्गीकृत्योत्तर विकल्पत्रयं न संभवति, पदार्थावयवापेक्षत्वात्, तस्योत्पत्तेश्चावयवाभावात् इति —स्था० वृ० ४।४।३४५

(ख) त० भा० टी० पृ० ४१५

६—भग० २।१।६० ।

७—स्था० १०

८—भग० ७।२।२७३

६—भग०

१०—स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं, वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्व ! सुधोद्गतोद्गारपरंपरेयम् ॥

—स्या० मं० २५

११—भग० ८।१०

१२—भग० १३।७

१३—भग० १३-७

१४—भग० १२-१०

१५—य एते मस पदार्था निर्धारिता एतावंत एवंरूपाश्चेति ते तथैव वा स्युर्नैव वा तथा स्युः इतरथा हि तथा वा स्युरितरथा वेत्यनिर्धारितरूपज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात् । —ब्रह्म० शां० २।२।३३ ।

१६—Article on the under Current of Jainism" in Jain Sahitya Sansodhak 1920 Vol. I Page 23.

१७—दर्शन० इ० पृ० १३५

१८—पृ० ६४-६५

१६—(क) जस्स आउयं तस्स अंतराइयं सिय अत्थि, सिय नत्थि, जस्स पुण अंतराइयं तस्स आउयं नियमं अत्थि —भग० ८-१०

(ख) भग० १२।१०

२०—भा० द० पृ० १७३

२१—भा० द० पृ० १७३

२२—पू० प० पृ० ६६-६७

२३—नहि द्रव्यातिरेकेण पर्यायाः सन्ति केचन।
द्रव्यमेव ततः सत्यम्, भ्रान्तिरन्या तु चित्रवत् ॥
पर्यायव्यतिरेकेण द्रव्यं नास्तीह किंचन।
भेद एव ततः सत्यो, भ्रान्तिस्तद् ध्रौव्य कल्पना ॥
नाभेदमेव पश्यामो, भेद नापि च केवलम्।
जात्यन्तरं तु पश्याम-स्तेनानेकान्त साधनम् ॥
—उत्पा० २१-२२-२३

२४—आचा० ४।१-२०६

२५—तर्क० (तीसरा भाग) पृ० २०८

२६—Indian Philosophy Vol. 1 Page 305-6

२७—द० दि० अध्याय १५ पृ० ४६८

२८—सद्भावेतराभ्यामनभिलापे वस्तुनः केवलं मूकत्वं जगतः स्यात् विधि-प्रतिषेधव्यवहारायोगात्… —अ० म० पृ० १२६

२९—अनेकान्तो ऽप्यनेकान्तः, प्रमाण-नयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणान्ते, तदेकान्तोऽर्पितानयात् ॥
—स्वयं० (अरजिन स्तुति) १८

३०—आचार्य प्रवर श्री तुलसी गणी के एक लेख का अंश।

३१—सू० २-५-२६।

३२—नह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत् —ब्रह्म० शां० २-२-३३

३३—नील-कमल—यह सामानाधिकरण्य है। कमल में नील गुण के निमित्त से 'नील' शब्द की और कमल-जाति के निमित्त से "कमल" शब्द की प्रवृत्ति होती है।

३४—सिय ससरीरी निक्खमई सिय असरीरी निक्खमई —भग० २-१

३५—नह्येकत्र नानाविरुद्धधर्मप्रतिपादकः स्याद्वादः किन्त्वपेक्षाभेदेन तदविरोध द्योतकस्यात्पदसमभिव्याहृतवाक्यविशेषः —न्याय खं० श्लो० ४२

३६—यदि येनैव प्रकारेण सत्त्वं, तेनैव असत्त्वं, येनैव च असत्त्वं, तेनैव सत्त्व-मभ्युपेयेत तदा स्याद् विरोधः —प्र० न० २० ५

३७—(क) ब्रह्म० शां० २।२।३३,
(ख) ब्रह्म० भा० २।२।३३,

३८—मेरी०

३९—अप्रामाणिकानन्तपदार्थपरिकल्पनया विश्रान्त्यभावोऽनवस्था अथवा—अव्यवस्थितपरम्परोपाधीनानिष्टप्रसंगः अनवस्था।

४०—सर्वेषां युगपत् प्राप्तिः संकरः।

४१—भग० १।३।१२३

४२—परस्पर विषयगमनं व्यतिकरः।

४३—स्वपरसत्ताव्युदासोपादानापाद्यं हि वस्तुनोवस्तुत्वम्

४४—भग० १२।१०।

४५—अत्र च सकलधर्मिविषयत्वात् त्रयो भंगा अविकलादेशाः, चत्वारश्चदेशावच्छिन्नधर्मिविषयत्वात् विकलादेशाः। —न० र० पृ० २१।

४६—एवं वस्तु सप्तभंगीस्वभावं, ते चाऽमी, स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया स्यादस्ति, पर-द्रव्याद्यपेक्षया स्यान्नास्ति, अनयोरेव धर्मयो यौगपद्येनाभिधातुमशक्यत्वादऽवक्तव्यं, तथा कस्यचिदंशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु विवक्षितत्वात् कस्यचिच्चांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च स्यानास्ति चेति, तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु सामस्त्येन स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति चावक्तव्यं चेति, तथैकस्यांशस्य परद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु सामस्त्येन स्वद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यान्नास्ति चावक्तव्यं चेति तथैकस्यांशस्य स्वद्रव्याद्यपेक्षया परस्य तु परद्रव्याद्यपेक्षयाऽन्यस्य तु यौगपद्येन स्वपरद्रव्याद्यपेक्षया विवक्षितत्वात् स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं चेति।
—(वि० भा० वृ०)

४७—(क) प्र० न० ४

(ख) "अपर्ययं वस्तु समस्यमान-मद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्।
आदेशभेदोदित सप्तभंग—मदीदृशस्त्वं बुधरूपवेद्यम्"॥
—स्या० मं० २३

४८—पमाओय मुणिं देहिं, भणिओ अट्ठभेयओ।
अन्नाणं संसओ चेव, मिच्छानाणं तहे व॥
राग दोसो मइब्भंसो, धम्मम्मिय अणायरो।
जोगाणं दुप्पणिहाणं, अट्ठहा वज्जियव्वओ॥

४६—अज्ञानं खलु कष्टं, क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः।
अर्थं हितमहितं वा, न वेत्ति येनावृतो लोकः॥

५०—"संशयात्मा विनश्यति"—यह मन की दोलायमान दशा के लिए है। जिज्ञासात्मक संशय विनाशकर नहीं किन्तु विकासकर होता है। इसीलिए कहा जाता है—"न संशयमनारुह्य, नरो भद्राणि पश्यति···।"

५१—स्था० १०

५२—विद्यमान पदार्थ की अनुपलब्धि के २१ कारण हैं। इनसे पदार्थ की उपलब्धि होती ही नहीं अथवा वह यथार्थ नहीं होती।

(१) अति दूर	(२) अति समीप
(३) अति सूक्ष्म	(४) मन की अस्थिरता
(५) इन्द्रिय का अपाटव	(६) बुद्धिमान्द्य
(७) अशक्य ग्रहण	(८) आवरण
(९) अभिभूत	(१०) समानजातीय
(११) अनुपयोग दशा	(१२) उचित उपाय का अभाव
(१३) विस्मरण	(१४) दुरागम-मिथ्या उपदेश
(१५) मोह	(१६) दृष्टि-शक्ति का अभाव
(१७) विकार	(१८) क्रिया का अभाव
(१९) अनधिगम—शास्त्र सुने बिना	(२०) काल-व्यवधान
(२१) स्वभाव से इन्द्रिय-अगोचर	

—(वि० भा० वृ०)

: चौदह :

१—अनेकान्तात्मकत्वेन, व्याप्तावत्र क्रमाक्रमौ।
ताभ्यामर्थक्रिया व्याप्ता, तयास्तित्वं चतुष्टये[१]॥

१—बन्ध, बन्ध-कारण, मोक्ष, मोक्ष-कारण।

मूलव्याप्तुर्निवृत्तौ तु, क्रमाक्रमनिवृत्तितः।
क्रिया-कारकयोर्भ्रं शान्नस्यादेतच्चतुष्टयम् ॥
ततो व्याप्ता (व्याप्तः) समस्तस्य, प्रसिद्धश्चप्रमाणतः।
चतुष्टयं सद्-इच्छद्भिरनेकान्तोवगम्यताम् ॥ —तत्त्वा० २४६-२५१।

२—सू० २।६।४।

३—भग० ७।२।

४—(१) द्रव्य-तुल्य।
(२) क्षेत्र-तुल्य।
(३) काल-तुल्य।
(४) भव-तुल्य।
(५) भाव-तुल्य।
(६) संस्थान-तुल्य।

५—भग० १८।१०।

६—तत् परिणामिद्रव्यमेकस्मिन्नेवक्षणे एकेन स्वभावेन उत्पद्यते, परेण विनश्यति—अनन्तधर्मात्मिकत्वाद् वस्तुनः। —सू० वृ० १।१५।

७—पारमैश्वर्ययुक्तत्वाद्, आत्मैव मत ईश्वरः।
स च कर्तेति निर्दोषं, कर्तृवादो व्यवस्थितः ॥ —शा० वा० स०

८—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। —त० सू० ५।२६।

९—(क) सृष्टि-स्थित्यन्तकरणी, ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकां।
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ॥ —वि० पु० १।२।६६
(ख) एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति…।—ऋग्० १।१६४-४६।

१०—वैदिकोव्यवहर्तव्यः, कर्तव्यः पुनरार्हतः।
श्रोतव्यः सौगतो धर्मः, ध्यातव्यः परमः शिवः ॥

११—अणोरणीयान् महतो महीयान्…।—कठ० उप० १।२।२०।
(क) सदसद्वरेण्यम्…। —मुण्डकोप० २।२।१
(ख) यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद, यस्मान्नाणीयो नज्यायोऽस्तिकश्चित्। —श्वेताश्व० उप० ३।६।

A

१२—यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं, करेण धृत्वा शपथं करोमि ।
योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनाया अणोरणीयान् महतो महीयान ॥

१३—One interesting story is told about the explanation of Relativity.
Mrs Enstein did not understand her husband's theories. One day she asked "What shall I say is Relativity ?" The thinker replied with an unexpected parable, "When a man talks to a pretty girl for an hour it seems to him only a minute but let him sit on a hot stove for only a minute and it is longer than an hour. That is Relativity."

१४—करिसण···गउर अट्टालग···भंडोवगरणस्स विविहस्स य अट्टाए पुढविहिंसंति मंदबुद्धिया—प्रश्न (आ० व० द्वार)—१

१५—स्था० २

१६—इह द्विविधा भावाः—तद्यथा हेतुग्राह्या अहेतुग्राह्याश्च । तत्र हेतुग्राह्या जीवास्तित्वादयः तत्साधकप्रमाणसद्भावात्, अहेतुग्राह्या, अभव्यत्वादयः अस्मदाद्यपेक्षया तत् साधकहेतूनामसम्भवात्, प्रकृष्टज्ञानगोचरत्वात् तद्धेतूनामिति । —प्रज्ञा० वृ० पद १

१७—ज्ञायेरन् हेतुवादेन, पदार्था यद्यतीन्द्रियाः ।
कालेनैतावता तेषां, कृतःस्यादर्थनिर्णयः ॥ —यो० दृ० स० १४६

१८—(क) नचैतदेवं यत् तस्मात्, शुष्कतर्कग्रहो महान् ।
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्, त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥
—यो० दृ० स० १४७

(ख) अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः ।
वाक्संरम्भः क्वचिदपि, न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥
—द्वा० द्वा० ८।७

१९—सर्वे शब्दनयास्तेन, परार्थप्रतिपादने।
स्वार्थप्रकाशने मातु-रिमे ज्ञाननयाः स्थिताः ॥—मी० श्लो० वा०

२०—द्रव्यार्थत्वेनाश्रयणे तदव्यतिरेकादभेदवृत्तिः। पर्यायार्थत्वेनाश्रयणे परस्परं व्यतिरेकेऽपि एकत्वाध्यारोपः, ततश्च अभेदोपचारः।
—तत्त्वा० रा० ४।४२।

२१—तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं, णो उद्दिसंति, णो समुद्दिसंति, णो अणुण्णविज्जंति, सुयनाणस्स उद्देसो, समुद्देसो, अणुण्णा, अणुयोगो य पवत्तइ।—अनु० २

२२—स्याद्वाद और नय-शब्द बोधजनक हैं—इसलिए आगम हैं।

२३—श्रुतं स्वार्थं भवति परार्थं च—ज्ञानात्मकं स्वार्थं-वचनात्मकं परार्थं, तद् भेदा नयाः।—सर्वा० सि०

२४—प्रत्यक्षेणानुमानेन, प्रसिद्धार्थ प्रकाशनात्।
परस्य तदुपायत्वात्, परार्थत्वं द्वयोरपि ॥—अनुमानं-प्रतीतं प्रत्याय यन्नेवं वचनयति---"अग्निरत्र धूमात्"···प्रत्यक्षप्रतीतं पुनर्दर्शयन्नेतावद् वक्ति—पश्य राजा गच्छति।—न्याया० टीका ११।

२५—प्र० वा०—१।१७।

२६—ब्रह्म० शां० २।२।१७।

२७—शुद्धं द्रव्यं समाश्रित्य, संग्रहस्तदशुद्धितः।
नैगम-व्यवहारौ स्तः, शेषाः पर्यायमाश्रिताः ॥ —सन्म० टी० २७२

२८—भग० १८।६।

२९—छान्दो० उप० ६।१।४

३०—भग० १७।२।

३१—यो वस्तूनां समानपरिणामः स सामान्यम्, सच सामान्यपरिणामोऽसमान परिणामाविनाभावी, अन्यथा एकत्वापत्तितः सामान्यत्व स्यैवायोगात्, सच असमानपरिणामो विशेषः उक्तञ्च—
"वस्तुन एव समान परिणामः स एव सामान्यम्।
असमानस्तु विशेषो, वस्त्वेकमुभयरूपं तु ॥"
—आव० वृ०—(मलयगिरि पत्र ३७३

३२—स्तुतिश्चैक श्लोक प्रमाण, स्तोत्रं तु बहुश्लोक मानम् ॥
ह० च० प०—३ गाथा (अभयदेव कृत व्याख्या)

३३—आव ० वृ०—(मलयगिरि)

३४—वस्तुतः क्षणिकत्वादिविशेषणशुद्धपर्यायंनैगमो नाभ्युपगच्छत्येव । किञ्चित् काल स्थाय्यशुद्धतदभ्युपगम स्तु सत्तामहासामान्यरूप द्रव्यांशस्य घटादिसत्तारूप—विशेष प्रस्तारमूलतयाऽशुद्धद्रव्याभ्युपगम एव पर्यवस्यतीति पर्यायार्थिलं तस्य, अतएव सामान्य—विशेषविषयभेदेन संग्रहव्यवहारयोरेवान्तर्भावेन शुद्धाशुद्ध द्रव्यास्तिकोऽयमिष्यत इति । [अने० पत्र० १०]

३५—तार्किकाणां त्रयो भेदा, आद्या द्रव्यार्थतो मताः ।
सैद्धान्तिकानां चत्वारः, पर्यायार्थगताः परे ॥ —न्यायो० १८

३६—अनु० १४

३७—न० र०—पृ० १२

३८—न चैवमितरांशप्रतिक्षेपित्वाद् दुर्णयत्वम्, तत् प्रतिक्षेपस्य प्राधान्यमात्र एवोपयोगात्...न० र०—पृष्ठ १२

३९—अन्यदेव हि सामान्यमभिन्न ज्ञानकारणम् ।
विशेषोऽप्यन्य एवेति, मन्यते नैगमो नयः ॥

४०—तत्वा० रा०—१,४२

४१—यो नाम नयो नयान्तर-सापेक्षः परमार्थतः स्यात् पदप्रयोगमभिलषन् सम्पूर्ण वस्तु गृह्णातीति प्रमाणान्तर्भावी, नयान्तरनिरपेक्षस्तु यो नयः स च नियमान मिथ्यादृष्टिरेव सम्पूर्णवस्तुग्राहकाभावात्-इति
[आचार्य मलयगिरि—आव० वृ० पत्र ३७१]

४२—'स्यादस्ति' इत्यादि प्रमाणम्, 'अस्त्येव' इत्यादि दुर्णयः, 'अस्ति' इत्यादिकः सुनयो न तु संव्यवहाराङ्गम, 'स्यादस्त्येव' इत्यादि सुनय एव व्यवहारकारणम्... सन्म० टी० पृ०—४४६

४३—सदेव सत् स्यात सदिति त्रिधार्थोमीयेत दुर्नीतिनय प्रमाणैः ।
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाण-पथेन दुर्नीतिपथत्वमास्थः ॥ —स्या० मं० २८

४४—(क) स्याज्जीव एव इत्युक्तेनैवोकान्तविषयः स्याच्छब्दः,
स्यादस्त्येव जीवः इत्युक्ते एकान्तविषयः स्याच्छाब्दः ।

स्यादस्तीति सकलवस्तुग्राहकत्वात् प्रमाणवाक्यम्,

स्यादस्त्येव द्रव्यमिति वस्त्वेकदेशग्राहकत्वान्नयवाक्यम् ॥

—पंचा० टी० पृ० ३२

(ख) पूर्वं पंचास्तिकाये स्यादस्तीत्यादि प्रमाणवाक्येन प्रमाण सप्तभंगी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहणं तन्नय सप्तभंगी-ज्ञापनार्थमिति भावार्थः ।—प्रव० टी० पृ० १६२

४५—वि० भा० गाथा—२२३२

४६—अने० पृ० ३१

४७—(क) सन्म० पृ० ३१८

(ख) अने० पृ० ५५

४८—नित्यं सत्त्वमसत्त्वं वा, हेतोरन्यानपेक्षणात् ।

अपेक्षातो हि भावानां, कादाचित्कत्वसंभवः ॥

४९—न सोस्ति प्रत्ययो लोके, यःशब्दानुगमहते ।

अनुविद्धमिवज्ञानं, सर्वं शब्देन भाषते ।'''वा० प्र० १२४

५०—तत्त्वा० श्लो०—२३६-४०

५१—स्था० ७।३।५४२

: पन्द्रह :

१—भिक्षु न्या० ५-२२

२—भिक्षु न्या० ५-२३

३—भिक्षु न्या० ५।२३

४—भिक्षु न्या० ५।२४ ।

५—भिक्षु न्या० ५।२५

६—भिक्षु न्या० ५।२७ ।

७—आगम सव्व निसेहे, नो सद्दो अहव देस पडिसेहे

"नो शब्द" के दो अर्थ होते हैं—सर्व-निषेध और देश-निषेध ।

यहाँ तो शब्द-दोनों प्रकार के निषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है ।

: सोलह :

१—भिक्षु न्या० १।५।

२—भिक्षु न्या० १।६।

३—भिक्षु न्या० १।८,६,१०।

: सतरह :

१—भिक्षु न्या० ५।१८-१६।

२—द्वे सत्ये समुपाश्रित्य, बुद्धानां धर्म-देशना।
लोकसंवृतिसत्यं च, सत्यं च परमार्थतः —म० का० २४।८
सम्यग् मृषादर्शनलब्धभावं रूपद्वयं बिभ्रति सर्वभावाः।
सम्यग्दृशो यो विषयः स तत्त्वंमृषादृशां संवृतिसत्यमुक्तम्॥
मृषादृशोऽपि द्विविधास्त इष्टा दीप्तेन्द्रिया इन्द्रिय दोषवन्तः।
दुष्टेन्द्रियाणां किल वोध इष्ट मुस्थेन्द्रियज्ञानमपेक्ष्यमिथ्या॥

—मा० का ६।२३०।२४

३—येन चात्मनात्मवत्सर्वमिदं जगत्तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थं सत्।

—छान्दो० उप० ६।८।७

—शां० भा० पृ०६६१

४—We can only know therelative truth but absolute truth is known only to the universal observer mystenons universal Page 138

५—जीवः शिवः शिवोजीवो, नान्तरं शिवजीवयो।
कर्मबद्धो भवेज्जीवः, कर्म-मुक्तः सदा शिवः॥

६—त्यक्ताऽत्यक्तात्मरूपं यत्, पूर्वापूर्वेण वर्तते।
कालत्रयेपि तद् द्रव्य-मुपादान मिति स्मृतम्॥

७—देखिए इसी ग्रन्थ का अनुमान प्रकरण।

८—सतोर्हि द्वयोः सम्बन्धः स्यान्न सदसतो रसतो र्वा।

—(शां० भा० २-१-१८)

६—सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतो ऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदीरितः॥ —(वे० सा०)

सतत्त्वतो यथार्थतः, अन्यथा प्रथा स्वरूपान्तरापत्तिः, तथा दुग्धस्य दध्याकारेण परिणामः—विकारः।

१०—"कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। नहि कारणाद् भिन्नं कार्यम्"।

—(शां० कौ० ६)

११—"नहि कार्यकारणयोर्भेदः आश्रिताश्रयभावो वा वेदान्तिभिरभ्युपगम्यते। कारणस्यैव संस्थानमात्रं कार्यमित्यभ्युपगमात्"।

—(ब्रह्म शां० २।२।१७)

१२—प्र० वा० २।१४६

१३—भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो।" —(पञ्चा० १५)

१४—"एवं सदो विणासो, असदो जीवस्स होइ उप्पादो"।

—(पञ्चा ६०)

१५—नाशोऽपि द्विविधो ज्ञेयो, रूपान्तर विगोचरः।
अर्थान्तर गतिश्चैव, द्वितीयः परिकीर्तितः॥ २५॥
तत्रान्धतमसस्तेजो, रूपान्तरस्य संक्रमः।
अणोरण्वतरपातो, ह्यर्थान्तरगमश्च सः॥ २६॥ —द्रव्यानु त०

१६—प्रयोगविस्रसाभ्यां स्यादुत्पादो द्विविधस्तयोः।
आद्यो विशुद्धो नियमात्, समुदायविवादजः॥ १७॥
विश्रसा हि बिना यत्नं जायते द्विविधः सच।
तत्राद्य चेतनस्कंधजन्यः समुदायोऽग्रिमः॥ १८॥
सचित्त मिश्रजश्चान्यः स्यादेकत्वप्रकारकः।
शरीराणां च वर्णादि, सुनिर्धारो भवत्यतः॥ १६॥
यत् संयोगं विनैकत्वं, तद् द्रव्यांशेन सिद्धता।
यथा स्कन्ध विभागाणोः सिद्धस्यावरणक्षये॥ २०॥
स्कन्ध हेतुं बिना योगः, परयोगेण चोद्भवः।
क्षणे क्षणे च पर्यायाद्यस्तदैकत्वमुच्यते॥ २१॥
उत्पादो ननु धर्मादेः, परप्रत्ययतो भवेत्।
निजप्रत्ययतो वापि, ज्ञात्वान्तर्नययोजनाम्॥ २२॥

—द्रव्यानु० त० अध्याय ६

१७—पानी जब गर्म होने लगता है तो हमको पहले पानी के रूप में ही प्रतीत होता है। परन्तु जब ताप वृद्धि की मात्रा सीमा-विशेष तक पहुंच जाती है तो पानी का स्थान भाप ले लेती है। इसी प्रकार के क्रमिक परिवर्तन को···मात्रा-भेद से लिंग-भेद कहते हैं। दूसरी अवस्था पहली अवस्था की प्रतियोगी—उससे विपरीत होती है परन्तु परिवर्तन क्रम वहीं नहीं रुक सकता, वह और आगे बढ़ता है और मात्रा-भेद से लिंग-भेद होकर तीसरी अवस्था का उदय होता है, जो दूसरी की प्रतियोगी होती है। इस प्रकार पहली की प्रतियोगी की प्रतियोगी होती है। इसको यों कहते हैं कि पूर्वावस्था, तत् प्रतिषेध, प्रतिषेध का प्रतिषेध—इस क्रम से अवस्था-परिणाम का प्रवाह निरन्तर जारी है। जो अवस्था प्रतिषिद्ध होती है, वह सर्वथा नष्ट नहीं होती, अपने प्रतिषेधक में अपने संस्कार छोड़ जाती है। इस प्रकार प्रत्येक परवर्ती में प्रत्येक पूर्ववर्त्ती विद्यमान है। धर्म परिवर्तन की इस प्रक्रिया को द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया कहते हैं।

परिशिष्ट : २ :

(जैनागम सूक्त)

(१) आयतुले पयासु । (सूत्र० १।१०।३)

प्राणियों के प्रति आत्म-तुल्य भाव रखो ।

(२) सव्वं जगं तु समयाणुपेही । (सूत्र० १।१०।७)

सारे जगत् को समभाव से देख ।

(३) पियमप्पियं कस्स वि णो करेज्जा (सूत्र० १।१०।७)

किसी का भी प्रिय या अप्रिय मत कर—राग-द्वेष से दूर रह ।

(४) णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं । (सूत्र० १।१०।२२)

पूर्ण समाधि ही निर्वाण है ।

(५) सयं कडं णन्नकडं च दुक्खं । (सूत्र० १।१२।११)

दुःख स्वयंकृत होता है, अन्यकृत नहीं ।

(६) आहंसु विज्जा चरणं पमोक्खं । (सूत्र० १।१२।११)

ज्ञान और आचरण ही मोक्ष का मार्ग है ।

(७) का अरई के आणंदे—इत्थंपि अग्गहे चरे । (आचा० १।३।३)

ज्ञानी के लिए अरति और आनन्द क्या है ? वह हर्ष-शोक में अनासक्त रहकर संयम में सदा विचरण करे ।

(८) सव्वं हासं परिच्चज्ज, आलीनगुत्तो परिव्वए । (आचा० १।३।३)

साधक सभी प्रकार का हास्य-कुतूहल छोड़कर मन, वचन और काया का गोपन कर संयम का पालन करे ।

(९) पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि (आचा० १।३।३)

हे पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है । बाहर मित्र की खोज क्यों कर रहा है ।

(१०) पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि ।

(आचा० १।३।३)

हे पुरुष ! अपनी आत्मा का ही निग्रह कर । ऐसा करने से तू समस्त दुःखों से छूट जाएगा ।

(११) पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि । (आचा० १।३।३)

हे पुरुष ! सत्य को ही अच्छी तरह से जानो ।

(१२) सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ। (आचा० १।३।३)

जो सत्य की आज्ञा में—आचरण में उद्यमशील है, वह मेधावी मार—मृत्यु को जीत लेता है।

(१३) सहियो धम्ममायाय, सेयं समणुपस्सई। (आचा० १।३।३)

सत्य से युक्त पुरुष धर्म को ग्रहण कर श्रेय—कल्याण को अच्छी तरह देखता है।

(१४) पासियं दविए लोयालोयपवंचाओ मुच्चइ। (आचा० १।३।३)

देख ! लोक के प्रपंचों से साधक मुक्त हो जाते हैं।

(१५) सच्चं भयवं (प्रश्न व्याकरण)

सत्य ही भगवान् है।

(१६) आयओ वहिया पास। (आचा० १।३।३)

दूसरे प्राणियों को आत्मतुल्य समझो।

(१७) कामा दुरतिक्कमा। (आचा० १।२।५)

कामनाएं दुरतिक्रम हैं—उनका पार पाना दुष्कर है।

(१८) जीवियं दुप्पडिवूहगं। (आचा० १।२।५)

यह जीवन बढाया नहीं जा सकता।

(१९) कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ झूरइ तिप्पइ पिट्टइ परितप्पइ।

(आचा० १।२।५)

यह कामकामी—कामभोग की कामना करने वाला पुरुष निश्चय ही शोक करता है, विलाप करता है, मर्यादा से भ्रष्ट हो जाता है तथा दुःखी और संतप्त होता है।

(२०) गड्ढिए लोए अणुपरियट्टमाणो। (आचा० १।२।५)

वासना में गृद्ध मनुष्य इस संसार में भ्रमण करते रहते हैं।

(२१) संधिं विदित्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए।

(आचा० १।२।५)

इस मनुष्य-भव में संधि जानकर—उद्धार का अवसर जानकर जो कर्मों से बद्ध आत्म-प्रदेशों को मुक्त करता है, वही वीर और प्रशंसा का पात्र है।

(२२) जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो (आचा० १।२।५)

यह शरीर जैसा अन्दर से जैसे असार है, वैसा ही बाहर से असार है और जैसा बाहर से असार है वैसा ही अन्दर से असार है।

(२३) मा य हु लालं पच्चासी। (आचा० १।२।५)

त्यागे हुए भोग-पदार्थों का प्रत्याशी फिर से उनकी कामना करने वाला न हो।

(२४) अलं बालस्स संगेणं। (आचा० १।२।५)

मूर्ख की संगत से क्या लाभ ?

(२५) मा अप्पेण लुंपहा बहुं (सूत्र० १।३।४।७)

अल्प विषय-सुख से महान् पदार्थ-सुख का विध्वंस मत कर।

(२६) पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा। (सूत्र० १।१०।१७)

आत्मा को पाप से निवृत्त कर।

(२७) णो जीवियं णो मरणाभिकंखी। (सूत्र० १।१०।२४)

जीवन और मरण की कामना मत कर

(२८) न पूयणं चेव सिलोयकामी (सूत्र० १।१०।७)

पूजा और स्तुति की कामना मत कर।

(२९) नाति कंडूइयं सेयं अरुयस्सावरज्झति (सूत्र० १।३।३।१३)

व्रण—घाव को अति खुजलाना अच्छा नहीं, इससे विकार बढ़ता है।

(३०) एगत्तमेयं अभिपत्थएज्जा···एसप्पमोक्खो अमुसे वरेपि (सूत्र० १।१०।१२)

एकत्व की भावना कर···यही मोक्ष है तथा यही सत्य समाधि है।

(३१) सुई धम्मस्स दुल्लहा। (उत्त० ३।८)

धर्म को सुनने का संयोग दुर्लभ है।

(३२) वेराणुगिद्धे णिचयं करेइ। (सूत्र० १।१०।९)

जो वैर में गृद्ध होता है, वह गाढ़ कर्मों का संचय करता है।

(३३) अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ (उत्त० ९।३५)

अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करो। बाह्य शत्रुओं से युद्ध करने से क्या लाभ ?

(३४) अप्पा दंतो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य (उत्त० १।५)

अपनी आत्मा का दमन करनेवाला इस लोक और परलोक में सुखी होता है।

(३५) जहा लाहो तहा लोहो लाहो लोहो पवड्ढइ। (उत्त० ८।१७)

जैसे लाभ होता है, वैसे ही लोभ—तृष्णा बढ़ती जाती है। लाभ लोभ को बढ़ाता है।

(३६) कामे कमाही कमियं खु दुक्खं। (दश० २।५)

कामनाओं को दूर कर, निश्चय ही दुःख दूर होगा।

(३७) जावंताविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा (उत्त० ६।१)

जो भी विद्याहीन—तत्वों को नहीं जाननेवाले पुरुष हैं, वे सब दुखों के पात्र हैं।

(३८) न चित्ता तायए भासा। (उत्त० ६।११)

विविध भाषाओं का ज्ञान दुर्गति से नहीं बचा सकता।

(३९) अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए (उत्त० ६।२)

आत्मा से सत्य की गवेषणा करो और समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव रखो।

(४०) अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए (उत्त० ६।७)

अपनी ही तरह सर्व प्राणियों को सर्वतः अपनी अपनी आत्मा प्रिय है।

(४१) पुव्वकम्मक्खय ट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे। (उत्त० ६।१३)

इस देह का पालन-पोषण आत्म-शुद्धि के लिए— पूर्व कर्मों के क्षय के लिए करो।

(४२) पमायं कम्म माहंसु, अप्पमायं तहा वरं (सूत्र० १।८।३)

ज्ञानियों ने प्रमाद को कर्म (बन्धन) और अप्रमाद को अकर्म (अबन्धन) कहा है।

(४३) सजमेणं भंते! जीवे किं जणयइ? संजमेणं अणहयत्तं जणयइ (उत्त०२९।२६)

संयम से हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? संयम से अनास्रव अवस्था को उत्पन्न करता है।

(४४) सोही उज्जुअभूअस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ (उत्त० ३।१२)

ऋजु—सरल आत्मा की ही शुद्धि होती है। धर्म शुद्ध आत्मा में ही ठहरता है।

(४५) निद्दं च न बहु मनेज्जा (दश० ८।४२)

निद्रा का बहुमान मत करो।

(४६) संबुज्झह, किं न बुज्झह, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा। (सूत्र० १।२।१।१)

समझो! तुम समझते क्यों नहीं? मनुष्य-भव बीत जाने पर संबोधि प्राप्त होना निश्चय ही दुर्लभ है।

(४७) अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परयाइयइ, अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदइ (सूत्र २।१)

दूसरे के दुःख को दूसरा नहीं बंटा सकता। दूसरे के कर्म का फल दूसरा नहीं भोग सकता।

(४८) पत्तेयं जायइ पत्तेयं मरइ पत्तेयं चयइ पत्तेयं उववज्जइ पत्तेयं झंझा पत्तेयं सन्ना पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेयणा (सूत्र० २।१)

व्यक्ति अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, च्यवन और उत्पत्ति भी अकेले की होती है। कलह, संज्ञा, प्रज्ञा, विज्ञान और वेदना—ये सभी प्रत्येक व्यक्ति के अलग-अलग होते हैं।

(४९) इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा (सूत्र० २।१।१३)

वस्तुतः काम-भोग मनुष्य की रक्षा करने में या शरण देने में समर्थ नहीं हैं।

(५०) इह खलु नाइसंजोगा, णो ताणाए वा णो शरणाए वा (सूत्र० २।१।१३)

इह लोक में ज्ञाति-संयोग दुःख से रक्षा करने में और मनुष्य को शान्ति देने में समर्थ नहीं है।

(५१) कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं (आचा० १।४।३।५)

आत्मा को कसो—दमन करो, आत्मा को जीर्ण करो।

(५२) न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा (सूत्र० १।१०।१५)

मूर्ख मनुष्य कर्म-सावद्यानुष्ठान से कर्मों का क्षय नहीं कर सकते। धीर पुरुष अकर्म द्वारा कर्मों का क्षय करते हैं।

(५३) उवलेवो होइ भोगेसु··· भोगी भमइ संसारे (उत्त० २५।४१)

भोग से ही कर्मों का लेप—बन्धन होता है। भोगी को जन्म-मरण रूपी संसार में भ्रमण करना पड़ता है।

(५४) जो जाणे न मरस्सामि, सोहु कंखे सुए सिया (उत्त० १४।२७)

जो यह निश्चय जान लेता है कि "मैं नहीं मरूँगा"—वही आगामी काल का भरोसा कर सकता है।

(५५) से सुयं च मे अज्झत्थं च मे, बन्धप्पमोक्खो तुज्झज्झत्थेव

(आचा० २।२।१५०)

मैंने सुना है और मुझे अनुभव भी है कि बन्धन से मुक्त होना तुम्हारे ही हाथ है।

(५६) एवं खुणाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचणं (सूत्र० १।१।४।१०)

किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करना—यही ज्ञान का सार है।

(५७) तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं (सूत्र० ६।२३)

ब्रह्मचर्य उत्तम तप है।

(५८) न विरुज्झेज्ज केणई (सूत्र० १।१३।१५)

किसी के प्रति वैर नहीं रखना चाहिए।

(५९) मेत्तिं भूएसु कप्पए (उत्त० ६।२)

सब जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखना चाहिए।

(६०) सव्वेसिं जीवियं पियं (आचा० १।२।३।७)

सबको जीवन प्रिय है।

(६१) जतुकुंभे जहा उवज्जोइ, संवासे विदु विसीएज्जा (सूत्र० १।४।१।२६)

जैसे अग्नि के निकट लाख का घड़ा गल जाता है, उसी तरह विद्वान् पुरुष भी स्त्री के संवास से विषाद को प्राप्त होता है।

(६२) इत्थिओ जे न सेवंति, आइमोक्खा हु ते जणा (सूत्र० १।१५।९)

जो पुरुष स्त्रियों का सेवन नहीं करते—ब्रह्मचारी रहते हैं, वे शीघ्र मुक्त हो जाते हैं।

(६३) वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था (उत्त० ४।५)

प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न तो इस लोक में अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोक में।

(६४) संनिहिं च न कुव्विज्जा लेवमायाइ संजए (उत्त० ६।१६)

संयमी मुनि लेशमात्र भी संचय न करे।

(६५) समलेट्ठुकंचणे भिक्खू (उत्त० ३५।१३)

लोष्ठ और कांचन को—पत्थर और स्वर्ण को एक सामान देखने वाला भिक्षु है।

परिशिष्ट : ३ :

[जैनागम-परिमाण]

अंग पहला—आचारांग

श्रुतस्कन्ध	अध्ययन	श्लोक-संख्या
२	२५	२५००

पहले श्रुतस्कन्ध के नव अध्ययन हैं। इनके नाम और उद्देशक इस प्रकार हैं—

अध्ययन	उद्देशक
१—शास्त्रपरिज्ञा	७
२—लोकविजय	६
३—शीतोष्ण	४
४—सम्यक्त्व	४
५—लोकसार	६
६—धूत	५
७—महापरिज्ञा[1]	७
८—विमोक्ष या विमोह[2]	८
९—उपधान श्रुत	४

दूसरे श्रुतस्कन्ध में ३ चूलिकाएं हैं। पहली, दूसरी चूलिका में सात-सात और तीसरी में दो अध्ययन हैं।

१—आचारांग टीकाकार के अनुसार यह अध्ययन विच्छिन्न है "आचारांग-प्रथमश्रुतस्कन्धस्य सप्तमेऽध्ययने, तच्चेदानीं व्यवच्छिन्नम्।"
नन्दी सूत्र की मलयगिरि टीका और निर्युक्ति के अनुसार यह आठवाँ अध्ययन है। इसमें ७ उद्देश है। यह अध्ययन विच्छिन्न है आजकल उपलब्ध नहीं है।

२—मलयगिरि टीका के अनुसार यह अध्ययन सातवां है।

पहली चूलिका

अध्ययन	उद्देशक
१—पिण्डैषणा	११
२—शय्या	३
३—ईर्या	३
४—भाषाजात	२
५—वस्त्रैषणा	२
६—पात्रैषणा	२
७—अवग्रह प्रतिमा	२

दूसरी चूलिका

८—स्थान	१
९—निशीथिका	१
१०—उच्चारपासवण	१
११—शब्द	१
१२—रूप	१
१३—परक्रिया	१
१४—अन्योन्यक्रिया	१

तीसरी चूलिका

१५—भावना	१
१६—विमुक्ति	१

× × ×

अंग दूसरा—सूत्रकृतांग

श्रुतस्कन्ध	अध्ययन	श्लोक-संख्या
२	२३	२१००

पहले श्रुतस्कन्ध के १६ अध्ययन हैं। इनके नाम और उद्देशक इस प्रकार हैं—

अध्ययन	नाम	उद्देशक
१	समय	४

२	वैतालीय	३
३	उपसर्ग	४
४	स्त्रीपरिज्ञा	२
५	नरकविभक्ति	२
६	वीरस्तुति	२
७	कुशील परिभाषा	२
८	वीर्य	२
९	धर्म	२
१०	समाधि	२
११	मार्ग	२
१२	समवसरण	२
१३	यथातथ्य	२
१४	ग्रन्थ	२
१५	आदान	२
१६	गाथा	२

दूसरे श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययन हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—

अध्ययन	नाम	उद्देशक
१	पौण्डरीक	२
२	क्रियास्थान	,,
३	आहारपरिज्ञा	,,
४	प्रत्याख्यान	,,
५	अनाचार (आचार)	,,
६	आर्द्रक	,,
७	नालंदीय	,,

× × ×

अंग तीसरा—स्थानांग

श्रुतस्कन्ध	स्थान	उद्देशक	श्लोक-संख्या
१	१०	२८	३७७०

वे इस प्रकार हैं—

स्थान	उद्देशक
१	०
२	४
३	४
४	४
५	३
६	३
७	३
८	३
९	३
१०	१

× × × ×

अंग चौथा—समवायांग

श्रुतस्कन्ध	अध्ययन	उद्देशक	श्लोक-संख्या
१	१	१	१६६७

× × × ×

अंग पाँचवां—भगवती

शतक	उद्देशक	श्लोक-संख्या
४१	१९२३	१५७५२

शतक और उद्देशक का क्रम इस प्रकार है।

शतक	उद्देशक
१	१०
२	१०
३	१०
४	१०
५	१०
६	१०

७	१०
८	१०
९	३४
१०	३४
११	१२
१२	१०
१३	१०
१४	१०
१५	०
१६	१४
१७	१७
१८	१०
१९	१०
२०	१०
२१	८०
२२	६०
२३	५०
२४	२४
२५	१२
२६	११
२७	११
२८	११
२९	११
३०	११
३१	२८
३२	२८
३३	१२४
३४	१२४

३५	१३२
३६	१३२
३७	१३२
३८	१३२
३९	१३२
४०	२३१
४१	१९६

× × × ×

अंग छट्ठा · ज्ञातृधर्म कथा

श्रुतस्कन्ध	वर्ग	श्लोक-संख्या
२	१०	५५००

पहले श्रुतस्कन्ध में १९ अध्ययन हैं इनके नाम इस प्रकार हैं—

अध्ययन	नाम
१	मेघकुमार की कथा
२	धन्ना सार्थवाह और विजय चोर
३	अण्डे का दृष्टान्त
४	कछुए का दृष्टान्त
५	शैलक राजर्षि का दृष्टान्त
६	तूंबे का दृष्टान्त
७	रोहिणी की कथा
८	भगवान् मल्लिनाथ की कथा
९	जिनपाल और जिनरक्षित का दृष्टान्त
१०	चन्द्रमा का दृष्टान्त
११	दावद्रव का दृष्टान्त
१२	उदकज्ञात का दृष्टान्त
१३	दर्दुर का दृष्टान्त
१४	तेतलीपुत्र का दृष्टान्त
१५	नन्दीफल का दृष्टान्त

१६	अपर कंका के राजा और द्रौपदी की कथा
१७	आकीर्ण जाति के घोड़े का दृष्टान्त
१८	सुषुमा कुमारी का दृष्टान्त
१९	पुण्डरीक का दृष्टान्त

दूसरे श्रुतस्कन्ध के दस वर्ग और दो सौ छह अध्ययन हैं :—

वर्ग	अध्ययन
१	५
२	५
३	५४
४	५४
५	३२
६	३२
७	४
८	४
९	८
१०	८

× × ×

अंग सातवाँ—उपासक दशा

अध्ययन	श्लोक-संख्या
१०	८१२

अध्ययन	नाम
१	आनन्द
२	कामदेव
३	चुलनिपिता
४	सुरादेव
५	चुल्लशतक
६	कुण्डकोलिक
७	शकडालपुत्र

८	महाशतक
९	नंदिनीपिता
१०	शालिहीपिता

× × ×

अंग आठवाँ—अंतकृत्‌दशा

श्रुतस्कन्ध	वर्ग	अध्ययन	श्लोक-संख्या
१	८	९०	९००

वर्ग	अध्ययन
१	१०
२	८
३	१३
४	१०
५	१०
६	१६
७	१३
८	१०

× × ×

अंग नौवाँ—अनुत्तरोपपातिकदशा

वर्ग	अध्ययन	श्लोक-संख्या
३	३३	२९२

वर्ग	अध्ययन
१	१०
२	१३
३	१०

× × ×

अंग दशवाँ—प्रश्नव्याकरण

श्रुतस्कन्ध	अध्ययन	श्लोक-संख्या
२	१०	१२५०

पहले श्रुतस्कन्ध के पांच आस्रवद्वार हैं।

दूसरे श्रुतस्कन्ध के पांच संवरद्वार हैं।

× × ×

अंग ग्यारहवाँ—विपाक

श्रुतस्कन्ध	अध्ययन	श्लोक
२	२०	१२१६

पहला श्रुतस्कन्ध दुःख विपाक है। इसमें १० अध्ययन हैं। वे इस प्रकार हैं—

अध्ययन	नाम
१	मृगापुत्र
२	उज्झितकुमार
३	अभग्नसेन चोर सेनापति
४	शकटकुमार
५	बृहस्पतिकुमार
६	नन्दीवर्द्धन
७	उम्बरदत्तकुमार
८	शौर्य्यदत्तकुमार
९	देवदत्तारानी
१०	अंजुकुमारी

दूसरा श्रुतस्कन्ध सुख विपाक है इसमें १० अध्ययन हैं। वे इस प्रकार हैं—

१	सुबाहुकुमार
२	भद्रनन्दीकुमार
३	सुजातकुमार
४	सुवासवकुमार
५	जिनदासकुमार
६	वैश्रमणकुमार
७	महाबलकुमार
८	भद्रनन्दीकुमार
९	महच्चन्द्रकुमार
१०	वरदत्तकुमार

× × ×

उपाङ्ग

उपांग पहला—औपपातिक

अधिकार	श्लोक संख्या
३	१२००

अधिकार	नाम
१	समवसरण
२	औपपातिक
३	सिद्ध

× × ×

उपांग—दूसरा राजप्रश्नीय

(सूर्याभदेव के तीनों भव का वर्णन) श्लोक-२०७८

× × ×

उपांग तीसरा—जीवाभिगम

प्रतिपत्ति	श्लोक संख्या
९	४७००

प्रतिपत्ति	विषय
१	दो प्रकार के जीवों का वर्णन
२	तीनों प्रकार के जीवों का वर्णन
३	चार प्रकार के जीवों का वर्णन
४	एकेन्द्रिय आदि पाँच प्रकार के जीवों का वर्णन
५	पृथ्वी आदि छह प्रकार के जीवों का वर्णन।
६	सात प्रकार के जीवों का वर्णन
७	आठ प्रकार के जीवों का वर्णन
८	नव प्रकार के जीवों का संक्षिप्त वर्णन
९	दस प्रकार के जीवों का वर्णन

× × ×

उपांग चौथा—प्रज्ञापना

पद	श्लोक संख्या
३६	७७८७

पद	नाम
१	प्रज्ञापना पद
२	स्थान पद
३	अल्पबहुत्व पद
४	स्थिति पद
५	विशेष (पर्याय) पद
६	व्युत्क्रान्ति पद
७	उच्छ्‌वास पद
८	संज्ञा पद
९	योनि पद
१०	चरमाचरम (चरम) पद
११	भाषा पद
१२	शरीर पद
१३	परिणाम पद
१४	कषाय पद
१५	इन्द्रिय पद
१६	प्रयोग पद
१७	लेश्या पद
१८	कायस्थिति पद
१९	सम्यकत्व पद
२०	अंतक्रिया पद
२१	अवगाहना (संस्थान) पद
२२	क्रिया पद
२३	कर्मप्रकृति पद
२४	कर्मबन्ध पद

२५	कर्मवेद पद
२६	वेदबन्ध पद
२७	वेदवेद पद
२८	आहार पद
२९	उपयोग पद
३०	पश्यता पद
३१	संज्ञा पद
३२	संयत पद
३३	अवधि पद
३४	प्रविचार पद
३५	वेदना पद
३६	समुद्घात पद

× × ×

उपांग पाँचवां—जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

वक्षस्कार	श्लोक-संख्या
७	४१४६

वक्षस्कार	नाम
१	भरत क्षेत्र का वर्णन
२	काल चक्र का वर्णन
३	भरत चक्रवर्ती का वर्णन
४	वर्षधर पर्वत तथा रम्यक क्षेत्र से ऐरवत क्षेत्र तक का वर्णन।
५	तीर्थंकरों के जन्माभिषेक का वर्णन।
६	खण्डाजयिन
७	ज्योतिषी चक्र

× × ×

उपांग छठा—सूर्यप्रज्ञप्ति

प्राभृत	श्लोक-संख्या
२०	२२००

प्राभृत	नाम
१	मण्डल गति की संख्या
२	सूर्य का तिरछा परिभ्रमण
३	क्षेत्र-परिमाण
४	ताप क्षेत्र संस्थान
५	लेश्या प्रतिघात
६	प्रकाश कथन
७	प्रकाश संक्षेप
८	उदय परिमाण
९	पुरुष छाया परिमाण
१०	प्रतिप्राभृत—चन्द्रमा के साथ-नक्षत्रों का सम्बन्ध आदि।
११	संवत्सर के आदि और अन्त।
१२	संवत्सर का परिमाण
१३	चन्द्र की वृद्धि और अपवृद्धि
१४	उद्योत और अन्धकार का अल्प बहुत्व (शुक्ल और कृष्णपक्ष)
१५	ज्योतिषियों की गति आदि
१६	उद्योत के लक्षण
१७	चन्द्र और सूर्य का च्यवन और उपपात
१८	ज्योतिषियों की ऊंचाई
१९	चन्द्र और सूर्य की संख्या
२०	चन्द्र और सूर्य का अनुभव आदि

× × ×

उपांग सातवाँ—चन्द्रप्रज्ञप्ति

प्राभृत	श्लोक-संख्या
२०	२२००

(सूर्य प्रज्ञप्तिवत्)

× × ×

उपांग आठवाँ—कल्पिका

अध्ययन—१०

१—कालकुमार

२—सुकालकुमार

३—महाकालकुमार

४—कृष्णकुमार

५—सुकृष्णकुमार

६—महाकृष्णकुमार

७—वीरकृष्णकुमार

८—रामकृष्णकुमार

९—पितृसेन कृष्णकुमार

१०—महासेन कृष्णकुमार

× × ×

उपांग नौवाँ—कल्पावतंसिका

अध्ययन—१०

१—पद्मकुमार

२—महापद्मकुमार

३—भद्रकुमार

४—समुद्रकुमार

५—पद्मभद्रकुमार

६—पद्मसेनकुमार

७—पद्मगुप्तकुमार

८—नलिनीकुमार

९—आनन्दकुमार

१०—नन्दकुमार

× × ×

उपांग दशवां—पुष्पिका

अध्ययन—१०

१—चन्द्र

२—सूर्य

३—शुक्र

४—बहुपुत्रिका देवी

५—पूर्णभद्र

६—मणिभद्र

७—दत्त

८—शिव

९—बल

१०—अनादृत।

× × ×

उपांग ग्यारहवाँ—पुष्पचूलिका

अध्ययन—१०

१—श्री देवी

२—ह्री देवी

३—धृति देवी

४—कीर्ति देवी

५—बुद्धि देवी

६—लक्ष्मी देवी

७—इला देवी

८—सुरा देवी

९—रस देवी

१०—गंध देवी

× × ×

उपांग बारहवाँ—बह्नि दशा

अध्ययन—१२

१—निषधकुमार

२—अनियकुमार

३—दहकुमार

४—बेहलकुमार

५—प्रगतिकुमार

६—युक्तिकुमार

७—दशरथकुमार

८—दढ़रथकुमार

९—महाधनुषकुमार

१०—सप्तधनुषकुमार

११—दशधनुषकुमार

१२—शतधनुष्कुमार

नोट :—(८-१२) इन पाँच सूत्रों का संयुक्त नाम 'निरयावलिका' है। इन पाँचों के ५२, अध्ययन और ११०९ श्लोक हैं।

× × ×

छेद सूत्र

पहला—निशीथ

उद्देशक	श्लोक-संख्या
२०	८१५

× × ×

दूसरा—महानिशीथ

अध्ययन	चूलिका	श्लोक-संख्या
७	२	४५००

× × ×

तीसरा—बृहत्कल्प

उद्देशक	श्लोक-संख्या
६	४७३

× × ×

चौथा—व्यवहार

उद्देशक	श्लोक-संख्या
१०	६००

× × ×

पाँचवां—पञ्चकल्प

अध्ययन	श्लोक-संख्या
१६	१९३३

× × ×

छठा—दशाश्रुतस्कन्ध

अध्ययन	श्लोक-संख्या
१०	१८३५

× × ×

सातवाँ—जीतकल्प

श्लोक-संख्या

१०८

× × ×

चार मूल सूत्र

मूल पहला दसवैकालिक

अध्ययन-१०	श्लोक-संख्या
	५२०

अध्ययन	नाम
१	द्रुमपुष्पिका
२	श्रामण्यपूर्वक
३	क्षुल्लिकाआचारकथा
४	षड्जीवनिका
५	पिण्डैषणा
६	महाचारकथा
७	वाक्यशुद्धि
८	आचार प्रणिधि

९	विनय-समाधि
१०	स भिक्षु
प्रथमचूलिका	रइवक्का
द्वितीयचूलिका	विवित्त चरिया

× × ×

मूल दूसरा—उत्तराध्ययन

अध्ययन	श्लोक-संख्या
३६	२०००

अध्ययन	नाम
१	विनयश्रुत
२	परिषहप्रविभक्ति
३	चातुरंगिक
४	असंस्कृत
५	अकाममरणीय
६	क्षुल्लकनिर्ग्रन्थीय
७	औरभ्रीय
८	कापिलीय
९	नमिप्रव्रज्या
१०	द्रुम-पत्रक
११	बहुश्रुतपूज्य
१२	हरिकेशी
१३	चित्तसम्भूतीय
१४	ईषुकारीय
१५	स भिक्षु
१६	ब्रह्मचर्यसमाधिस्थान
१७	पापश्रमणीय
१८	संयतीय
१९	मृगापुत्रीय

अध्ययन	नाम
२०	महानिर्ग्रन्थीय
२१	समुद्रपालीय
२२	रथनेमीय
२३	केशिगोतमीय
२४	प्रवचनमाता
२५	यज्ञीय
२६	सामाचारी
२७	खलुङ्कीय
२८	मोक्षमार्गगति
२९	सम्यक्त्वपराक्रम
३०	तपोमार्ग
३१	चरणविधि
३२	प्रमादस्थान
३३	कर्मप्रकृति
३४	लेश्याध्ययन
३५	अणगारमार्गगति
३६	जीवाजीवविभक्ति

× × ×

मूल तीसरा—नंदी

श्लोक-संख्या
७००

× × ×

मूल चौथा—अनुयोगद्वार

श्लोक-संख्या
१६००

× × ×

आवश्यक

अध्ययन	श्लोक संख्या
६	१२५

क्रमशः	नाम
१	सामायिक
२	चतुर्विंशतिस्तव
३	वन्दन
४	प्रतिक्रमण
५	कायोत्सर्ग
६	प्रत्याख्यान

× × ×

ओघनिर्युक्ति

	श्लोक-संख्या
	११७०

× × ×

पिण्ड-निर्युक्ति

	श्लोक-संख्या
	७००

× × ×

दश—प्रकीर्णक

	अध्ययन	श्लोक-संख्या
१ चतुःशरण	१०	६३
२ आतुरप्रत्याख्यान	१०	८४
३ भक्तपरिज्ञाप्रत्याख्यान	१०	१७२
४ संस्तारक	१०	१२२
५ तन्दुलवैचारिक	१०	४००
६ चन्द्रवेध्यक	१०	३१०
७ देवेन्द्रस्तव	१०	२००
८ गणिविद्या	१०	१००
९ महाप्रत्याख्यान[1]	१०	१३४
१० समाधिमरण	१०	७२०

× × ×

१—कई लिखित प्रतियों में महाप्रत्याख्यान पइन्ना के स्थान में ४३ गाथाओं वाला "वीरस्तवपइन्ना" लिखा है ।

परिशिष्ट : ४ :

[जैन दार्शनिक और उनकी कृतियां]

नाम	समय (विक्रम शती)	कृतियां
१—सिद्धसेन दिवाकर	चौथी-पाँचवीं	सन्मतितर्क (प्रा०), न्यायावतार, द्वात्रिंशत्, द्वात्रिंशिका (इनमें से २१ उपलब्ध हैं)
२—देवनन्दि (पूज्यपाद)	पाँचवीं	सर्वार्थसिद्धि (तत्त्वार्थ टीका)
३—मल्लवादी	छठी	नयचक्र सन्मतितर्क टीका (अनुपलब्ध)
४—पात्रकेसरी	छठी-सातवीं	त्रिलक्षणकदर्थन, लघीयस्त्रय, प्रमाण-संग्रह
५—सिंहगणी (सिंहसूर)	सातवीं	नयचक्र की टीका
६—समन्तभद्र	सातवीं	आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन
७—अकलंक	सातवीं	अष्टशती, सिद्धिविनिश्चय
८—हरिभद्र	आठवीं	अनेकान्तजयपताका (सटीक), अनेकान्तवादप्रवेश, न्यायप्रवेश (दिङ्नाग) टीका, षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय (व्याख्यायुक्त)
९—विद्यानन्द	नौवीं	अष्टसहस्री, प्रमाणपरीक्षा
१०—शाकटायन	नौवीं-दशवीं	स्त्रीमुक्ति, केवली भुक्ति
११—अनन्तवीर्य	दशवीं	सिद्धिविनिश्चयविवरण
१२—माणिक्यनन्दी	दशवीं	परीक्षामुखमंडन
१३—सिद्धर्षि	दशवीं	न्यायावतार पर संक्षिप्त टीका
१४—जिनेश्वरसूरि	ग्यारहवीं	प्रमालक्ष्म टीका, पंचलिंगीप्रकरण
१५—अभयदेव	ग्यारहवीं	सन्मति टीका
१६—वादिराज	ग्यारहवीं	अकलंक कृत न्यायविनिश्चय पर विवरण
१७—जिनेश्वर	ग्यारहवीं	प्रमालक्ष्मवार्तिक
१८—प्रभाचन्द्र	ग्यारहवीं-बारहवीं	प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र
१९—चन्द्रप्रभ	बारहवीं	प्रमेयरत्नकोष
२०—अनन्तवीर्य	बारहवीं	प्रमेयरत्नमाला
२१—हेमचन्द्र	बारहवीं	प्रमाणमीमांसा, अयोग-व्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका, अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वात्रिंशिका

२२—शान्त्याचार्य	बारहवीं	न्यायावतार टीका
२३—रत्नप्रभसूरि	बारहवीं	रत्नाकरावतारिका
२४—रायचन्द्र और गुणचन्द्र	बारहवीं	द्रव्यालंकार
२५ – वादिदेवसूरि	बारहवीं-तेरहवीं	स्याद्वादरत्नाकर
२६—चन्द्रसेन	तेरहवीं	उत्पादादिसिद्धि
२७—मलयगिरि	तेरहवीं	धर्मसंग्रहणी टीका
२८—रायचन्द्रसूरि	तेरहवीं	व्यतिरेकद्वात्रिंशिका
२९—प्रद्युम्नसूरि	तेरहवीं	वादस्थल
३०—सोमतिलक	चौदहवीं	षड्दर्शनसमुच्चय पर टीका
३१—गुणरत्न	पन्द्रहवीं	षड्दर्शन पर तर्करहस्यदीपिका नामक टीका
३२—मेरुतुंग	पन्द्रहवीं	षड्दर्शननिर्णय
३३—राजशेखर	पन्द्रहवीं	षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वादकलिका, रत्नाकरावतारिका पंजिका
३४—धर्मभूषण	पन्द्रहवीं	न्यायदीपिका
३५—साधुविजय	सोलहवीं	वादविजयप्रकरण, हेतुखण्डन
३६—यशस्वतसागर	अठारहवीं	स्याद्वादमुक्तावली
३७—यशोविजय	अठारहवीं	अष्टसहस्रीविवरण, अनेकान्तव्यवस्था, ज्ञानबिंदु, जैनतर्कभाषा, देवधर्मपरीक्षा, नयप्रदीप, नयोपदेश, नयरहस्य, न्यायखण्डखाद्य, वीरस्तव, न्यायालोक, भाषारहस्य, शास्त्रवार्तासमुच्चय-टीका, स्याद्वादकल्पलता, उत्पादव्यय-ध्रौव्यसिद्धि टीका, ज्ञानार्णव, अनेकान्तप्रवेश, आत्मख्याति, तत्त्वालोक विवरण, त्रिसूत्र्यालोक, द्रव्यालोक-विवरण, न्यायबिन्दु, प्रमाणरहस्य, मंगलवादमाला, वादमहार्णव, विधिवाद, वेदान्तनिर्णय, सिद्धान्ततर्क-परिष्कार, सिद्धान्तमंजरी टीका, स्याद्वादमंजूषा, स्याद्वादमंजरी टीका, द्रव्यपर्याययुक्ति ।

परिशिष्ट : ५ :

[पारिभाषिक शब्दकोष]

प्रस्तुत ग्रन्थ के टिप्पण में आए हुए ग्रन्थों के नाम व संकेत

अथर्ववेद कारिका—अथर्व० का०

अध्यात्मोपनिषद्—अध्या० उप०

अनुयोगद्वार—अनु०

अनेकान्त व्यवस्था—अने०

अन्तकृत—अन्त०

अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका—अन्य० व्यव०

अभिधर्म कोष—अभि०

अभिधान चिन्तामणि कोष—अभि० चि०

अष्ट सहस्री—अ० स०

आगम अष्टोत्तरी—आ० अ०

आचारांग—आचा०

आचारांगवृत्ति—आचा० वृ०

आचार्य श्री तुलसी का जीवनचरित्र—आचा० त०

आवश्यक कथा—आव० कथा०

आवश्यक चूर्णि—आव० चू०

आवश्यक निर्युक्ति—आव० नि०

आश्यकवृत्ति—आव० वृ०

आवश्यक सूत्र—आव०

इन्द्रियवादी री चौपई—इ० चौ०

Indian philosophy.

Indian Thought and its developments.

उत्पदादि सिद्धि—उत्पा०

उत्तराध्ययन—उत्त०

उत्तराध्ययन वृत्ति—उत्त० वृ०

ऋग्वेद—ऋग्०

एक विंशति द्वात्रिंशिका—एक० द्वा०

Our oriental Heritage.

औपपात्तिक—औप०

औपपात्तिक धर्म देशना—औप० धर्म०

कठोपनिषद्—कठ० उप०

कर्नाटक कवि चरित्र—क० क० च०

कर्म ग्रन्थ—कर्म०

कल्प सुबोधिका—कल्प० सु०

कल्प सूत्र—कल्प०

कालु यशोविलास—कालु० यशो०

चरक विमानस्थान—च० वि०

चरक सूत्र स्थान—च० सू०

छान्दोग्य उपनिषद्—छान्दो० उप०

जम्बूदीप प्रज्ञप्ति वृत्ति—जम्बू० वृ०

जिनाज्ञा उपकरण—जिन० उप०

जीवाभिगम—जीवा०

जैनतर्क भाषा—जैन० तर्क०

जैन दर्शन का इतिहास—जैन० द० इ०

जैनभारती—जैन० भा०

Jain Sahitya Sansodhak

जैन सिद्धान्त दीपिका—जैन० दी०

तर्क भाषा—तर्क० भा०

तर्क संग्रह—तर्क० सं०

तर्कशास्त्र—तर्क० शा०

तत्त्वार्थ भाष्य—त० भा०

तत्वार्थ राजवार्तिक—तत्त्वा० रा०

तत्वार्थ वृत्ति—त० वृ०

तत्वार्थ बृहद् वृत्ति—त० बृ० वृ०

तत्वार्थ सार—त० सा०

तत्वार्थ सूत्र—त० सू०

तत्वार्थ सूत्र भाषानुसारिणी टीका—त० भा० टी०

तत्वानुशासन—तत्वा०

तत्वार्थ श्लोक वार्तिक—तत्वा० श्लो०

तन्दुवैयालीय—तन्दुवै०

तृतीय द्वात्रिंशिका—तृ० द्वा०

तैत्तरीयोपनिषद्—तैत्त० उप०

द्रव्यानुयोग तर्कणा—द्रव्यानु० त०

दशवैकालिक—दशवै०

दशवैकालिक चूर्णि—दशवै० चू०

दशवैकालिक निर्युक्ति—दशवै० नि०

दर्शन दिग्दर्शन—द० दि०

दर्शन शास्त्र का इतिहास—दर्शन० इ०

दशाश्रुत स्कन्ध—दशा०

दीर्घनिकाय—दी०

देवेन्द्रसूरि कृत स्वोपज्ञ वृत्ति, गा०

धम्मपद—धम्म०

धर्मरत्न प्रकरण—धर्म० प्रक०

धर्मसंग्रह टीका—धर्म० सं०

नन्दी वृत्ति—नं० वृ०

नन्दी सूत्र—न०

नयरहस्य—न० र०

नववाड़—नव०

नवभारत टाइम्स

नियमसार—निय०

निरयावलिका—निर०

निशीथ चूर्णि—नि० चू०

निशीथ सूत्र—निशी०

न्यायकुमुदचन्द्र—न्या० कु०

न्याय खण्डन खाद्य—न्या० ख०

न्याय दीपिका—न्याय० दी०

न्यायबिन्दु—न्या० बि०

न्याय भाष्य—न्या० भा०

न्याय वार्तिक—न्या० वा०

न्यायमञ्जरी—न्या० मं०

न्याय सिद्धान्त मुक्तावलिकारिका—न्या० सि० मु० का०

न्याय सूत्र—न्या० सू०

न्यायालोक—न्या०

न्यायावतार—न्याया०

न्यायावतार टीका—न्या० टी०

न्यायावतार वार्तिक वृति—न्या० वा० वृ०

न्यायोपदेश—न्यायो०

पद्मानन्द महाकाव्य—पद० महा०

परीक्षा मुख मण्डन—प० मु० मं०

परिशिष्ट पर्व—परि० प०

पाइए भाषाओं अने साहित्य—पा० भा० सा०

पाइए सद्द महण्णवो—पा० स० म०

पूर्वी और पश्चिमी दर्शन—पू० प०

प्रभाकर चरित्र—प्रभा० च०

प्रमाण नयतत्वरत्नावतारिका—प्र० न० र०

प्रमाण प्रवेश—प्र० प्र०

प्रमाण मीमांसा—प्र० मी०

प्रमाण वार्तिक—प्र० वा०

प्रमाण समुच्चय—प्र० समु०

प्रमेय कमल मार्तण्ड—प्र० क० मा०

प्रवचन सार—प्र० सा०

प्रवचन सार टीका—प्र० टी०

प्रश्न व्याकरण— प्रश्न०
प्रज्ञापना—प्रज्ञा०
प्रज्ञापना वृत्ति—प्र० वृ०
पंचास्तिकाय—पंचा०
पंचास्तिकाय टीका—पंचा० टी०
ब्रह्मसूत्र (शांकर भाष्य) ब्रह्म० शां०
भगवती जोड़—भग० जोड़
भगवती वृत्ति—भग० वृ०
भगवती सूत्र—भग०
भरत बाहुबली महाकाव्य—भर० महा०
भागवत स्कन्ध—भा० स्क०
भारतीय दर्शन—भा० द०
भारतीय प्राचीन लिपी माला—भा० प्र० लि० मा०
भारतीय मूर्तिकला—भा० मू०
भारतीय संस्कृति और अहिंसा—भा० सं० अ०
भाषा परिच्छेद—भा० प०
भाषा रहस्य— भा० र०
भिक्षु न्याय कर्णिका—भिक्षु० न्या०
मज्झिम निकाय—म० नि०
महापुराण—महा० पु०
महावीर कथा—महा० क०
माध्यमिक कारिका—मा० का०
मीमांसा श्लोक वार्तिक—मी० श्लो० वा०
मुण्डकोपनिषद्—मुण्ड० उप०
मुम्बई समाचार—मु०
मेरी जीवन गाथा—मेरी०
युक्त्यनुशासन—युक्त्य०
योग दृष्टि समुच्चय—यो० दृ० स०

योगशास्त्र—योग०

रत्नकरण्ड श्रावकाचार—रत्न० श्रा०

राजप्रश्नीय—रा० प्र०

लघ्वर्हन्नीति—लघ्व०

लघीयस्त्र्य—लघी०

लोक प्रकाश—लो० प्र०

वाक्य प्रदीप—वा० प्र०

वात्सायन भाष्य—वा० भा०

वाद द्वात्रिंशिका—(सिद्धसेन) वा० द्वा०

विश्ववाणी—वि०

विशेषशतक—वि० श०

विशेषावश्यक भाष्य—वि० भा०

विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति—वि० भा० वृ०

विष्णु पुराण—वि० पु०

वीतराग स्तव—वीत०

बृहत् कल्प निर्युक्ति—वृ०

बृहत्कल्प भाष्य—वृ० भा०

बृहदारण्योपनिषद्—बृह० उप०

वेदान्त सार—वे० सा०

व्यवहार—व्यव०

सन्मति तर्क प्रकरण—सन्म०

सन्मति प्रकरण टीका—सन्म० टी०

समवायांग—सम०

समाचारी शतक—स० श०

सर्वार्थसिद्धि—सर्वा० सि०

साहित्य सन्देश—सा० सन्देश

सुत्त निपात—सु० नि०

सूत्र कृतांग—सू०

सूत्र कृतांग वृत्ति—सू० वृ०
संयुक्त निकाय—सं० नि०
सांख्य कारिका—सां० का०
सांख्य कौमुदी—सां० कौ०
स्वयं भूस्तोत्र—स्वयं०
स्वरूप सम्बोधन—स्व० सं०
स्थानांग वृत्ति—स्था० वृ०
स्थानांग सूत्र—स्था०
स्याद्वाद मञ्जरी—स्या० मं०
शान्त सुधारस—शा० सु०
शारीरिक भाष्य—शा० भा०
शास्त्रवार्ता समुच्चय—शा० वा० स०
श्वेताश्वतरोपनिषद्—श्वेताश्व० उप०
श्रमण—श्र०
षट् दर्शन समुच्चय (लघुवृत्ति) षट् (लघु)
षट् दर्शन समुच्चय (बृहद् वृत्ति) षट् (बृहद्०)
षट् पद प्राभृत—षट्० प्रा०
हेम शब्दानुशासन—हेम०
त्रिषष्ठी शलाका पुरुष चरित्र—त्रिषष्ठी०
ज्ञाता धर्मकथा—ज्ञाता०
ज्ञान बिन्दु—ज्ञा० बि०
ज्ञान सार—ज्ञा० सा०

लेखक की अन्य कृतियां

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व (दूसरा भाग)
जैन धर्म और दर्शन
जैन परम्परा का इतिहास
जैन दर्शन में ज्ञान-मीमांसा
जैन दर्शन में प्रमाण-मीमांसा
जैन दर्शन में तत्त्व-मीमांसा
जैन दर्शन में आचार मीमांसा
जैन तत्त्व चिन्तन
जीव अजीव
प्रतिक्रमण (सटीक)
अहिंसा तत्त्व दर्शन
अहिंसा
अहिंसा की सही समझ
अहिंसा और उसके विचारक
अश्रु-वीणा (संस्कृत-हिन्दी)
आँखे खोलो
अणुव्रत-दर्शन
अणुव्रत एक प्रगति
अणुव्रत-आन्दोलन : एक अध्ययन
आचार्यश्री तुलसी के जीवन पर एक दृष्टि
अनुभव चिन्तन मनन
आज, कल, परसों
विश्व स्थिति
विजय यात्रा
विजय के आलोक में
बाल दीक्षा पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
श्रमण संस्कृति की दो धाराएं
संबोधि (संस्कृत-हिन्दी)
कुछ देखा, कुछ सुना, कुछ समझा
फूल और अंगारे (कविता)
मुकुलम् (संस्कृत-हिन्दी)
भिक्षावृत्ति
धर्मबोध (३ भाग)
उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार
नयवाद
दयादान
धर्म और लोक व्यवहार
भिक्षु विचार दर्शन
संस्कृतं भारतीय संस्कृतिश्च